संस्कृत और राष्ट्र की एकता

B/s

डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी

संस्कृत और राष्ट्र की एकता

सम्पादक
डॉ० राधावल्लभ त्रिपाठी
आचार्य एवं अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग
डॉ० हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय
सागर (म० प्र०)

अक्षयवट प्रकाशन
इलाहाबाद

डॉ० हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर द्वारा
प्रदत्त आर्थिक सहायता से प्रकाशित

- संस्कृत और राष्ट्र की एकता

- प्रथम संस्करण : १९९२
- मूल्य: सौ रुपये मात्र
- प्रकाशक :
  अक्षयवट प्रकाशन
  २६, बलरामपुर हाउस
  इलाहाबाद-२११००२
- मुद्रक :
  एकेडमी प्रेस
  ६०२, दारागंज
  इलाहाबाद-२११००६

प्रस्ताविक

"राष्ट्र के ऐकात्म्य में संस्कृत के योगदान" पर आयोजित इस अखिल भारतीय संगोष्ठी का उद्देश्य संस्कृत भाषा या उसके साहित्य की केवल प्रशस्ति करना नहीं है। संस्कृत कुछ हजार वर्षों तक इस देश की सांस्कृतिक विरासत और जीवन्त परम्पराओं की संवाहक रही है और इस देश ने सदियों तक इस भाषा में अपनी आत्मा को पहचाना और व्यक्त किया है। अपनी जीवन्त परम्पराओं का विस्मरण या परम्परा से विच्युति किसी भी राष्ट्र के लिए घातक हो सकती है। आज देश विघटन की कगार पर और संकट के जिस बिन्दु पर खड़ा है, उसे देखते हुए यदि परम्परा से जुड़ने की बात हम करते हैं, तो केवल रूढ़ि की लकीर पीटने की दृष्टि से नहीं।

इसके साथ ही, संस्कृत मात्र अतीत की वस्तु नहीं है। इस संगोष्ठी के माध्यम से, हम चाहते हैं कि, अपने देश के लिए बृहत्तर परिप्रेक्ष्य में संस्कृत की आवश्यकता को समझा जाय। उसे केवल वेद और पुराणों की, ज्योतिष और कर्म-काण्ड की, शास्त्रों और पण्डितों की भाषा न समझा जाय। पिछली दो शताब्दियों में सारे विश्व में सांस्कृतिक क्षितिज पर संस्कृत और उसके साहित्य ने एक गहरी और सक्रिय भूमिका निभाई है।

इस काल में संस्कृत से परिचय ने योरोप के बुद्धिजीवी वर्ग को झकझोरा, शापेन-हार और हमर्सन जैसे दार्शनिकों को प्रेरित किया, यीट्स और इलियट जैसे कवियों की चेतना को नवगति दी, साथ ही विश्व में भारत और भारतीयता की एक तेजस्वी छवि भी उसके माध्यम से बनी। इस तेजस्विता को समाप्त करने की दृष्टि में अंग्रेजी सरकार ने संस्कृत की पारम्परिक शिक्षा पद्धति की जड़ों पर प्रहार किया, उसका स्थान दासता की मानसिकता में जकड़े बाबूवर्ग को जन्म देने वाली मैकाले की शिक्षा पद्धति ने लिया। संस्कृत पण्डितों का जागरूक वर्ग देश की अस्मिता को छिन्न-भिन्न करने के इस कुप्रयास के आगे उस समय भी चुप नहीं बैठा रहा। १८३५ ई० में ही कलकत्ता के संस्कृत कालेज में आयोजित पण्डितों की परिषद् ने नवीन शिक्षा-पद्धति के गुण-दोषों की मीमांसा करके, देश के लिए इसके दूरगामी दुष्परिणाम को देखते हुए इसके विरोध का निर्णय लिया। विरोध के इस बीज से ही भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का अंकुरण हुआ। १८८५ ई० में कांग्रेस की स्थापना बम्बई के एक संस्कृत महाविद्यालय में आयोजित सभा के द्वारा हुई थी। संस्कृत पाठशालाएँ और उनमें कार्यरत् पण्डित आजादी की लड़ाई में मूल्यवान् योगदान देते रहे—इसके

असंख्य उदाहरण विद्यमान् हैं। बिहार में राजपुर में नमक सत्याग्रह आन्दोलन तारा-चरण संस्कृत पाठशाला के केन्द्र से चलाया गया, पण्डित बुद्धिनाथ झा इसके प्रवर्त्तक थे। पर देश के नवजागरण में संस्कृत और उससे जुड़ी परम्पराओं की जो गतिशील रचनात्मक भूमिका रही, उसे समझने के लिए उन्नीसवीं सदी के पूरे परिदृश्य को अधिक सूक्ष्म दृष्टि से समझा जाना चाहिए। यह एक आकस्मिक संयोग न था कि स्वप्नद्रष्टा कवि और योगी श्री अरविन्द ने क्रान्तिकारी जीवन के दिनों में बड़ौदा में रह कर अपने ओजस्वी और अद्भुत संस्कृत खण्ड-काव्य "भवानी भारती" की रचना की थी। देश में बड़े पैमाने पर हो रही उथल-पुथल ने संस्कृत की सर्जनात्मक क्षमता और कर्तृत्व को नये आयाम दिए थे। उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी में संस्कृत में लिखा गया विपुल साहित्य इसका प्रमाण है। १९०७ ई० में पूना से पण्डित अप्पा शास्त्री राशिवडेकर ने संस्कृत में "सूनृतवादिनी" नामक अखबार निकाला जो अपनी तेजस्विता और निर्भीकता में तिलक के "केसरी" के स्तर को छूता था। इस अखबार पर अंग्रेजी शासन की कुटिल दृष्टि पड़ी और इसे बन्द कराया गया। इन्हीं अप्पा शास्त्री ने इस काल में "पञ्जरबद्धः शुकः" जैसी भारतीय पराधीनता का मार्मिक चित्र अंकित करने वाली संस्कृत कविता लिखी थी, जिसका हिन्दी में पद्यानुवाद बाद में राष्ट्रकवि की पदवी पाने वाले श्री मैथिली शरण गुप्त ने किया और यह अनुवाद महावीर प्रसाद द्विवेदी के द्वारा सम्पादित "सरस्वती" पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। इसी काल में वैदिक पण्डित श्री दामोदर सातवलेकर ने "वैदिक राष्ट्रगीत" नाम से कुछ वैदिक मंत्रों को हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित कराया, तो अंग्रेजी शासन को यह पुस्तक भी अपने अस्तित्व के लिए चुनौती लगी और इसे प्रतिबन्धित किया गया। झाँसी के पण्डित मथुरानाथ दीक्षित ने १९३८ ई० में "भारतविजयम्" नामक संस्कृत नाटक लिखा, जिसमें गांधी के आन्दोलन के परिणामस्वरूप भारत के स्वतंत्र होने की परिकल्पना प्रस्तुत की गई थी। यह नाटक भी उस समय प्रतिबन्धित हुआ और १९४७ में स्वतंत्र भारत में पुनः प्रकाशित किया गया। १९३१ ई० से १९३९ ई० के बीच संस्कृत की संवेदनशील कवयित्री पण्डिता क्षमा राव ने "सत्याग्रहगीता" और "उत्तरसत्याग्रहगीता" जैसे महाकाव्य लिख कर सिद्ध किया कि इस नये कुरुक्षेत्र संग्राम के बीच रह कर अभिनव गीता रच सकने की क्षमता संस्कृत के कवि में है। "सत्याग्रहगीता" का मुद्रण इस देश में संभव न होने से इसे पेरिस से छपवाया गया था।

स्वतन्त्रतोत्तर भारत में संचार माध्यमों तथा विज्ञान और तकनीकी का द्रुत विकास हुआ है, वहीं उपनिवेशवादी विदेशी सरकार द्वारा ओढ़ायी गयी मानसिक दासता और भेदकारी नीतियों के कुपरिणाम अधिकाधिक भयावह रूप में सामने आ रहे हैं। संकीर्णता, साम्प्रदायिक शक्तियाँ और विघटनकारी तत्त्व सक्रिय हुए हैं।

आजादी के पहले अपने देश की धरती से जुड़े और परम्पराओं की समझ रखने वाले समर्थ नेतृत्त्व ने देश में जिस राष्ट्रीय अस्मिता को जाग्रत किया था, उसकी दीपशिखा इस तमस् में बुझती-सी दिखाई देती है। इस देश ने दिग्भ्रम के ऐसे अवसरों पर परम्परा के जीवन्त स्रोतों से अपने को जोड़ कर शक्ति पायी है। संस्कृत ने उस उत्स को बचा कर रखा है, जहाँ से ये स्रोत निःसृत होते हैं। भाषायी एकता, शिक्षा, कलाओं के अन्तरवलम्बन, सांस्कृतिक अन्तर्धाराओं, पुराण-इतिहास, पुरातत्त्व आदि की ऐसी सामग्री जो देश को आसेतुहिमाचल बाँध सकती है—ग्रहण करने की दृष्टि से, तथा देश के अतीत वर्तमान और भविष्यत् के प्रति एक जागरूक और आस्थाशील दृष्टि से खुले विचार-विमर्श के लिए मैं आपको इस संगोष्ठी में आमंत्रित करता हूँ।

डॉ० हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय
सागर (म० प्र०)

राधावल्लभ त्रिपाठी

□

अनुक्रम

☐

Linguistic Contribution of Sanskrit to Nation's Integration

Dr. Keshab Chandra Dash

Introduction

To think Sanskrit, at present, in terms of National Integration is highly profitable. To reveal Indianness we fairly resort to Sanskrit which till today serves as a hidden thread piercing through all the literatures and languages produced in India, despite their distinctive features, forms, nuances and flavours. Sanskrit is a common source and common platform, but we fail to recognise it as a way to the discovery of integrated India. The conceptual basis of nation's unity and integrity could be easily understandable if we analyse Sanskrit in different levels of our life and cultural expressions. Even today from *sandhya* prayer to cosmopolitan gatherings Sanskrit has certain privilege at different times for different purposes.

Link-Language Problem

Sanskrit served an an integrating factor until English was introduced in India. On an extensive scale it was a common medium of discourse among the intellectuals of the country. Even then India had a place on the international scene as a centre of higher learning, spiritual speculation and research. But after independence Sanskrit receded back. Language issue became a problem. The emotional and national integration suffered a lot.

Now everybody feels the necessity of a link language to forge his inter-Indian and international friendship. To maintain such connections, while some peoplc point to English, the other refer to Hindi. To compromise this dispute, a formula named *Hindustani* was devised to serve as national link language, which was supposed to be the spoken language of Delhi, Lucknow and such other cosmopolitan cities and neither too Sanskritized nor too Arabic and Persianized. Such a formula failed because it did not cope with the cultural life of India.

While taking the language issue into consideration some scholars often cited the example of Soviet Union. The Soviet Union had a tradition coming down from Czarist times of studying Russian as a language of privilege and accordingly Russian was given a place of primacy among the various languages of the country. In India, we have no such tradition as regards English as well as Hindi, except Sanskrit.

Now the issue of the national language is more disintegrating than unifying. Either English or Hindi cannot be taken to be successful in achieving uniformity in different levels of Indian life, because both of them suffer from a draw-back that they have no separate and unique identity and none of them is fair and composite in nature to make equitable arrangements for the co-existence of diverse groups in India. In such a situation, Sanskrit is the only alternative and can serve as a cementing force if developed and made current.

Indian Literature

What do we mean by 'Indian Literature' today ? Why this singular number ? Can we not say 'Indian language' applying the same analogy ? Previously what meant by Indian Literature was Sanskrit. But now the emphasis has been shifted to mean a sum total of the literatures produced in India. In this respect K. M. George (1984 : Vol. I. Preface) claims that "We never say 'The

Indian Language' using the singular form as there is no language which can make such a claim. There are fifteen languages recognised by Indian constitution and quite a few others which can claim a sizeable literature. How can fifteen or more languages produce one literature'' ? This remark deserves a special diagnosis today.

George (1984 : preface X) further claims that "our problem here is to understand how fifteen or more languages can create one literature. How can we reconcile the multiplicity of our languages and singleness of our literature ? A great poet has said that "if language is a plant, literature is its flower. Can fifteen plants produce one flower ? Fifteen plants, of course, can produce one kind of flower. There are several varieties of roses, each with different hue, fragrance, shape or size but they are all roses. Can we not view India's different literatures as belonging to the same species though with different colours and aromas ?''

Such claim is also worth considering at present. As we see, all Indian literatures owe to Sanskrit in almost all spheres of their development. Even today they continue to borrow content, diction, mode, syntactic pattern and such other components from sanskrit sources. What we call indigenous literature today is nothing but a modified expression of sanskrit in taste, style, and form. We must not forget that Sanskrit is still nourishing and fertilising the present literatures in India with the large bulk of *Tatsama* and *Tadbhava* words. It also works as an under current below and assumes a dynamic role as a formative agency to elucidate Indian patterns of living that is being reflected in modern literature today. Since a piece of literature is linguistically oriented, it must be emphasized that a literary text cannot be analysed or elucidated without a reference to Sanskrit. Since the literary research is often text-based and language courses resort to literary content the emphasis is more laid on Sanskrit in India as it gives a balanced perspective of historical linkages. Further, when we talk of language

use, linguistic analysis, language history, literary analysis, literary criticism and preparing dictionaries etc, we can not represent the true base of those without the help of Sanskrit.

Common Inheritance

In a multi-lingual country like India the language planning suffers from many draw-backs and ultimately leads to failure. In such a tumultuous situation we also forget the role played by Sanskrit for centuries from the very inception of Indian society and history. Although it connot be compared with modern Indian languages today taking its spoken aspect into consideration, its functional role is still powerful and impressive. The indologists have pointed out its two forms namely Vedic and Classical for a definite purpose of research. But now we find another form which continues to be known as *Vyavaharika Sanskritam* 'spoken sanskrit' for day to day behaviour. This is known as a movement today to bring sanskrit closer to the people of India.

When we look into past Dr. D. P. Pattanayak (1977 :44) remarks, we can fairly see that "not only through the science of phonetics and grammatical tradition of ancient India leading to the insightful description of Sanskrit by Pāṇini, but also through the aesthetics and literary tradition flowing through the purāṇic and Kāvya literature, not to speak of the philosophic efflorescence, Sanskrit remains a subject of vital and vigorous interest even today. Through the Middle Indo-Aryan development Sanskrit spills over the New Indo-Aryan Languages, and thus not only provides a living link between the present and the past but also between this country and neighbouring ones."

The major part of the vocabulary of modern Indian languages are derived from Sanskrit source. Even the Dravidian languages owe to Sanskrit as far as their vocabulary and phonological aspects are concerned. Sanskrit words get preference in all types

of technical and scientific translation in regional languages. A non-simple sentence is scarcely found in those literatures without the influence of Sanskrit. The influence of Sanskrit on Dravidian languages is such that some scholars claim that Malayalam is the product of Sanskrit-Tamil combination. Even now the Sanskrit words are borrowed without any modification for scientific translations in Kannad language. The *Mani-Pravala* (Sanskrit-Tamil) style of Tamil is yet predominant in philosophical, literary and grammatical works. The Telugu diction and phrase structure can not be analysed without the aid of Sanskrit. Modern terminologies in Telugu is just replica of Sanskrit. Punjabi is related to Vedic Sanskrit through Apabhraṁsa and Prākrit. The Urdu language shows a commonness of vocabulary between Persian and Sanskrit. *Tatsama* and *Tadbhava* forms are found in good number in Urdu. The higher standard variety of other Indo-Aryan languages is replete with borrowed words of Sanskrit.

In recent times, Sanskrit has assimilated certain amount of Indian and foreign literatures through translations. The works translated into Sanskrit seem enriched and magnificient as compared to their original form. It has also adopted new techniques and methods from different sources to enliven its expressions bringing those to the mainstream of our current thoughts. Although there is always a clash of interests of linguistic groups in India for predominance of their own tongue, Sanskrit brings each and every group closer to each other. There is always an inherent unity in the background of modern Indian literature and languages in a common frame work of Indian structure.

Conclusion

Sanskrit could be utilised as a profitable research tool for such other allied disciplines like Indian history, epigraphy, Numismatics, comparative philosophy and religion, archaeology and comparative philology. Besides, it would provide a basis for

the study of early concept of science and ancient Indian engineering. Moreover, if encouragement is given Sanskrit would stand unparalleled among the present Indian languages creating up-to-date vocabularies, uniform terminologies and scientific nomenclatures profitably suiting to the modern advancement of science and technology.

REFERENCES

1. Annamalai A (Edt.) — Language Movement in India, Central Institute of Indian Languages (CIIL) Manasagangotri, Mysore, 1979
2. George K. M. (Edt.) — Comparative Indian Literature, Vol. I, II, Kerala Sahitya Academy, 1984.
3. Handa R. L. — Missing Links in Link Languages, Sterling Publishers, New Delhi, 1983.
4. Mukherjee Sujit (Edt.) — The Idea of an Indian Literature, CIIL, Mysore, 1981.
5. Pattanayak D. P. — Language Curriculum, CIIL, Mysore, 1977.
6. Reddi G. S. — The Language Problem in India, National Publishing House, New Delhi, 1973.

□

राष्ट्रीय समवाय में संस्कृत का योगदान : ऐतिहासिक सर्वेक्षण

डॉ० कृष्णदत्त वाजपेयी

राष्ट्र की भौगोलिक तथा सांस्कृतिक एकता में संस्कृत की विशिष्ट भूमिका रही है। भारतीय सभ्यता के उद्भव और विकास का इतिहास संस्कृत में गुंफित है। आद्य ऐतिहासिक युग से लेकर आधुनिक काल तक भारत के धर्म-दर्शन, भाषा-साहित्य, कला और लोकजीवन को समझने के लिए संस्कृत का विशेष महत्त्व है। दूसरा महत्त्वपूर्ण स्रोत पुरातत्व है। ये दोनों स्रोत एक-दूसरे के पूरक हैं।

पिछले लगभग दो सौ वर्षों में संस्कृत विद्या तथा पुरातत्व के विभिन्न अंगों का जो वैज्ञानिक विवेचन हुआ है उससे भारतीय इतिहास और संस्कृत की सम्यक् जानकारी मिली है। इन दोनों साधनों से यह भी पता चला है कि इस देश के बाहर एशिया तथा यूरोप के अनेक देशों के साथ प्राचीन भारत के घनिष्ट सांस्कृतिक तथा व्यावसायिक संबंध थे।

राष्ट्रीय समवाय में संस्कृत की भूमिका का अध्ययन करते समय कई विशेष तथ्य सामने आते हैं जिनकी संक्षिप्त चर्चा इस लेख में की गयी है।

संस्कृत की सप्तपदी

/ भारतीय सभ्यता के उद्भव और विकास के साथ संस्कृत विशेष रूप से जुड़ी हुई है। सप्त सिंधु प्रदेश में जो पुरातात्विक तथा साहित्यिक सामग्री उपलब्ध हुई है उससे स्पष्ट है कि हड़प्पा सभ्यता तथा वैदिक सभ्यता का घनिष्ठ संबंध था। हड़प्पा, मोहनजोदड़ो, चन्हूदड़ो, लोथल आदि अनेक स्थलों पर उत्खनन-कार्य किये गये हैं, जिनसे वास्तुकला, मूर्तिकला तथा लेखनकला की रोचक जानकारी हुई है। इस सभ्यता को पहले 'सिंधुघाटी सभ्यता' नाम दिया गया। पिछले चार दशकों में सप्त सिंधु प्रदेश के बाहर जो सर्वेक्षण तथा उत्खनन के कार्य हुए हैं उनसे ज्ञात हुआ है कि इस सभ्यता की सीमाएँ उत्तर में पंजाब से लेकर दक्षिण में ताप्ती नदी तक तथा पश्चिम में बलूचिस्तान और सिंध से लेकर पूर्व में मेरठ और सहारनपुर जिलों तक थीं। इस सभ्यता में बहुसंख्यक मुहरें मिली

हैं, जिन पर लेख अंकित हैं। पिछले कुछ समय से इन लेखों के वाचन का प्रयास चल रहा है। अनेक विद्वानों ने इस बात की पुष्टि की है कि हड़प्पा संस्कृति के इन लेखों में प्राय: वैदिक-सूक्त लिखे हैं।

हाल में ऐसी बहुसंख्यक अभिलिखित मुहरें बहरीन-क्षेत्र से मिली हैं। उनसे ज्ञात हुआ है कि आद्य ऐतिहासिक युग में भारत के व्यापारिक संबंध बहरीन क्षेत्र के साथ थे। अनेक वर्षों पहले बोगासकुई नामक स्थान में प्राप्त पुरालेखों में कई भारतीय देवताओं तथा दशरथ, आदि राजाओं के नामों से यह जानकारी मिली थी कि प्राचीन सुमेरु तथा ईरान के क्षेत्र के साथ भारत के सांस्कृतिक संबंध थे।

हड़प्पा सभ्यता का समय ईसवी पूर्व तीसरी सहस्राब्दी के लगभग आरंभ से लेकर ई० पूर्व १७०० तक आँका गया है। यह वह समय था जब आर्य संस्कृति का भी प्रसार विविध रूपों में हो रहा था। इस संस्कृति ने अपनी समकालीन अनार्य या असुर संस्कृति से अनेक तत्त्वों को ग्रहण किया। इन तत्त्वों को आर्य सभ्यता का अंग बना लिया गया और इस प्रकार एक संश्लिष्ट सभ्यता अस्तित्व में आ गयी। इसके प्रमाण हमें वैदिक साहित्य तथा अनेक पुराणों में मिलते हैं। ऋग्वेद तथा परवर्ती वेदों, ब्राह्मणग्रंथों, आरण्यकों तथा उपनिषदों में भाषा तथा विवेच्य विषयों के जो रूप उपलब्ध हैं वे तत्कालीन संस्कृति पर प्रकाश डालते हैं। वैदिक युग में समन्वयात्मक प्रवृत्ति का जो उदय हुआ उसका विकास परवर्ती युगों में भी देखने को मिलता है। आर्य धर्म तथा वैदिक भाषा के प्रसार में भरत, पंचाल, इक्ष्वाकु, विदेह आदि जनों का योगदान विशेष उल्लेखनीय है।

संस्कृत के संबंध में जो दूसरी विचारणीय बात है वह यह है कि इसका उद्भव मुख्यत: ऋषियों के आश्रमों में हुआ। इन आश्रमों में उसे पल्लवित-पुष्पित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। संस्कृत को राज्याश्रय भी मिला। राजाओं तथा अन्य वर्गों के जनों ने इस भाषा को आश्रमों में उत्पन्न तथा संवर्धित, दिव्य वाणी के रूप में स्वीकार किया और उसका अध्ययन-प्रसार अपना विशेष कर्त्तव्य माना। संस्कृत विद्या के जो अनेक केन्द्र ऐतिहासिक काल में मिलते हैं वे प्राय: राजधानियों से दूर स्थित थे। उनमें तक्षशिला, कपिशा, मार्तण्ड, बलभी, उज्जयिनी, मथुरा, वाराणसी, नालंदा, मिथिला, नवद्वीप, पुरी, कांची आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

आश्रमों में और तत्पश्चात् मुख्य विद्या-केन्द्रों में संस्कृत का जो विकास हुआ उसमें तत्त्वज्ञान तथा भौतिक मानव जीवन के साथ-साथ प्रकृति का विशेष स्थान द्रष्टव्य है। प्रारम्भ से ही लोक-जीवन का भी महत्त्व इस देश में स्वीकार किया गया।

तीसरी उल्लेखनीय बात यह है कि पाणिनि के समय में वैदिक संस्कृत का

जो भाषागत संस्कार हुआ उसमें धार्मिक तथा सामाजिक संस्कार भी जुड़ गये। पाणिनि (लगभग ई० पूर्व पाँचवीं शती) के पहले वर्णाश्रम धर्म, संस्कार तथा पुरुषार्थ चतुष्टय का महत्त्व प्रतिपादित कर विभिन्न क्रियाकलापों का उपबृंहण हो चुका था। धार्मिक-सामाजिक संस्कारों की व्यवस्था में संस्कृत का विशेष योगदान रहा है। ये संस्कार प्रायः संपूर्ण देश में मान्य हुए। उनमें मानव-मूल्यों का महत्त्व निर्धारित था, अतः उन्हें भारत के बाहर, विशेषतः दक्षिण-पूर्व एशिया के अनेक देशों में, मान्यता मिली। इस प्रकार मानव-संस्कार की भाषा के रूप में संस्कृत को व्यापकता प्राप्त हुई और राष्ट्रीय, भौगोलिक तथा भावनात्मक एकता में वृद्धि हुई।

चौथी विशेष बात है संस्कृत की सूत्र-प्रणाली। विविध शास्त्रों का सूत्र रूप में निरूपण जैसा संस्कृत में हुआ है वैसा किसी अन्य प्राचीन भाषा में नहीं। पाणिनि की अष्टाध्यायी, कौटिल्य का अर्थशास्त्र तथा वात्स्यायन का काम सूत्र इस विद्या के प्रमुख उदाहरण हैं। षड्दर्शन तथा विविध धर्मसूत्र, गृह्यसूत्र-ग्रंथ भी इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं।

पाँचवीं विशेषता है मानव-मूल्यों के प्रतिनिधि-रूप में संस्कृत का विकास। वैदिक युग से लेकर अर्वाचीन समय तक संस्कृत में अपार साहित्य का सृजन हुआ। इसका मुख्य ध्येय मानवता है जो विचारपूर्ण नैतिकता से संवलित है। स्वतंत्र चिन्तन के साथ-साथ "वसुधैव कुटुम्बकम्" की भावना भारतीय साहित्य का मूल स्वर है। यह स्वर भारतीय जीवन-दर्शन के रूप में संस्कृत के माध्यम से संवर्धित हुआ। इस विकास में प्राकृत तथा संस्कृत-प्राकृत से निःसृत अन्य अनेक भारतीय भाषाओं का भी योगदान रहा। जो राजनयिक, सामाजिक तथा धार्मिक मूल्य निर्धारित हुए उनमें मानव की प्रतिष्ठा को प्राथमिकता दी गयी : "न हि मानवात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्।" जैन-बौद्ध-जैसे प्रमुख ब्राह्मणेतर दर्शनों में भा वैदिक-पौराणिक समाज-संबंधी धार्मिक सिद्धान्तों में आस्था व्यक्त की गयी। वर्णाश्रम धर्म, पुरुषार्थ चतुष्टय, मंदिर-मूर्ति पूजन के उदात्त विचारों के प्रति जैन-बौद्ध अनुयायियों ने असहमति नहीं प्रकट की। उन्होंने उन सभी सामाजिक प्रवृत्तियों में सहयोग प्रदान किया जो देश के हित में थीं।

संस्कृत के महत्त्व को देखकर बौद्ध, जैन तथा अन्य मतावलंबियों ने भी अपने साहित्य का सृजन संस्कृत में किया। इससे उनके साहित्य तथा धर्म को व्यापकता मिली। संस्कृत के विद्वानों ने पालि-प्राकृत भाषाओं के प्रति अवमानना नहीं प्रकट की। अपितु उन्होंने इन जनभाषाओं के विकास में प्रभूत योगदान किया। भास, कालिदास, भवभूति, राजशेखर आदि का साहित्य इसका प्रमाण है। एशिया के अनेक देशों में बौद्ध धर्म के प्रचार में संस्कृत में लिखित साहित्य की विशेष भूमिका रही है।

संस्कृत का छठा वैशिष्ट्य उसका माधुर्य और नाद-सौन्दर्य है। ऋग्वेद के अनेक सूक्तों में इन तत्त्वों का आविर्भाव मिलता है। श्रेष्ठ या क्लासिकी साहित्य में इन दोनों का समन्वय विशेष रूप से द्रष्टव्य है। अश्वघोष से लेकर मध्यकालीन कवियों, नाट्यकारों आदि में अपनी रचनाओं में रस और रीति के साथ साहित्य के गेय पक्ष को वरीयता प्रदान की।

संस्कृत काव्यामृत की उपमा कामधेनु के धवल-पोषक दुग्ध से दी गयी है। इस काव्य में अद्भुत नाद-सौन्दर्य है। देवेश्वर कवि के "कविकल्पलता" ग्रंथ (पृ० 95) में इस विशिष्टता को इस श्लोक द्वारा व्यक्त किया गया है—

स्वर्धेनु-दुग्धसवयांसि वचांसि वाणी,
मंजीरमंजुल निनाद सहोदराणि।
एतान् निषेव्य कवय: कविताऽमृतानि,
विद्वत्-सभासु सविलास-मुदीरयध्वम्॥

महाकवि कालिदास ने कहा है कि पार्वती की वाणी में अमृतरस तथा मधुर तंत्री-नाद दोनों विद्यमान थे। उनका स्वर कोकिल की कूक से कहीं अधिक कर्ण-प्रिय था।

स्वरेण तस्यां अमृत-सुतेव प्रजल्पितायां अभिजातवाचि।
अप्यन्यपुष्टा प्रतिकूलशब्दा, श्रोतुर्वितंत्रीरिव ताड्यमाना॥—कुमारसंभव १/४५

संस्कृत साहित्य का सप्तम गुण उसका विविध ललितकलाओं के साथ घनिष्ठ संबंध रहा है। इस देश के विभिन्न क्षेत्रों में तथा देश के बाहर भारतीय शिल्प सिद्धांतों के आधार पर वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला तथा नाट्य-संगीत का संवर्धन हुआ। मौर्यकाल से लेकर उत्तर मध्यकाल तक बहुसंख्यक मंदिरों, स्तूपों, प्रतिमाओं आदि का निर्माण हुआ। उसमें धार्मिक तथा लौकिक तत्त्वों के मूर्त्त अंकन किये गये, जिनमें मूर्ति-विज्ञान के साथ चारुत्व तत्त्व का निदर्शन है। इनका अध्ययन समसामयिक साहित्य के साथ करने से ललित कलाओं के विकास और स्वरूप की सम्यक् जानकारी होती है। साथ ही विभिन्न युगों की राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक तथा शैक्षणिक दशा का प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त होता है। दुष्यन्त-शकुंतला, उदयन-वासवदत्ता, शूर्परिक-कुमुद्वती, नंद-सुंदरी आदि की रोचक प्रेम कथाएँ प्राचीन कला में उत्कीर्ण की गयीं। कलाकारों ने संस्कृत के साहित्यकारों से विशेष प्रेरणा ग्रहण की।

गीत, वाद्य-नृत्य तथा नाट्य के प्रति भारतीय जनरुचि बहुत प्राचीनकाल से रही है। प्राचीन कला और साहित्य का साथ-साथ अध्ययन करने से इस बात की पुष्टि होती है। यहाँ एक अति प्राचीन रंगमंडप की चर्चा की जाती है। यह मध्य

प्रदेश के सरगुजा (अंबिकापुर) जिला में आज भी विद्यमान है। इसका समय ईसा पूर्व तीसरी और दूसरी शती है। यह स्थल राभगढ़ के नाम से प्रसिद्ध है। जिस पर्वत-गहा में रंगशाला मिली है उसे अब सीतामढ़ी कहा जाता है। रंगशाला की दीवारों पर मौर्यकालीन ब्राह्मी लिपि में कई लेख उत्कीर्ण हैं। उनमें वाराणसी से आये हुए "रूपदक्ष", देवदत्त का तथा उसकी प्रेमिका "देवदासी" सुतनुका के नाम लिखे हैं। "रूपदक्ष" शब्द इस बात का द्योतक है कि वाराणसी से दक्षिण कोसल क्षेत्र में आया हुआ देवदत्त नाट्यकला में प्रवीण था।

सीतामढ़ी में ही एक अन्य लेख खुदा हुआ था। बड़े दुर्भाग्य की बात है कि उस मढ़ी में निवास करने वाले किसी अज्ञानी व्यक्ति द्वारा वह लेख नष्ट कर दिया गया। जर्मन विद्वान् ब्लॉश ने उस लेख को 1904 ई० में प्रकाशित किया था। लेख का वाचन इस प्रकार किया गया था —

आदीपयंति हृदयं स्वभावगुरुकवयः।
ये रातियं दूरे वासंनिया हासानुभूते हारस्फीतं एव आलिगंति ॥

इसका भावार्थ यह है कि उत्तम स्वभाव वाले कवि हृदय को आलोकित कर देते हैं। रात्रि में आनंद की अनुभूति कराने वाली वसंतलक्ष्मी उपस्थित नहीं है, अतः वे (कवि) मोटी पुष्पमालाओं का आलिंगन कर दर्शकों में हास्य उमगाते हैं।

देवदत्त-सुतनुका नाम वाले लेख तथा उक्त सरस छंद इस बात के द्योतक हैं कि रंगशाला में सरस-सुखद नाटिकाओं का मंचन होता था, जिसका आनंद आस-पास के निवासी दर्शक लेते थे। उक्त मंडप के नीचे दर्शकों के बैठने के लिए सीढ़ियाँ सुचारु ढंग से काट कर बनायी गयी हैं।

प्रसिद्ध नाटयशास्त्रकार भरत मुनि ने इस प्रकार के शैलगृह-मंडप के आकार वाले दुमंजिले नाटयगृह की चर्चा की है—

"कार्यःशैल गृहाकारो द्विभूमिर्नाट्यमंडपः।"

नाट्यशास्त्र का रचनाकाल ईसवी दूसरी शती माना जाता है। अश्वघोष, कालिदास आदि लेखकों की रचनाओं में तथा पुराणों में पर्वत-गुफाओं या शैलगृहों में नृत्यादि मनोरंजनों के उल्लेख प्राप्त होते हैं। कालिदास ने विदिशा के पास उन पहाडियों का उल्लेख किया है जो सुन्दरियों की नूपुर-ध्वनि से गूंजती रहती थीं। रैवतक पर्वत में भी ऐसे मनोविनोदों के वर्णन मिलते हैं। हो सकता है कि कालिदास, भास, शूद्रक, भवभूति आदि प्रख्यात कवियों के नाटक एवं लोक-नाट्य शैलगृहों में भी खेले जाते रहे हों। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि सीतामढ़ी, जोगीमढ़ा, उड़ीसा की हाथीगुम्फा तथा नासिक के पास पुलुमई नामक गुफा में जिन नाट्य मंडपों का रूप मिलता है वे भारत के आदिबासियों द्वारा प्रयोग में लाये जाते थे।

आर्यों ने उनके स्थान पर खुले नाट्य मंडपों का प्रयोग किया जो आकार में बड़े होते थे। राजाश्रय में नगरों में इन बड़े आकार वाले रंगमंचों की उन्नति हुई। काशी, उज्जयिनी, पाटलिपुत्र आदि नगरों में ऐसे रंगमंचों की चर्चा साहित्य में मिलती है।

आचार्य पाणिनि के समय शिष्ट समाज में प्रचलित जो भाषा थी वह वैदिक संस्कृत का सम्मानपूर्ण स्थान ले चुकी थी। पाणिनि ने उसका विस्तृत वैज्ञानिक व्याकरण लिखकर भाषा को व्यवस्था प्रदान करने का महान् कार्य सम्पन्न किया। उनके कार्य को कात्यायन, पतंजलि, काशिकाकार आदि मनीषियों ने आगे बढ़ाया। पतंजलि के महाभाष्य से ज्ञात होता है कि ई० पूर्व दूसरी शती में कंसवध, बलि-बंधन आदि नाटक खेले जाते थे, जो बहुत लोकप्रिय थे।

गुप्त-युग के पहले जिन रचनाकारों ने संस्कृत भाषा का भंडार भरा उनमें वाल्मीकि, व्यास, कौटिल्य, मनु, अश्वघोष, याज्ञवल्क्य आदि के नाम विशेष उल्लेख-नीय हैं। मथुरा, विदिशा, गिरिनगर, आदि कई केंद्रों में प्रांजल संस्कृत भाषा में शिलालेख लिखे गये।

गुप्त-काल संस्कृत की समृद्धि तथा विकास की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। ईसवी चौथी शती के मध्य में गुप्त-सम्राट् समुद्रगुप्त ने राजनीतिक चक्रवर्तित्व भावना के साथ-साथ संस्कृत को राष्ट्रभाषा का रूप प्रदान करने का कार्य संपन्न किया। प्रयाग के विशाल स्तंभ पर इस शासक का लेख तथा उसकी स्वर्ण मुद्राओं पर संस्कृत लेख इसके साक्षी हैं। समुद्रगुप्त तथा उसके वंश के अन्य शासकों—चंद्रगुप्त द्वितीय, कुमारगुप्त तथा स्कंदगुप्त—के प्रयासों से संस्कृत को बड़ा विकास मिला। वह मध्य देश की प्रमुख भाषा बन गयी जिसका प्रभाव सारे देश में व्याप्त हुआ। गुप्त नरेशों के अलावा दक्षिण के वाकाटक, कदंब तथा पल्लववंशी नरेशों ने इस दिशा में विशेष भूमिका निबाही।

राज्यवंशों द्वारा संवर्धन प्राप्त होने के साथ इस काल में तथा उसके पश्चात् अनेक मेधावी लेखक हुए। संस्कृत की सर्वतोमुखी उन्नति में भास, कालिदास, भारवि, भवभूति, बाणभट्ट, माघ, राजशेखर, बिल्हण, श्रीहर्ष आदि के नाम अमर हैं।

कालिदास की श्रुतिमहती वाणी

कालिदास ने "श्रुतिमहती" विशेषण से संस्कृत वाणी को महिमा-मंडित किया। उनका निम्नांकित भरत-वाक्य महाकवि की उत्कट राष्ट्रीय भावनाओं की मार्मिक अभिव्यक्ति है—

प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः
सरस्वती श्रुतिमहती महीयताम्।

ममापि च क्षपयतु नीललोहितः
पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः ।।—अभिज्ञानशाकुन्तल ७/३५

संस्कृत भारती का जो यश गुप्तकाल में देश और उसके बाहर फैल गया था उससे आनंद-विभोर होकर कालिदास ने यह उद्गार व्यक्त किया—

आरूढमद्रीन् उदधीन् वितीर्णं
भुजंगमानां वसतिं प्रविष्टम् ।
उर्ध्वं गतं यस्य न चानुबंधि,
यशः परिच्छेत्तुमियत्तयाऽलम् ।।—रघुवंश ७/७७

यहाँ तीनों लोकों में रघुवंश के प्रताप का विस्तार भारतीय संस्कृति के व्यापक प्रताप का द्योतक है, जो संस्कृत के माध्यम से सफल हो सका।

पाणिनि, कालिदास, बाणभट्ट—जैसे इने-गिने साहित्य-स्रष्टा ऐतिहासिक युग में अवतीर्ण हुए, जिन्होंने किसी असाधारण दैवी प्रसाद के फलस्वरूप, अमर रचनाओं के कीर्तिस्तभ स्थापित किये।

दक्षिण पूर्व एशिया

गुप्तयुग में तथा उसके पश्चात् दक्षिण-पूर्व एशिया के कई देशों में संस्कृत और भारतीय संस्कृति का जो उत्थान हुआ उसके बहुसंख्यक उदाहरण कंबुज, स्याम, जावा-सुमात्रा आदि क्षेत्रों में मिले हैं। भारत में जन्मी और साहित्यिक विकास प्राप्त करने वाली वाणी अनेक पुरालेखों में "भारती" संज्ञा से व्यक्त की गयी, जो विद्या-देवी सरस्वती की द्योतक है।

कंबुज (आधुनिक कंपूचिया) के बंते-केदेयि नामक स्थान में एक संस्कृत शिलालेख उत्कीर्ण है। इसमें ४५ श्लोक हैं और इसका रचनाकाल ईसवी दसवीं शती का आरंभ है। इसके लेखक का नाम शिवाचार्य दिया है। लेख से ज्ञात होता है कि प्रसिद्ध अंकोर क्षेत्र के अनिंदितपुर नामक स्थल पर शिव, उमा, देवी भारती आदि की प्रतिमाएँ निर्मित की गयीं, जिनका ध्यान शिलालेख के आरंभिक श्लोकों में लिपिबद्ध है। उमा तथा भारती का ध्यान क्रमशः इस प्रकार किया गया है—

नमाम्युमां, मुखं यस्याः स्मितमीशस्य दर्शने।
पूर्णचन्द्रायते चन्द्रखण्डं मूर्ध्नीव निन्दितुम् ।।४।।

अर्थात्, उमा के मुख को मैं प्रणाम करता हूँ। शिव के दर्शन से उस मुख पर जो मुस्कान फैल गयी है उससे वह पूर्ण-चन्द्र जैसा सुंदर लगता है; मानो वह शिव की जटा पर स्थित खंडित चंद्र का उपहास कर रहा है।

सर्व्वत्र व्यापिनीं वंदे भारतीं भूरिभारतीम् ।
सुधावदन - पूर्णेन्दु - कला-पीयूषवर्षिणीम् ।।५।।

(अर्थात्, भारतदेशीया भारती की मैं वंदना करता हूँ जिसकी व्याप्ति सर्वत्र है । पूर्ण चंद्रवदना उस भारती की कलाएँ अमृत की वर्षा करती हैं ।)

भारती देवी और उसकी प्रतिनिधिरूपा संस्कृत वाणी के प्रति उक्त कीर्ति-गान वस्तुतः सराहनीय है ।

दक्षिण-पूर्व एशिया में अन्य वैदिक-पौराणिक देवालयों के साथ भारती के मंदिरों तथा प्रतिमाओं की प्रतिष्ठापना बड़ी श्रद्धा के साथ संपन्न की जाती थी। कंबुज के **सीम-राप** नामक स्थल पर स्थित **प्राह-ईनकोसी** देवालय पर वहाँ के शासक जयवर्मा-पंचम का एक महत्त्वपूर्ण शिलालेख उत्कीर्ण है । उस पर अंकित तिथियों के अनुसार लेख का एक अंश ८६० ई० में और शेष ८६२ ई० में लिखा गया । इस शिलालेख का भावार्थ इस प्रकार है :

भारतीय कौंडिन्य तथा सोमा से आविर्भूत वंश में अनंदितपुर का राजा बालादित्य हुआ । उसके वंश में राजेन्द्र वर्मा नामक शासक उत्पन्न हुआ । उसकी पुत्री इंद्रलक्ष्मी थी, जिसका विवाह यमुनातट पर बसी हुई पवित्र मथुरा नगरी से कंबुज को गये हुए ब्राह्मण दिवाकरभट्ट के साथ हुआ । इंद्रलक्ष्मी और दिवाकरभट्ट ने मिलकर राज्य के अनेक स्थलों पर विविध कार्य संपन्न किये । उनके कार्यों में भद्रेश्वर शिव तथा विष्णु की मूर्तियों की स्थापना, एक चिकित्सालय का निर्माण तथा 'सद्भारती देवी' की प्रतिमा की प्रतिष्ठा सम्मिलित थी ।

गुप्तकाल के पश्चात् के पुरालेख कई सौ की संख्या में अब तक दक्षिण-पूर्व एशिया के विभिन्न भागों से मिल चुके हैं । ये सभी संस्कृत में हैं, जिससे इस भाषा की महत्ता का आकलन किया जा सकता है । इस काल में भारत के अनेक भागों में लोकभाषा के रूप में प्राकृतों का व्यवहार होता था । मध्यकाल में जैन लेखकों ने इस दिशा में विशेष ध्यान दिया, जिसके फलस्वरूप प्राकृत और अपभ्रंश का प्रचुर साहित्य उपलब्ध है ।

संपर्क भाषा

ईसा पूर्व पाँचवीं शती से लेकर प्रायः अठारहवीं शती तक पाणिनीय संस्कृत को भारत की प्रमुख तथा संपर्क भाषा होने का असाधारण गौरव प्राप्त हुआ । विश्व के इतिहास में अन्य कोई भाषा इतने दीर्घकाल तक जीवित-जागृत नहीं रही । इस लंबे समय में संस्कृत ने अपनी ''सप्तपदी'' संबलित परंपरा का निर्वाह किया । उसकी सृजनात्मकता देशकाल के अनुरूप गतिशील रही । देश पर विदेशी आधिपत्य के समय अनेक यातनाओं को संस्कृत ने साहस के साथ झेलकर अपनी तथा भारत की

अस्मिता को कायम रखा। ऐसा इसीलिए संभव हो सका कि संस्कृत का आधारस्तंभ अत्यंत दृढ़ था। जनकल्याणी भाषा के रूप में अपनी पूर्वोक्त विशेषताओं के साथ वह कोटि-कोटि जन को प्रकाश देती रही है।

वैदिक संस्कृत की समयावधि को यदि पाणिनीय संस्कृत के कालक्रम के साथ जोड़ कर रखा जाय तो संस्कृत के समूचे विकास का समय लगभग चार सहस्त्र वर्ष होता है। विश्व के इतिहास में किसी अन्य भाषा का ऐसा उदाहरण उपलब्ध नहीं है। संस्कृत इतने लंबे समय तक, महाद्वीप के समान विस्तृत, बृहत्तर भारत की मुख्य भाषा ही नहीं रही, उसने इस बड़े क्षेत्र को असाधारण सांस्कृतिक एकता और दृढ़ता प्रदान की है। ऐसी भाषा की किसी प्रकार उपेक्षा या अवहेलना नहीं की जा सकती।

महाकवि कालिदास ने संस्कृत को स्वर तथा संस्कार-संपन्न वेदवाणी कहा है और उसकी तुलना सीता के साथ की है—

स्वर संस्कारवत्यासौ पुत्राभ्यामथ सीतया।
ऋचेवोदर्चिषं सूर्यं रामं मुनिरुपस्थितः ॥—रघुवंश १५/७६

(अर्थात्, वाल्मीकि और सीता, लवकुश पुत्रों को साथ लेकर श्रीराम के पास गये। उस समय सीता की छवि ऐसी थी मानों वे स्वर और संस्कारवती वेद की ऋचा हो।)

संस्कारपूता वाणी का एक अन्य मनोरम उल्लेख कालिदास ने कुमारसंभव में "उमापरिणय" सर्ग में इस प्रकार किया है—

द्विधा प्रयुक्तेन च वाङ्मयेन
सरस्वती तन्मिथुनं नुनाव।
संस्कारपूतेन वरं वरेण्यं
वधूं सुखग्राह्यनिबंधनेन ॥—कुमार० ७/९०

(शिव-पार्वती के परिणय के अनंतर सरस्वती देवी ने उन्हें आशीर्वाद दिया। शिव की उन्होंने संस्कारपूता संस्कृत भाषा में, तथा पार्वती की सुखग्राह्या प्राकृत भाषा में शुभाशंसा की।)

ईसवी बारहवीं शती के प्रख्यात लेखक श्रीहर्ष ने अपने ग्रंथ "नैषधीय" में एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। उनके वर्णन से ज्ञात होता है कि उनके समय में भारत के विविध क्षेत्रों में अनेक स्थानीय भाषाएँ प्रचलित थीं। कुछ लोग वैदिक संस्कृत के भी ज्ञाता थे। परंतु **सभी के पारस्परिक विचार-विनिमय के लिए संस्कृत भाषा ही उपयुक्त सिद्ध हुई।** यह प्रसंग दमयंती-

स्वयंवर का है, जिसमें विभिन्न वर्गों के लोगों के साथ सौवर्ग (देवजन) का भी उल्लेख है। इन सभी जनों को पारस्परिक व्यवहार के लिए तत्कालीन संस्कृत ही सुकर लगी। यह श्लोक इस प्रकार है—

अन्योऽन्यभाषा-नवबोध-भीतेः
संस्कृत्रिमाभि-र्व्यवहारवत्सु।
दिग्भ्यः समेतेषु नरेषु वाग्भिः,
सौवर्ग-वर्गो न जनैरचिह्नि ॥—नैषध० १०/३४

इसमें मध्ययुग में लोकभाषा या संपर्क भाषा के रूप में संस्कृत के महत्त्व पर रोचक प्रकाश पड़ता है।

□

भारतीय प्रागैतिहासिक एवं आद्यैतिहासिक पुरातत्व में दृष्टिगत सांस्कृतिक ऐक्य

डॉ० एन० पी० गुप्ता

भारतीय उप महाद्वीप के सांस्कृतिक इतिहास की दृष्टि से आद्य इतिहास काल अर्थात् लगभग ३ हजार ई० पू० से ८ वीं शताब्दी ई० पू० तक का काल अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। डॉ० बुद्ध प्रकाश ने इस काल का उचित नामकरण भारत के "सामाजिक सांस्कृतिक निर्माण का युग" किया है। आलचिन ने इस काल के इतिहास की अपनी पुस्तक का नाम ही The Brith of Indian Civilization दिया है।

आद्य इतिहास के पूर्व प्रागैतिहासिक काल था, जिसे पुरातत्व की दृष्टि से पुरा-पाषाण, मध्य-पाषाण, एवं नव-पाषाण काल में विभाजित किया जाता है। पुरा पाषाण की संस्कृति के पाषाण औजार भारत के दो क्षेत्रों से बड़े पैमाने पर मिलते हैं। प्रथम उत्तर-पश्चिम में हिमालय की तराई में शिवालिक पर्वत श्रेणी में सोआन नदी की घाटी में। दूसरे सुदूर दक्षिण मद्रास प्रान्त में। इसके अलावा मध्य क्षेत्र में नर्मदा की घाटी एवं देश के अन्य क्षेत्रों में भी पुरा-पाषाण के औजार प्राप्त होते हैं। दोनों संस्कृतियों में प्राप्त औजारों में समानता को देखते हुए डॉ० ए० एल० बाशम ने कहा है कि ऐसा प्रतीत होता है कि इन दोनों पाषाणयुगीन संस्कृतियों में परस्पर संबंध रहा होगा क्योंकि एक संस्कृति के हथियार दूसरी संस्कृति के क्षेत्र में प्राप्त हुए हैं (अद्भुत भारत, हिन्दी, पृ० ६)। मध्य पाषाण काल में जब पुरा मानव ने तीरों के छोटे पत्थरों के नुकीले शिरोभाग एवं अन्य अस्त्र-शस्त्र बनाना शुरू किया तब यह सम्पर्क और बढ़ गया क्योंकि दूर तक मार करने वाले तीरों के द्वारा वह जंगली जानवरों से अपनी अधिक सुरक्षा कर सकता था और जंगलों को आसानी से पार कर सकता था। यही कारण है कि भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश से सुदूर दक्षिण तक में अनेक भागों में इस युग के एक से औजार पाये गये हैं (वही

पृ० १०)। इसी प्रकार नव-पाषाण काल में जब मानव ने पशुपालन, घड़े बनाने की कला एवं घर बनाकर रहने की कला सीखा तब भी हम प्रायः सभी नव-पाषाण कालीन स्थलों की पुरातत्व सामग्री में एक समान सामाजिक विकास की प्रवृत्तियाँ देखते हैं। भारत के प्रायः सभी पाषाणयुगीन स्थलों से एक ही प्रकार की भौतिक संस्कृति का चित्र प्राप्त होता है। पाषाण औजार चाहे पंजाब से मिले हो चाहे मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, गुजरात, बंगाल, उड़ीसा, आन्ध्र, मद्रास से सब लगभग एक प्रकार के हैं।

भारत के प्रागैतिहासिक काल के अनेक चित्रित शैलाश्रय प्राप्त होते हैं। यद्यपि इनका काल निर्धारण अत्यन्त दुष्कर है तथा इनका रचना का काल भी विस्तृत था, किन्तु बहुत से स्थल प्रामाणिक रूप से पाषाण काल से जोड़ दिये गये हैं। ऐसे स्थल भीम बैठका, आपचन्द, रायगढ़ के काबरा पहाड़, मिर्जापुर एवं अन्य अनेक कई स्थानों में प्राप्त हुए हैं। लेकिन इन सभी स्थलों के चित्रों में विषय, शैली और रंग की दृष्टि से अद्‌भुत समानता दिखलाई पड़ती है। प्रायः अधिकांश चित्र गेरू या सफेद रंग के द्वारा रेखाओं के आधार पर बनाये गये हैं। सभी में प्रायः जंगली जानवरों का सामूहिक शिकार, सामूहिक नृत्य, आदि चित्रित हैं।

प्रागैतिहासिक काल के पश्चात् भारतीय इतिहास का आद्यैतिहासिक काल प्रारंभ होता है। इस समय मानव ने ताँबे नामक धातु का आविष्कार कर लिया था और वह काँसा बनाने की कला से भी परिचित हो गया था। इस धातु के उपयोग ने उत्पादन को गति दी और परिणाम स्वरूप सभ्यता का विकास द्रुतगति से हुआ। यही कारण है कि इस धातु के उपयोग के प्रारंभ होने के साथ ही हम नगर सभ्यताओं के निर्माण के युग में प्रवेश करते हैं। भारत में नगर सभ्यता का प्रारंभ लगभग ३ हजार ईस्वी पूर्व में होता है जो प्रवृत्ति १७०० ई० पू० तक विद्यमान रही। सिन्धु सभ्यता का काल माना जाता है। यही काल वास्तव में भारतीय संस्कृति का नींव के निर्माण का काल है। जैसा कि पुरातात्विक उत्खननों से प्रमाणित हो गया है कि यह सभ्यता उत्तर भारत के विशाल क्षेत्र में फैली विश्व की सबसे विस्तृत सभ्यता थी। सुदूर उत्तर पश्चिम में अरब सागर के किनारे मकरान पहाड़ी में स्थित सुक्ते चेन्डोर से लेकर पूर्व में गंगा यमुना के कांठे में आलमगीरपुर (जि० मेरठ) तथा उत्तर में जम्मू में मांडा से लेकर दक्षिण में महाराष्ट्र में दैमाबाद तक इस संस्कृति के नगर मिले हैं। पंजाब में हड़प्पा, सिन्ध में मोहनजोदड़ो, गुजरात में लोथल, राजस्थान में कालीबंगा, पीपल बंगा, हरियाणा में बनावली आदि इसके प्रमुख स्थल हैं। ऐसे स्थानों की सूची अब १०० से ऊपर पहुँच चुकी है। इतने विशाल क्षेत्र में लगभग दो हजार वर्ष तक जीवित रहने वाली सभ्यता के सभी प्रमुख नगरों से प्राप्त अवशेषों में अद्‌भुत साम्य दिखलाई पड़ता है। ऐसा लगता है इस सभ्यता

के सभी नगरों के निवासी किसी एक केन्द्रीय शक्ति द्वारा निर्धारित निश्चित मानकीकरण (स्टैण्डर्डाइजेशन) का अनुकरण करते थे। इसीलिए इस सभ्यता के सभी केन्द्रों में प्राप्त पुरा सामग्री में विस्मयजनक समानता है। इन सभी नगरों का निर्माण एक ही योजना के अन्तर्गत हुआ था।

भवन, सड़क, नाली आदि के निर्माण में भी समान योजना प्राप्त होती है। नाप-तौल के बाटों, मिट्टी के बर्तनों के आकार-प्रकार और उन पर चित्र बनाने की विधि एवं चित्रों के विषय-वस्तु एक समान हैं। एक ही प्रकार की मिट्टी की मूर्तियाँ और मिट्टी के खिलौने मिले हैं। सभी नगरों से समान आकार-प्रकार और शैली में निर्मित मिट्टी की मुहरें प्राप्त होती हैं जिन पर समान शैली का चित्रांकन और लेख हैं। सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि सभी नगरों में प्राप्त ईंटें तक समान हैं (ए० एल० बाशम-अद्भुत भारत)। इस सभ्यता की एक अन्य विशेषता है कि इसके लम्बे जीवन-काल में न ईंटों के आकार-प्रकार में परिवर्तन आया न लिपि में। यद्यपि १७०० ई० पू० के आसपास यह सभ्यता भौतिक दृष्टि से लुप्तप्राय हो गई, किन्तु वस्तुतः भारतीय धर्म और लोक-संस्कृति की पीठिका के स्वरूप यह बनी रही। वर्तमान हिन्दू धर्म में, देवी, वृक्षलिंग एवं पशु पूजा सिन्धु संस्कृति की ही विरासत है।

पुरातत्वविद् ऐसा मानते हैं कि सिन्धु सभ्यता के पश्चात् यज्ञ-प्रिय आर्यों का आविर्भाव हुआ जिनका प्रमुख ग्रंथ ऋग्वेद है। यद्यपि अभी तक इस सिद्धान्त को स्वीकार या अकाट्य करने के उपलब्ध पुरातात्विक प्रमाण प्राप्त नहीं हुए है। पुरातत्व विद् P. G. W. अर्थात् धूसर-चित्रित-मृदभाण्ड की संस्कृति को ऋग्वेद कालीन संस्कृति से जोड़ते हैं जिसके कई स्थल पंजाब, हरियाणा, राजस्थान और यमुना की घाटी से मिले हैं और जिसका जीवन काल १५ वीं शताब्दी ई० पू० से ८ वीं शताब्दी ई० पू० तक माना जाता है। इस संस्कृति के सभी केन्द्रों के उत्खनन से इसके निवासियों के जीवन का एक सामान्य चित्र प्राप्त होता है। वे अधिकांश कृषक-जीवन व्यतीत करते थे तथा साधारण घरों में रहते थे। इन स्थलों से प्राप्त जीवन शैली का साम्य ऋग्वेद में वर्णित आर्यों के सादे जीवन से किया जाता है। इस संस्कृति के उत्तरकाल में अर्थात् लगभग १ हजार ई० पू० में इन्हें लोहे का ज्ञान हुआ जैसा कि अतरंजीखेड़ा के उत्खनन से ज्ञात होता है। अभी तक इसके अकाट्य पुरातात्विक प्रमाण प्राप्त नहीं हुए हैं कि धूसर-मृद-भाण्ड संस्कृति ऋग्वेद के आर्यों की संस्कृति है।

ऋग्वेदकालीन आर्यों की राष्ट्रीय ऐक्य की चेतना के संबंध में काफी कुछ कहा गया है। कई विद्वानों ने इन्हें छोटे-छोटे स्वतंत्र कबीलों में बँटा हुआ सिद्ध करने की कोशिश की है. कई विद्वानों ने इन्हें ऋग्वेद में आये राष्ट्र समाज (३, ५,

६, १५) स्वराज (१, ३६, ७, १, ५१, १५, १, १६, ६) विराज, एक राज आदि शब्दों के आधार पर केन्द्रीय रूप से संगठित समाज सिद्ध करने का प्रयास किया है। वस्तुतः दोनों मत सही हैं। सभ्यता के प्रारंभिक चरण में आर्य छोटे-छोटे कबीलों में विभाजित थे और संचरण अवस्था में थे। इन कबीलों का निर्माण एक ही गोत्रों के आधार पर होता था। इस काल को (Tribal-cum-Territorial Concept) का काल कहा जा सकता है।

जैसे-जैसे वे एक ही क्षेत्र में स्थाई रूप से रहने लगे इनका राजनैतिक क्षेत्र भी बढ़ने लगा। वे अपने राज्य को विस्तृत करने लगे। इस काल को (Functional cum-organic organisation) का काल कहा जा सकता है। कबीलों ने बड़े-बड़े जनों का रूप लेना प्रारंभ किया जिसमे कई कबीले समाहित थे। इन जनों ने केन्द्रीय राजनैतिक संगठन का स्वरूप लिया और ये क्रमशः समाज आदि में परिवर्तित होने लगे। साम्राज्य विस्तार की भावना ऋग्वैदिक राजनैतिक चिन्तन में विद्यमान थी, यह चतुर्थ मण्डल में आये एक मंत्र से होती है जिसमें कहा गया है "मम द्विता राष्ट्रक्षत्रियस्य" अर्थात् सभी क्षत्रियों से मेरा राष्ट्र दुगना है (४/४२/१)। यदि प्रारंभिक आर्यजनों के राजनैतिक विभेद को छोड़ भी दिया जाय तो हमें सभी आर्य जन के धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक संस्थाओं में अद्भुत समानता मिलती है। सभी जनों के देवता, धार्मिक यज्ञ-विधान, सामाजिक संस्थायें एक ही प्रकार की थीं। सुप्रसिद्ध नदी सूक्त से सिद्ध होता है कि पूर्व में गंगा से लेकर पश्चिम में अफगानिस्तान में बहने वाली कुभा (काबुल) नदी तक के क्षेत्र को ऋग्वैदिक आर्य पवित्र और एक भू-भाग मानते थे। नदी सूक्त में इस क्षेत्र की सभी प्रमुख नदियों की स्तुति गाई गई है। ऋग्वैदिक आर्यों का यही कर्मक्षेत्र भी था। इसी ने भारत की समान संस्कृति की पृष्ठभूमि का निर्माण किया।

□

वैदिक साहित्य में राष्ट्र की अवधारणा

डॉ० केदारनारायण जोशी

ज्ञानार्थक, सत्तार्थक, लाभार्थक तथा विचारार्थक विद् धातु से व्युत्पन्न वेद शब्द का अर्थ ईश्वरीय ज्ञान है।[1] मनु ने वेदों को सर्वज्ञानमय कहा है।[2] लोककल्याण की महनीय भावना से अनुप्राणित वेदों में दीप्त्यर्थक राज् धातु से निष्पन्न राष्ट्र[3] शब्द का शतशः प्रयोग परिलक्षित होता है। ऋग्वेद[4] में अनेकत्र प्रयुक्त राष्ट्र शब्द राज्य अथवा साम्राज्य का द्योतक है। यजुर्वेद,[5] अथर्ववेद,[6] ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थों में भी राष्ट्र शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त है। उपनिषदों में राष्ट्र शब्द का प्रयोग नहीं है किन्तु राज्य शब्द अनेकत्र प्रयुक्त है,[7] जिससे प्रतीत होता है कि उपनिषदों में राष्ट्र और राज्य एक हो गया है।

वैदिक साहित्य में राष्ट्र के अतिरिक्त राष्ट्रि[8], राष्ट्री[9], राष्ट्रकाम, राष्ट्रगोप, राष्ट्रदिप्सु, राष्ट्रभृत्[10], राष्ट्रभृत्य, राष्ट्रदा, राष्ट्रिय, राष्ट्रीय, राष्ट्ररक्षा, राष्ट्रवर्धन, राष्ट्रपति[11] आदि शब्दों का भी उल्लेख मिलता है। इन राष्ट्र-सम्बद्ध शब्दों के अतिरिक्त भौज्य,[12] स्वाराज्य,[13] वैराज्य[14] तथा साम्राज्य[15] शब्द वेदकालीन तत्तद् राज्य-पद्धतियों के परिचायक हैं। वैदिक साहित्य में उल्लिखित राजकृत[16], रत्नी[17], सभा[18], समिति आदि अनेक शब्द तत्कालीन सुदृढ़ राजनीतिक संगठनों के सूचक हैं। राजा,[19] सम्राट् तथा एकराड्[20] आदि पद राष्ट्रनायकों अथवा शासकों के वाचक हैं। वैदिक साहित्य में प्रयुक्त उपर्युक्त सभी शब्द जहाँ एक ओर तत्कालीन उन्नत राजनीतिक स्थिति के परिचायक हैं, वहीं दूसरी ओर वैदिक साहित्य में व्याप्त राष्ट्र विषयक अवधारणा को स्पष्ट करने में भी सहायक हैं।

वेदों में ऋग्वेद सर्वाधिक प्राचीन है। ऋग्वेद-कालीन प्रत्येक जन (जाति) का आधिपत्य राजा के हाथ में था। वेदकाल में राजपद निर्वाचन का विषय था। ऋग्वेद[21] और अथर्ववेद[22] में पूरा सूक्त ही राजा के निर्वाचन से सम्बद्ध है। राजा के निर्वाचन में राष्ट्र की जनता तथा 'राजकृतों'[23] के साथ ही 'सभा' और 'समिति'[24] नामक राजनीतिक संगठनों एवम् 'रत्नी'[25] नामक ११ अधिकारियों के समूह की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका होती थी।

न्याय और विनय से उपेत, शरीर, आत्मा तथा मन से तेजस्वी पुरुष राजसूय यज्ञ का अनुष्ठान कर राजा होता था।[२६] अथर्ववेद के अनुसार कर्तव्यच्युत होने पर राजा पदच्युत कर दिया जाता था तथा दोष-स्वीकृति के उपरान्त पुनः पदासीन कर दिया जाता था। इस पुनःस्थापना तथा प्रजा द्वारा राजा के संवरण का उल्लेख अथर्ववेद के एकाधिक सूक्तों में किया गया है[२७]—

त्वां विशो वृणुतां राज्याय
त्वामिमा प्रदिशः पञ्च देवीः।
वर्ष्मन् राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व
ततो न उग्रो विभजा वसूनि ।।—अथर्व० ६/८८/३

इस मन्त्र में विश् के द्वारा राजा के संवरण का सुस्पष्ट संकेत है। राज-सिंहासन पर आसीन होने के उपरान्त निर्वाचित राजा राजकृतों से प्रभुशक्ति की प्रतीक 'मणि' प्राप्त करता था।[२८] ये राजकृत्[२९] वे व्यक्ति होते थे, जो स्वयं 'राजा न होते हुए' राजाओं के अभिषेक में सहायता करते थे। राष्ट्र अथवा राज्य-संचालन में राजा की सहायता के लिए समिति तथा सभा नामक दो राजनीतिक संगठनों का भी उल्लेख वेदों में मिलता है।[३०] जनता द्वारा निर्वाचित ये दोनों जनसंसद पूरे राष्ट्र की संस्थाएँ थीं जो निर्वासित राजा के पुनः निर्वाचन में सम्पूर्ण राष्ट्र की जनता का प्रतिनिधित्व करती थीं।[३१] अथर्ववेद के अनुसार प्रजापति की पुत्रियाँ-सभा और समिति छान्दोग्य-उपनिषद् के निर्देशानुसार मात्र जातीय राष्ट्रीय-संगठन ही नहीं, अपितु एक जातीय साहित्य-संसद के समान भी थी।[३२] अथर्ववेद में 'सभा' नामक राष्ट्रीय जनसंगठन का एक नाम 'नरिष्टा'[३३] तथा पारस्कर-गृह्यसूत्र[३४] में नदनशील 'नादि' और दीपनशील 'त्विषि' नाम भी मिलता है, जिससे प्रतीत होता है राष्ट्र के ज्ञान एवं वयोवृद्ध व्यक्तियों की भूयसी संख्या से समृद्ध 'सभा' नामक जनसंघ अपराधियों के अपराध का निर्णय तथा तदनुसार दण्डविधान का निर्धारण कर एक प्रकार से सर्वोच्च न्यायालय की महनीय भूमिका का निर्वाह करता था। इन दो राष्ट्रीय संगठनों के अतिरिक्त 'राष्ट्रभृत्' राजा के राष्ट्र धर्म का परिपालन कराने में राष्ट्रगोपों की भूमिका भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती थी। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार 'राष्ट्रगोप[३५] उस पुरोहित की उपाधि है, जो अपने अभिचारों और संस्कारों की शक्ति से राष्ट्र और राजा का रक्षक होता था। पुरोहित का कार्य देवताओं की प्रार्थना कर युद्ध में राजा को विजय प्रदान कराने में सहयोग करना होता था। ऋग्वेद में दाशराज्ञ युद्ध के समय राजा सुदास के साथ उनके पुरोहित वशिष्ठ का इसी रूप में वर्णन मिलता है।[३६] शतपथ ब्राह्मण में राजा के सहयोगी 'रत्नी'[३७] नाम से प्रसिद्ध ११ अधिकारियों का भी उल्लेख है। ये वेदकालीन 'राजकृतः' के ही ब्राह्मणयुगीन प्रतिनिधि थे।[३८] "तांड्य" में इनकी संख्या आठ निर्दिष्ट है।[३९] इस

प्रकार सभा, समिति, राजकृत्, राष्ट्रगोप तथा रत्नी आदि के सहयोग एवम् परामर्श के अनुसार तन, मन और आत्मा से तेजस्वी राजा, सम्राट् और चक्रवर्ती पद की प्राप्ति के लिए राजसूय के उपरान्त अश्वमेध[४०] का अनुष्ठान कर सार्वभौम सम्राट् के महनीय पद को प्राप्त करता था। सम्राट् के पद पर राज्याभिषेक के समय राजपुरोहित राष्ट्रनायक को उसके राष्ट्रीय अधिकारों तथा कर्त्तव्यों का स्मरण कराते हुए उसके संरक्षण में राष्ट्र को समर्पित करता था—

इयं ते राट् यन्तासि यमनो ध्रुवोऽसि धरुणः।
कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा ॥[४१]

अर्थात् "आपको यह राष्ट्र समर्पित किया जाता है, तुम इस राष्ट्र के नियामक हो, तुम दृढ़ तथा धारणकर्ता अर्थात् राष्ट्र के उत्तरदायित्व का वहन करने योग्य हो। कृषिकर्म के लिए, कल्याण के लिए, समृद्धि के लिए तथा पुष्टि के लिए तुम्हें यह राष्ट्र प्रदान किया गया है।" पुरोहित द्वारा प्रयुक्त इन वाक्यों से जहाँ एक ओर वेदकालीन राष्ट्रनायक के कर्त्तव्यों का बोध होता है, वहीं दूसरी ओर वैदिक ऋषियों की राष्ट्र विषयक उदात्त अवधारणा भी उद्घाटित हो जाती है कि राष्ट्र दैवी सम्पद् नहीं प्रत्युत मानवी सृष्टि है, यह भोग्य नहीं वरन् संरक्ष्य है, इसकी रक्षा और समृद्धि करना ही राजा का प्रथम तथा पुनीत कर्त्तव्य है। इस प्रकार राष्ट्र की इष्टसिद्धि ही राष्ट्रनायक का परम तथा चरम उद्देश्य है—

ध्रुवं ते राजा वरुणो ध्रुवं देवो बृहस्पतिः।
ध्रुवं त इन्द्रश्चाग्निश्च राष्ट्रं धारयतां ध्रुवम् ॥[४२]
आ त्वाहार्षमन्तरेधि ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः।
विशत्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधिभ्रशत् ॥[४३]
इहैवेधि माप च्योष्ठाः पर्वत इवाविचाचलिः।
इन्द्र इहेव ध्रुवस्तिष्ठ इह राष्ट्र मु धारय ॥[४४]

ऋग्वेद की इन ऋचाओं में सम्पूर्ण विश्व ही राष्ट्र के रूप में अभिमत है। "वसुधैव कुटुम्बकम्" की उदात्त भावना से अनुप्राणित वेदों में भौगोलिक भेद से विभक्त किसी भूखण्ड अथवा देश विशेष की संकीर्ण सीमा को 'राष्ट्र' की महनीय संज्ञा प्रदान नहीं की गई है। वेदाभिमत विशाल राष्ट्र का राजा वही हो सकता है, जो विश्व की समस्त प्रजा को प्रिय हो। ऐसे एकछत्र एवम् सार्वभौम सम्राट् के सुदृढ़ हाथों में सुरक्षित राष्ट्र कभी भी भ्रष्टाचार के गर्त में नहीं गिरेगा। सत्यनिष्ठा, सरलता, प्रचण्ड क्षात्रतेज, ज्ञान, धर्मानुष्ठान एवम् कर्त्तव्य पालन तथा समर्पण भावना आदि अथर्ववेदोक्त आदर्श गुणों से मण्डित पृथ्वीपुत्र पृथ्वी को अपनी माता मानकर उस मातृभूमि अर्थात् राष्ट्र को धारण करता है और त्रैकालिक सकल

पदार्थों की प्रसवितृ पृथ्वी-माता उस सार्वभौम सम्राट् को उन्नति के लिये विस्तृत आधार तथा अवसर प्रदान करती है।[४५] ऐसा गुणी राजा ही पर्वत की भाँति अचल होकर राष्ट्र को धारण करता है तथा अपने राष्ट्रभृत् अभिधान को चरितार्थ करता है।[४६] अथर्ववेद के १२वें काण्ड का प्रथम सूक्त, जो पृथिवी सूक्त के नाम से प्रसिद्ध है, वस्तुतः एक सार्वभौम राष्ट्रगीत है। इससे वैदिक ऋषियों की राष्ट्र विषयक उदात्त भावना का परिचय सहज मिल जाता है। समस्त राष्ट्र की मंगल कामना से अनुप्राणित यजुर्वेद की राष्ट्रीय प्रार्थना भी प्रस्तुत प्रसंग में उद्धरणीय है—आब्रह्मन्... नः कल्पताम्[४७]।

सूर्य के समान दृढ़ एवम् प्रलयपर्यन्त स्थायी वेदकालीन राष्ट्र प्रबलतम शत्रुओं से भी सर्वथा सुरक्षित था (न देवो नाध्रि गुर्जनः)[४८]। वैदिक साहित्य में भौज्य, स्वाराज्य, वैराज्य तथा साम्राज्य प्रभृति अनेक शासन प्रणालियों का उल्लेख मिलता है परन्तु एकराड्[४९] (एक एव राजते इति) की सत्ता के अधीन वैदिक आर्य एक सुव्यवस्थित, सुदृढ़ तथा समृद्ध राष्ट्र में सर्वथा सुखी थे। वे व्यक्तिगत रूप से निश्चिन्त थे, इसलिये वे व्यक्ति और समाज से ऊपर उठकर समग्र विश्व के कल्याण की कामना करते थे।[५०] उनमें परस्पर सौहार्द, स्नेह और सहयोग की भावना थी।[५१] विश्वशान्ति, विश्वबन्धुत्व और विश्वकल्याण की उदात्त भावना से अनुप्राणित वेदकालीन समाज, पारस्परिक प्रेम, सद्भाव और एकता के अपूर्व सूत्र में आबद्ध था। मानवों की आकूति अर्थात् चित्तवृत्ति हृदय तथा मन सब कुछ समान थे, तभी तो विश्व के समस्त प्राणी परस्पर मैत्री भाव से निवास करते थे। वे वैयक्तिक हित के लिए नहीं वरन् मानव मात्र के हित के लिए जगदीश्वर से प्रार्थना करते थे—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥
सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु।
सर्वः काममवाप्नोतु सर्वः सर्वत्र नन्दतु॥

सन्दर्भ

१. विदन्ति जानन्ति, विद्यन्ते भवन्ति, विन्दते लभन्ते, विन्दन्ति विचारयन्ति सर्वे मनुष्याः सत्यविद्याम् यैर्येषु वा तथा विद्वांसश्च भवन्ति, ते वेदाः।

—दयानन्द सरस्वती-ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका

२. मनुस्मृति १/७

३. राजृ दीप्तौ (भ्वा० उ० से०,) ष्ट्रन् (उ० ४/१५९) 'राष्ट्रं स्यादुपवर्तने' अमर-कोष-रामाश्रमी टीका, पृष्ठ ४२९

४. ऋग्वेद ३/१२४/४, ४/४२/१, ७/८४/२, १०/१०९/३, १०/१७३/१, १०/१७३/२, १०/१७४/५, १९/९/१०

५. यजुर्वेद ११/११/२२/२२
६. अथर्ववेद १०/३/१२,१२/१/८,१३/१/३५ तथा १६/४१/१
७. छान्दोग्य० ५/२/६
८. वैदिक पदानुक्रम कोष ४ थं खण्ड, पृ० २२६२-६३
९. ऋग्वेद ८/१००/१०
१०. राजानो वै राष्ट्रभृतस्ते हि राष्ट्राणि बिभ्रति।—शतपथ० ९/४/१/१
११. शत० ११/४।३/१४ तथा तैत्ति० २/५/७/४
१२. ऐत० ब्रा० ८/१५
१३. ऐत० ब्रा० ८/१५ तथा तैत्ति० ब्रा० १/३/२२
१४. वही
१५. वही
१६. ऐत० ब्रा० ८/१७/५, शत० ब्रा० ३/४/१/७, अथर्व० ३/५/७
१७. शतपथ ब्राह्मण ५/३/१
१८. अथर्ववेद ७/१२/१
१९. राजा वै राजसूयेनेष्ट्वा भवति।— शत० ५.१/१/१२
२०. ऐत० ब्राह्म० ८/१५
२१. ऋग्वेद १०/१७३
२२. अथर्ववेद ७/८७-८८
२३. अथर्ववेद ३/५/७
२४. अथर्ववेद ७/१२/१
२५. शतपथ ५/३/१
२६. राजा वै राजसूयेनेष्ट्वा भवति।— शत० ५/१/१/१२
२७. अथर्ववेद ३/३ तथा ३/४
२८. अथर्ववेद ३/५
२९. अथर्ववेद ३/५/७ तथा शतपथ० ३/४/१/७
३०. ऋग्वेद ९/९२/२/६ तथा अथर्ववेद ७/१२/१
३१. राजा न सत्यः समितीरियानः।—ऋ० ९/१२/२/६
३२. अथर्ववेद ७/१२/१ तथा छान्दोग्य० ५/३
३३. विद्म ते सभे नरिष्टा नाम वा असि।—अथर्ववेद
३४. पारस्कर गृह्यसूत्र ३/१३
नदनशीला दीप्ता धर्मनिरूपणात।—जयराम की व्याख्या
३५. ऐतरेय ब्राह्मण ८/२५

३६. ऋग्वेद ७/८३/४
३७. शतपथ ५/३/१
(१) सेनानी (२) पुरोहित (३) अभिषेचनीय राजा (४) महिषी (५) सूत (६) ग्रामणी (७) क्षतृ (८) संग्रहीतृ (६) भागदुह (१०) अक्षावाप (लेखापाल) (११) गोविकर्तृ (वन-अधिकारी)।
३८. वैदिक सा० एवं संस्कृति—पं बलदेव उपाध्याय, पृ० ४७०
३६. ताण्ड्य १६/१/४
४०. शतपथ ब्राह्मण-काण्ड १३
४१. शत० ब्रा० ५/२/१/२५
४२. ऋग्वेद १०/१७४/५
४३. वही १०/१७३/१
४४. वही १०/१७३/२
४५. सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्मयज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरूं लोकं पृथिवी नः कृणोतु ।।—अथर्ववेद १२/१/१
४६. राजानो वै राष्ट्रभृतस्ते हि राष्ट्राणि बिभ्रति।—शतपथ ६/४/१/१
४७. यजुर्वेद २२/२२
४८. ऋग्वेद ८/६३/११ (३) ऋ० ४/३७/३, अथर्व० ३/४/१, ऐत० ८/१५, जैमि० ४/८/५
४६. विश्वानि देव सवितुर्दुरितानि परासुव। यद् भद्रं तन्न आसुव।—यजु० ३०/३
५०. संगच्छध्वं संवदध्वम्, सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ।।
५१. समानीव आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ।।—ऋग्वेद १०/१६१/४

□

वेद और राष्ट्रीय एकता

डॉ० भवानीलाल भारतीय

मुण्डकोपनिषद् में परा और अपरा नाम से विद्याओं का द्विविध विभाजन किया गया है। अपरा विद्या के अन्तर्गत ऋग्, यजु, साम और अथर्व, इस वेद चतुष्टयी की गणना की गई है, जब कि परा विद्या उसे कहा गया है जो हमें अक्षर ब्रह्म का ज्ञान कराती है। मेरे विचार से वेदों को अपरा विद्या के अन्तर्गत परिगणित करने से उनके महत्त्व को न तो न्यून करके ही आँका गया है और न इससे उसके गौरव में ही कोई कमी हुई है। वेदों में अध्यात्म विद्यायें तो अपने मूल रूप में मिलती ही हैं, मनुष्य के इहलौकिक और भौतिक विकास के अनेक उपयोगी सूत्र भी उनमें उपलब्ध होते हैं। मानव की वैयक्तिक, पारिवारिक और सामाजिक उन्नति के नाना विध उपदेश वेदों में यत्र, तत्र, सर्वत्र दृष्टिगोचर होते हैं। वेदों में राष्ट्र की कल्पना, राष्ट्र रक्षा के प्रयत्न, राष्ट्रोन्नति के उपाय, राष्ट्रीय एकता के संवर्धन आदि से सम्बन्धित प्रश्नों की विस्तार से चर्चा है तथा राष्ट्र के सभी घटकों में पारस्परिक सौमनस्य स्थापित करने के बहुविध उपाय सुझाये गये हैं।

इस दृष्टि से अथर्ववेद का एक मंत्र (१९/४१) हमारा ध्यान सहज ही आकृष्ट करता है जिसमें कहा गया है कि प्रजा का सुख और कल्याण चाहने वाले स्वर्गीय सुख को प्राप्त ऋषियों ने प्रथम तप और व्रतों का अनुष्ठान किया। तत्पश्चात् राष्ट्र-भावना, राष्ट्रीय बल और ओज प्रकट हुआ। अतः यह आवश्यक है कि इस राष्ट्र-भावना, राष्ट्रशक्ति और ओज की पूर्ति तथा उसे स्थायी बनाने के लिए राष्ट्र के दिव्य नेता-देवतागण परस्पर मिलकर राष्ट्रार्चन हेतु एक दूसरे को सम्मान दें तथा श्रद्धापूर्वक राष्ट्रदेव के समक्ष प्रणिपात करें। वेद में राष्ट्र की कल्पना भूमि माता के रूप में की गई है और राष्ट्रोन्नति के सर्वोत्कृष्ट उपायों को अथर्ववेद के भूमिसूक्त में प्रस्तुत किया गया है।

अथर्ववेद के १२वें काण्ड का प्रथम सूक्त ही वेद का राष्ट्रीय गीत है जिसमें मातृभूमि की अर्चना का माहात्म्य वर्णित है। जिस राष्ट्रीय एकता की हम प्रायः

बात करते हैं वह उतनी सुगम नहीं है जितनी दिखाई पड़ती है। वस्तुतः राष्ट्रोन्नति के जिन सूत्रों को अथर्ववेद के इस भूमिसूक्त में वर्णित किया गया है उनका राष्ट्र के नागरिकों के द्वारा धारण किया जाना आवश्यक है। ऐसा होने पर ही राष्ट्र की सुरक्षा और एकता की आशा की जा सकती है, क्योंकि सत्य, ऋत, उग्रता, दीक्षा, तप, ब्रह्म और यज्ञ ही राष्ट्र के वे आधारभूत तत्त्व हैं जिनको सुनिश्चित कर हम अपनी राष्ट्रीयता को सुरक्षित कर सकते हैं।

राष्ट्रीय एकता को न तो केवल पाठ्यपुस्तकों के माध्यम से ही बताया जा सकता है और न सभाओं और समितियों में केवल बौद्धिक चर्चा करके ही उसे सुदृढ़ किया जाता है। इसके लिए आवश्यक है कि हम राष्ट्र के भौतिक स्वरूप और उसके भौगोलिक विस्तार का निरन्तर चिन्तन करते रहें। इसी अभिप्राय को व्यक्त करते हुए आलोच्य सूक्त में कहा गया है—

यस्यां समुद्रउत सिंधुरापो यस्यामन्नं कृष्टयः सम्बभूवुः।

विभिन्न समुद्रों और नदियों के जलस्रोतों को धारण करने वाली तथा नाना अन्नों को उपजाने वाली यह भूमि ही अपने निवासियों को भोज्य पदार्थ प्रदान करती रही है। अतः इस मातृभूमि के निवासियों को भी उसके सतत हितचिन्तन में रत रहना चाहिए। "माता भूमिः पुत्रोऽहम् पृथिव्याः" इस सूत्र को वेद ने निर्विवाद रूप में प्रस्तुत कर यह स्पष्ट कर दिया है कि चारों दिशाओं तक जिसका विस्तार है, जो धरती खेती के द्वारा हमें अन्न प्रदान करती है तथा जिस पर रहकर सभी प्राणी सचेष्ट होते हैं उसके प्रति हम अपने कर्त्तव्यों को जानें तथा तदनुकूल आचरण करें।

राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ बनाने के लिए राष्ट्र के गौरवमय अतीत से नागरिकों को अवगत कराना आवश्यक हो जाता है। अपने गरिमापूर्ण अतीत को स्मृति-पथ से ओझल कर यदि हम राष्ट्रीय एकता की बात करते हैं तो वह एक दुःस्वप्न मात्र ही होगा। इसी अभिप्राय को व्यक्त करने वाला निम्न मंत्र द्रष्टव्य है—

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन्।

जिस मातृभूमि की गोद में हमारे यशस्वी पूर्वजों ने नाना प्रकार के गौरवशाली कार्य किये और जहाँ सत्य, धर्म और न्याय की रक्षा में तत्पर देवताओं ने असत्य, अन्याय और अधर्म के पक्षपोषक असुरों को निरन्तर पराजित किया, वही धरती और उसका पुण्य स्मरण उसके निवासियों में ऐश्वर्य और तेज को धारण कराता है।

अथर्ववेद के इस सूक्त में भूमि माता के लिये जिन विशेषणों का प्रयोग हुआ है, वे भी इस तथ्य के द्योतक हैं कि धरती को केवल भौतिक द्रव्यों का समूह मात्र

मान लेना ही पर्याप्त नहीं है। यह विश्वंभरा और वसुधानी है, सबका आधार होने से इसे "प्रतिष्ठा" कहा गया है, स्वर्ण आदि रमणीय पदार्थों को अपने भीतर रखने के कारण यह "हिरण्यवक्षा" है और चराचर पदार्थों को अपने ऊपर बसाने वाली होने के कारण यह "जगतो निवेशनी" है। राष्ट्रवासियों के भीतर जो उत्साहरूपी ऊष्मा है उस वैश्वानर अग्नि का स्रोत या आधार होने के कारण इसी धरती को "वैश्वानरं बिभ्रती" भी कहा है। राष्ट्र की सुरक्षा और राष्ट्र की एकता एक दूसरे पर अनिवार्यतः निर्भर है। यदि राष्ट्र की सुरक्षा में किसी प्रकार की ढील दी जाती है तो उसका परिणाम राष्ट्रीय एकता को नष्ट करने वाले तत्त्वों को प्रोत्साहन देना ही होगा। राष्ट्र को असुरक्षित जान कर ही राष्ट्र विरोधियों की बन आती है और वे देशवासियों में परस्पर विसंवाद की स्थिति उत्पन्न करते हैं जो अन्ततः राष्ट्र के विनाश का कारण बनती है। अतः अथर्ववेदीय राष्ट्रसूक्त की यह सुविचारित धारणा है कि मातृभूमि की रक्षा में कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए। इसके रक्षकों को हम देव नाम से अभिहित करते हैं और वे ही सदा सजग होकर इस धरती माता की रक्षा में सन्नद्ध रहते हैं—

यां रक्षन्त्य स्वप्ना विश्वदानीं देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम्।

राष्ट्र के इन जागरूक रक्षकों से रक्षित यह मातृभूमि ही हमें नाना प्रकार के मधुर रसों और वर्चस् को प्रदान करने में समर्थ होती है।

राष्ट्रीय एकता की एक अनिवार्य शर्त है भूमि माता से हमारा निकट का परिचय। जैसा कि हम उल्लेख कर चुके हैं कि राष्ट्रीय एकता न तो गोष्ठियों से सम्पन्न की जा सकती है और न इसे बैठक-खानों के वाद-विवाद (Drawing Room Discussions) के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। वस्तुतः राष्ट्र के नागरिकों को अपने राष्ट्र के नानाविध रूपों का चाक्षुष प्रत्यक्ष होना चाहिए। जिस विशाल नगपति को हमने भारतजननी का हिम किरीट कहा और जिसे हमने मातृ-भूमि का दिव्य भाल कह कर गौरवान्वित किया, यदि उसके गगनचुम्बी हिम-शिखरों को हमने प्रत्यक्ष नहीं देखा, यदि हम धरती के वक्षस्थल पर फैले सघन अरण्यों से परिचित नहीं हुए और मातृभूमि की उस मिट्टी की गोद में हमने क्रीड़ा नहीं की जो बभ्रु, कृष्णा, रोहिणी, विश्वरूपा है तो राष्ट्र की एकता की बात हमारे लिए वाग्विलास होकर ही रह जायगी। जिस राष्ट्र को हम जानते ही नहीं, उसकी एकता की रक्षा कैसे करेंगे?

वस्तुतः राष्ट्र के साथ राष्ट्रवासी एक प्रकार के निजत्व का बोध करते हैं। इस अन्नदायिनी भूमि के साथ उनकी आत्मीयता स्थापित की जाती है। तभी तो हम इस जड़ धरती को माता कह कर पुकारते हैं स्थूल दृष्टि से देखें तो मातृभूमि

क्या है—इसमें शिलायें हैं, पत्थर और धूल के कण ही तो हैं। पुनः यह धरती हमारे आदर और सम्मान का पात्र कैसे बन जाती है ? बात सीधी है । पत्थर की शिलाओं और धूल मिट्टी का यह ढेर ही हमारी पूजा, आराधना और उपासना का पात्र तब बनता है जब हमारे राष्ट्र नेता उसका सम्यक् रूप से धारण-पोषण कर उसमें राष्ट्र की आत्मा को स्थापित करते हैं। **'सा भूमिः संधृता धृता'** सम्यक् प्रकार से शासित धरती ही हमारे अभ्युदय, विकास और उन्नति का कारण बनती है। अब यह धरती हमारे लिये पत्थरों और चट्टानों का ढेर न रह कर वंदनीय मातृभूमि बन जाती है। हमारे साथ उसका आत्मिक सम्बन्ध जुड़ जाता है । उसकी रक्षा करने के लिए हम अपनी जान की बाजी लगाने को तैयार हो जाते हैं और स्वदेश गौरव को स्वाभिमान और अस्मिता के साथ जोड़ लेते हैं। इसीलिए इस हिरण्यवक्षा पृथ्वी का हम बार-बार नमन करते हैं और माता के रूप में उसकी वंदना करते हैं।

मातृभूमि के साथ आत्मीयता का सूत्र जुड़ जाने पर ही जहाँ उसके पत्थरों और चट्टानों, उसकी धूल और मिट्टी को हम स्नेहसिक्त दृष्टि से देखने लगते हैं वहाँ उसके वक्ष पर उगे वृक्षों, वनस्पतियों, और लताओं से भी बंधुत्व भाव स्थापित करते हैं। हमारे प्राचीन साहित्य से ऐसे शतशः उदाहरण दिये जा सकते हैं जहाँ वृक्षों और लताओं को हमारे पूर्वजों ने अपने हमजोली सखा और बन्धु के रूप में देखा और सम्बोधित किया है। स्वदेश के प्रति निष्ठा का भाव कोई क्षणिक प्रवृत्ति नहीं है। इसे अस्थायी भाव के रूप में लेना उचित नहीं होगा। हम चाहे किसी स्थिति में रहें, स्वदेश की चिन्ता में ही हमें अपने प्रत्येक क्षण को व्यतीत करना है। इसी भाव का बोधक निम्न मंत्र है—

उदीराणा उतासीनास्तिष्ठन्तः प्रक्रामन्तः ।
पद्भ्यां दक्षिणसव्याभ्यां मा व्यथिष्महि भूम्याम् ॥

हमारी मातृभूमि किसी भी स्थिति में हमसे न तो तिरस्कृत हो और न ही व्यथित हो।

वनस्पतियों की ही भाँति शुद्ध जल की पावनधारा प्रवाहित करने वाली यह धरती हमें स्वस्थ और पवित्र रखती है। राष्ट्र की सुरक्षा की बात हम पहले भी कर चुके हैं। इसके लिए निरन्तर सावधानी अपेक्षित है। राष्ट्रवासियों की पारस्परिक एकता की परीक्षा भी उसी समय होती है जब कोई आक्रमणकारी हमारे किसी दुर्बल छिद्र को देखकर अथवा हमें राष्ट्ररक्षा में असावधान पाकर किसी दिशा से हमारे देश पर आक्रमण करता है। हमारे देश का वर्तमानकालिक इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब-जब पड़ोसी देशों ने हमारी मातृभूमि पर हमला किया है, तब-

तब इस देश के निवासी अपनी सम्पूर्ण विविधताओं और अनेकताओं को भूल कर फौलाद की दीवार की भाँति शत्रु के आक्रमण का प्रतिकार करने के लिए तैयार हुए हैं। भूमि सूक्त का निम्न मंत्र इसी अभिप्राय को प्रकट करता है—

मा नः पश्चान्मा पुरस्तान्नुदिष्ठा मोत्तराद‌धरादुत।
स्वस्ति भूमे नो भव मा विदन्परिपन्थिनो वरीयो यावया वधम् ॥

पूर्व और पश्चिम, उत्तर और दक्षिण किसी भी दिशा से हमें पीड़ा न हो। यह धरती हमारे लिए स्वस्तिदायिनी हो तथा मार्गावरोधक शत्रु हमें पीड़ित न करें। उनके द्वारा की गई हिंसा का निवारण करने में हम सफल हों।

रत्नगर्भा और नाना मूल्यवान्-धातुओं को अपने भीतर धारण करने वाली यह धरती हमारे राष्ट्र की समृद्धि का कारण है। धरती को खोद कर ही बहुमूल्य रत्न प्राप्त किये जाते हैं तथा कृषि कर्म के द्वारा वृक्ष वनस्पतियाँ उगाई जाती हैं। इसी भाव का द्योतक निम्न मंत्र है—**यत्ते भूमे विखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु**। किन्तु हमारा खनन कार्य सीमा को पार न कर जाये, अन्यथा भूमि के गर्भ में स्थित सारे मूल्यवान्-पदार्थ एक बार ही में समाप्त हो जायेंगे।

राष्ट्र की समृद्धि और उसकी श्रीवृद्धि में पर्यावरण की सुरक्षा तथा विभिन्न ऋतुओं के नियमित आगमन प्रत्यागमन का भी योगदान रहता है। सौभाग्य से भारत ही एक ऐसा देश है जहाँ ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त, शिशिर तथा वसन्त छहों ऋतुयें अपने सम्पूर्ण वैभव को लेकर प्रकट होती हैं। इस ऋतुचक्र की अपनी विशेषता है। विभिन्न ऋतुओं में प्रकृति के पल-पल परिवर्तित सौन्दर्य की मनोमुग्धकारी छटा को देख कर मनुष्य का आनन्दित होना स्वाभाविक ही है। राष्ट्र के प्रति हमारी आत्मीयता और आसक्ति भी प्रकृति के माध्यम से ही स्थापित होती है। जो लोग महानगरीय जीवन की चाकचिक्य और वहाँ के प्रदूषित वातावरण में ही सांस लेने के आदी हो गये हैं, जिन्होंने विभिन्न ऋतुओं में वातावरण के बदलते रूपों को निकट से नहीं देखा तथा उसका आनन्द नहीं लिया, वे भला राष्ट्र लक्ष्मी के साथ निजता का सम्बन्ध कैसे स्थापित कर सकते हैं?

वेद में इड़ा, सरस्वती और मही के रूप में मातृभूमि, मातृभाषा और मातृ संस्कृति को तीन कल्याणकारी देवियों के रूप में स्मरण किया गया है—

इड़ा सरस्वती मही तिस्रो देवोर्मयोभुवः।

हमें स्मरण रखना होगा कि राष्ट्र का पुरातन दाय हमारे साहित्य के रूप में ही सुरक्षित है। इस शानदार विरासत को भुला कर राष्ट्र की एकता की बात करना छलावा ही है। यों तो भारत जैसे इस विशाल देश में भाषा, भाव, रहन-

सहन, खानपान, मनोरंजन के साधनों, कलाओं तथा मनुष्यों के जीवनयापन के स्तर में सर्वत्र विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है, किन्तु साहित्य और संस्कृत के कुछ ऐसे सूत्र हैं जिनसे इस देश के लोग भावात्मक एकता का सदा अनुभव करते रहे हैं। हमारी राष्ट्रीय संस्कृति को यज्ञ की संस्कृति कहा गया है। यज्ञ की यह धारणा सामुदायिक योगक्षेम की भावना से प्रेरित होकर लोकोपकार के लिए किये जाने वाले निष्काम कर्म का ही दूसरा नाम है। लोक-मंगल और जनहित के लिए किये जाने वाले सभी कार्य यज्ञ के अन्तर्गत आते हैं। इसी यज्ञमयी संस्कृति और उसके प्रस्तोता वेदविद् ब्राह्मणों का उल्लेख हमें इस मन्त्र में मिलता है—

यस्यां सदोहविधाने यूपो यस्यां निमीयते।
ब्रह्मणो यस्यामर्चन्त्यृग्भिः साम्ना यजुर्विदः।
युज्यन्ते यस्यामृत्विजः सोममिन्द्राय पातवे॥

इसी मातृभूमि में हमारे निवास के विविध भवन तथा अन्न रखने के कोठे हैं। हमने जिन विविध यज्ञों का समारम्भ किया, उन्हें निर्दिष्ट करने के लिये नाना यूपों के रूप में यज्ञ स्तम्भों को भी हमने यहीं पर खड़ा किया है। इसी भूमि के निवासी वेद विद् ब्राह्मणों ने यहीं पर रहकर ऋग्वेद की कथाओं और सामवेद के मंत्रों द्वारा परमात्मा का स्तवन किया है। अध्वर्युवेद के ज्ञाता ऋत्विजों ने नाना यज्ञ कर्मों का विस्तार भी इसी धरती पर किया है और उनके द्वारा आहूत इन्द्र ने यहीं पर आकर सोमपान किया है। इस यज्ञरूपा संस्कृति को पुनः-पुनः स्मरण करके ही हम अपने राष्ट्र के अतीत का साक्षात्कार करते हैं और उसे पुनः प्रतिष्ठित करने की बात सोच सकते हैं।

विभिन्न भाषायें बोलने वाले लोग भी एक ही राष्ट्र के नागरिक होते हैं। इन बहुभाषी नागरिकों के नृत्य और गीत इस धरती को आमोद-प्रमोदयुक्त बनाते हैं। राष्ट्र रक्षा में सन्नद्ध योद्धाओं का कोलाहल और उनकी दुन्दुभियों का नाद कायर व्यक्तियों में भी उत्साह का संचार करता है। देश के रक्षक ये वीर मातृभूमि के शत्रुओं को मार भगाते हैं और इस प्रकार उसे शत्रुरहित कर देते हैं। इसी भाव को निम्न मंत्र में दरशाया गया है—

यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्येलबाः।
लुध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां बदति दुन्दुभी।
सा नो भूमिः प्रणुदतां सपत्नानसपत्नं मा पृथिवी कृणोत॥

यह मंत्र इस अभिप्राय को दरशाता है कि राष्ट्र के नागरिक निर्भीक और निर्द्वन्द्व होकर नृत्य, गीत आदि ललित कलाओं का आनन्द लेते रहें। किन्तु प्रजा

जनों का आमोद-प्रमोद और हास-विलास तभी सम्भव होता है जब राष्ट्र की सीमाओं की रक्षा करने वाले सैनिक सजग होकर युद्धघोष करते हुए स्वकर्त्तव्य पर आरूढ रहते हैं तथा वीरों का दुन्दुभिनाद शत्रुओं के हृदय को भय कंपित करता रहता है।

राष्ट्र की एकता और सुरक्षा उसकी सुदृढ़ आर्थिक स्थिति पर भी निर्भर होती है। यदि देश में लगातार अकाल पड़ता रहे, अतिवृष्टि या अनावृष्टि से कृषि का सतत विनाश हो जाय तथा लोगों को भूख के मारे काल-कवलित होना पड़े तो देश आभ्यन्तरिक और बाह्य विपत्तियों का शिकार हो जाता है। उस स्थिति में शत्रुदेश के गुप्तचरों और दुरभिसंधि करने वाले दूतों की बन आती है। अत: वेद में पृथ्वी की कल्पना पर्जन्य-पत्नी (मेघ से पालन की जाने वाली) वर्षमेदसे—वर्षा से स्निग्ध होने वाली तथा व्रीहि और यवादि अन्नों को उत्पन्न करने वाली धरित्री के रूप में की गई है।

राष्ट्र रक्षा में निरत नागरिकों को यह ध्यान देना चाहिए कि यदि उन्हें ऐश्वर्य और विभूति की चाह है तो उसे देने वाली भी यह धरती माता ही है। इसकी पर्वतीय गुफाओं में नाना प्रकार की निधियाँ भरी पड़ी हैं। नाना मूल्यवान मणि, रत्न, स्वर्ण और अन्य वसुओं को प्रदान करने वाली भी यह राष्ट्र लक्ष्मी ही है—

निधिं बिभ्रति बहुधा गुहा वसु मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे।

राष्ट्रीय एकता का अर्थ उसके निवासियों के बाह्य जीवन की विविधताओं के निषेध से नहीं लिया जा सकता। मनुष्य अपने स्वभाव से ही विविधता का प्रेमी होता है। उसकी मानसिक अनुभूतियों, उसकी वाणी और उसके कर्मों में भी हमें भिन्नता दिखाई पड़ती है। राष्ट्रीय एकता कोई ऐसी शक्तिशाली दण्ड विधि नहीं है जिसका प्रयोग कर सभी लोगों को एक ही प्रकार की जीवन-पद्धति जीने के लिये विवश किया जाय। जैसा कि पं० जवाहर लाल नेहरू ने कहा था, हमारा देश विभिन्न फूलों से बना एक सुन्दर गुलदस्ता है जिसमें गुंथे सभी पुष्प अपने नाना रंगों और गंधों के सौन्दर्य को विकीर्ण कर वसुधा को आमोदित करते हैं। यह राष्ट्र उन सभी लोगों को धारण करता है जिनकी भाषाएँ और विचाराभिव्यक्ति के तरीके भिन्न-भिन्न हैं। जो विभिन्न व्यापार-व्यवसायों को स्वीकार कर स्वजीवन निर्वाह में संलग्न हैं। अपने-अपने गुण, कर्म, स्वभाव, योग्यता और सामर्थ्य के अनुसार उन्होंने पारिवारिक और सामाजिक जीवन में विभिन्न भूमिकायें स्वीकार की हैं। "बहुधा विवाचसं जनं बिभ्रती" अनेक प्रकार की वाणियों को बोलने वाले और "नाना धर्माणं जनम् यथौकसम् बिभ्रती" अनेक प्रकार के कर्त्तव्यों में रत मनुष्यों को धारण करने

वाली यह धरती अपने नागरिकों को वैसा ही सुख देती है जैसा एक ही घर में रह कर विभिन्न कर्म करने वाले व्यक्तियों को प्राप्त होता है। मन्त्र का अभिप्राय अत्यन्त स्पष्ट है। विविधता में एकता का यह दिव्य सूत्र वेद के इस मंत्र ने ही हमें दिया है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है राष्ट्र की एकता को स्थिर रखना तथा उसकी सुरक्षा के लिये सतत सावधानी आवश्यक है। एकता को छिन्न-भिन्न करने वाले राष्ट्र द्वेषी लोग हमारे भीतरी और बाहरी छिद्रों की तलाश में रहते हैं। यदि वे अपनी चालाकी और चालबाजी से देशवासियों में फूट और विरोध के बीज बोने में सफल हो जाते हैं तो राष्ट्रीय एकता का विनाश अवश्यम्भावी है। इसी प्रकार देश की सीमाओं की सुरक्षा के लिये आवागमन के राजमार्गों को निष्कण्टक बनाना चाहिए। सीमा तक पहुँचने वाले मार्ग ऐसे होने चाहिए जहाँ सेना की गाड़ियाँ बिना किसी बाधा के शीघ्र पहुँच सकें। यों तो सभी मार्ग सार्वजनिक होते हैं जिन पर चलने का अधिकार अच्छे और बुरे सभी लोगों को प्राप्त होता है—"यैः संचरत्युभये भद्रपापा" किन्तु इन मार्गों को शत्रुओं की पहुँच से परे तथा तस्करों के चौर्य कर्म से रहित बनाने का दायित्व राष्ट्र के सभी नागरिकों के साथ-साथ प्रशासन का भी है।

राष्ट्र के नागरिकों को सभी प्रकार के भयों से मुक्त कराने से भी राष्ट्र की एकता को बल मिलता है। सिंह और व्याघ्र आदि आरण्य पशु जिन्हें इस सूक्त में पुरुषाद: कहा है, उनसे तथा भेड़िये के तुल्य दुष्ट स्वभाव तथा दुष्ट चाल वाले पशुओं से जन-जीवन को सुरक्षित किया जाना चाहिए। पृथ्वी सूक्त के ४९वें मंत्र में इसी भावना को अभिव्यक्त किया गया है।

राष्ट्रीय एकता का सर्वोपरि साधन तो उसके निवासियों की सुदृढ़ संकल्प-शक्ति ही है। जहाँ निर्बल मानसिकता वाले लोगों का बाहुल्य हो जाता है वहाँ राष्ट्र के सम्मुख अनेक विपत्तियाँ आना स्वाभाविक ही है। संकल्पशक्ति को जगाने के लिये मन में ऊर्जा और स्फूर्ति युक्त भावों का लाना आवश्यक होता है। इसी अभिप्राय से निम्न मन्त्र में राष्ट्र का स्वाभिमानी नागरिक कह उठता है—

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम्।

अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिये विरोधी शक्तियों का पराभव करने वाला मैं स्वयं हूँ। मैं प्रशंसनीय कीर्ति वाला हूँ और प्रत्येक दिशा से आने वाली विपत्ति को निःशेष करने की क्षमता मुझे प्राप्त है।

राष्ट्र के गौरव और स्वाभिमान की वृद्धि तभी सम्भव है जब हम सभा और समिति में बैठ कर उसकी प्रशंसा ही करें तथा उसके हितचिन्तन की बातें

सोचें। आत्मगर्हा, निराशा, कुण्ठा और अवसाद की भावना का त्याग किये बिना राष्ट्र की प्रतिष्ठा को स्थिर बनाना कठिन होता है। हम चाहे अपने गांवों की चौपालों और पंचायतों में बैठ कर बातें करें या अरण्यवासी लोगों से संवाद करें, अथवा शासन सभाओं और समितियों में चर्चा करें, हमें सर्वत्र देशहित की ही बात करनी होती। यहाँ तक कि शत्रु से युद्ध की स्थिति में सैनिकों के आत्मबल को बनाये रखने के लिये भी उत्साह के वातावरण को कायम रखना होगा। इसी भाव का द्योत कनिम्न मंत्र है—

ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधिभूम्याम्।
ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते।।

भूमि सूक्त का समापन करते हुए अथर्ववेदकार ने आशीः वचन के रूप में यह कामना की है कि यदि देश के नागरिक राष्ट्र एकता के लिये अपनी प्रतिबद्धता को न केवल शब्दों से अपितु अपने कार्यों के द्वारा प्रकट करें तो वे स्वयं सभी प्रकार के अनिष्टों और रुग्णताओं से अपने को दूर रख सकेंगे। ज्ञान की शक्ति से सम्पन्न होकर वे दीर्घायु प्राप्त करेंगे और अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिये सभी प्रकार के बलिदान देने के लिये सदा तत्पर रहेंगे—

वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम।

पृथ्वी सूक्त की समाप्ति निम्न मंगलकामना के साथ होती है—

भूमे मातर्निधेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम्।
संविधाना दिवा कवे श्रियां मा धेहि भूत्याम्।।

मातृभूमि की कृपा से हम **सर्वमंगल**युक्त होकर अपने जीवन में सुप्रतिष्ठित होवें। इस मातृभूमि की कृपा से हमें और ऐश्वर्य प्राप्त हों।

□

Contribution of Vedanta To National Integration

Dr Ram Murti Sharma

Sanskrit because of having the great ancient philosophical and cultural heritage through the oldest text, the Ṛgveda, the rest of the Vedic literature, mainly the upaniṣads, the Puranas and imbibing in it their great qualities of motherland feeling and the sense of one soul concept can be said as national integration personified. Because of this rich heritage no other language can be paralled to Sanskrit from the point of view of national integration. Its main reason is that the Vedic Ṛṣi Munis had revealed the truth and arrived at the conclusion that there is only one reality "Ekam sad vipra vahudha vadanti." The vedic expressions like "द्यौर्मे पिता पृथिवी मे माता" (काठ० सं० ३७/१५/१६), 'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः" (अथर्ववेद भूमिसूक्त), "मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे" (यजु, ३६/१८). clearly advocate the idea of motherland and world brotherhood, the very needs of national integration. As far as the upanisads are concerned, the statements like "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" have a clear base for national integration. The puraṇas also highly propagate the अखण्डता of Bharatavarṣa quite often. To quote, "गायन्ति देवाः किल गीतिकानि धन्यास्तु ये भारतभूमिभागे। स्वर्गापवर्गास्पदहेतुभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्" ॥ (विष्णु० II ३/२५). "कल्पायुषां स्थानजयात् पुनर्भवात् क्षणात् युषां भारतभूजयो वरम्"। (भाग० ५/१९/२३), 'यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे मुकुन्द सेवोपयिकं स्पृहाहि नः।" (भाग० ५/१९/२१) तथा "आयामस्तु कुमारीतो गङ्गायाः प्रवाहावधिः।" (मत्स्य० ११४/१०) may be mentioned. The impact of

ancient heritage may be clearly seen on poets like Kalidas who says —

आमेखलं सञ्चरतां घनानां छायामधः सान्द्रगतां निषेव्य ।
उद्वेजिता वृष्टिभिराश्रयन्ते शृङ्गाणि यस्यातपवन्ति सिद्धाः ॥—कुमारसम्भव १|५

Thus it is evident that the Vedic and puraṇic impact gave a clear back-ground of national integration to the Sanskritist. Nevertheless it will not be too much to say that the one soul theory of the upaniṣads presents a concrete background for the national integration.

It will be proper to observe that through the philosophical eye in general and Vedanta in particular, one is able to understand the reality of life based on humanistic standards and it may further be added that nation's integration also is based on these in its broad way. Needless to say that the Vedanta or the philosophy of Advaita, which generally advocates the one soul theory is the best known thought on humanistic philosophy which can be said as the soul of national integration. It is because the national integration has the spirit which very much cherishes the idea of oneness of mankind irrespective of cast, creed, community or colour within the territory of a nation. It will not be out of place to mention that the above idea of oneness especially preached by the Advaitins is not only the root of the integration of a nation but also the international integration. Regarding the oneness or non-duality, the essence of national integration, it will not be to exaggarate, that all creatives in the field of Sanskrit literature or Dharmaśāstra, ethies or polity, which directly or indirectly preach or indicate the spirit of nation's integration, have in their integrational background the aforesaid sense of non-dualism of the Vedanta or the upaniṣadic thought. To illustrate, if Manu says that a person does not commit Adharma, if he has the idea of oneness of mankind, if in the Mahabharata Vṛhaspati mentions to Vidura that in pleasure and pain and in the state of dearing and undearing, a man should see

others like himself and if Sugata preaches the concept of non-violance to preach that in all, there is one Ātman, then nobody would kill or harm any one, of then there is found the idea of one soul tenet of Advaita in the back-ground of the above mentioned examples

How the idea of oneness of the Vedic specially upanisadic period, which is the backbone of national integration, was interpreted by vedantins like Śaṅkarācārya is to be observed. Here it may be pointed out that the above idea of the oneness of soul was doctrinized by Advaitins like Śaṅkarācarya, according to whom all the differences and distinctions are apparant only and the reality is Ātman or Brahman. Thus this thought does not leave any place for the big social evil of castism or communalism. The whole purpose of the Vedānta is to obtain the knowledge of the oneself—

आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ताः आरभ्यन्ते ।—ब्र० सू० शां० १/१/१

Śaṅkarācarya, the great exponent of Advaita clearly refutes the evil thinking of difference (between Brāhmaṇa, Kṣatriya, etc, अपेत ब्रह्मक्षत्रादि भेदम् ।—ब्र०सू० शां० १/१/१). Regarding the evil of castism Śaṅkarāchārya clearly says that the creation of castes is based on upādhi, the Agñāna—

नानोपाधिवशादेव जातिनामाश्रमादयः ।
आत्मन्यारोपितास्तोये रसवर्णादिभेदवत् ॥—आत्मबोध

The secular and sociopolitical implications of Advaita Vedānta are also very much significant. In this regard, the Gīta says that for whom the duality or difference does not exist and who have equal view for all, are engaged for the welfare of all[1] Śaṅkara also says that those who are in peace, work for the welfare of the whole world—

शान्ता महान्तो लोकहितं चरन्तः ।

It is interesting to note that the guideline given by

sarvajñātmamuni, a prominent post-Śaṅkara Vedāntin that the sense of equality and truth is the best wealth of a Brahmajñānin, can be suitably successful for the resurrection for the modern day society and for inculcating the cultural values and also to achieve accordingly the result of common harmony—

नैतादृशं ब्राह्मणस्यास्ति वित्तं यथैकता समता सत्यता च ।—मोक्षधर्म १६/६/३५

It is futile to interpret that because the Vedānta advocates the only reality of Brahman, there can not be pleaded any sphere for the wordly behaviour or treatment, on the ground that the Advaitins like Śaṅkarācārya never support the view of empirical reality (व्यावहारिक सत्ता). Here vidyāraṇya also may be quoted who says that the लौकिक व्यवहार is not opposed to the knowledge of ultimate reality or Brahman –

तत्त्ववित्त्वविरोधित्वाल्लौकिकं सम्यगाचरेत् ।—पञ्चदशी ध्यानदीप

Likewise giving importance to householders Śaṅkara says that all fruites ultimately depend on the tree of householders—

सर्वं फलं गेहपतिद्रुमाश्रयम् ।– शं० दिग्० १४/१०३

He also says that what is necessary is the purity of mind, it is immaterial, whether one is a Sanyāsin or a householder—

मनोविशुद्धो गृही भवेत वाऽप्युत मस्करी वा ।— शं० दिग्० १३/५७

Furthermore to support the reality of this world, sarvajñātmamuni says that in this very life, the experience of Vedāntic great sentences like अहं ब्रह्मास्मि is possible He writes—

अत्रैव जन्मनि भवेदपवर्गदायि । वयप्रसूतमनुभूतिफलावसानम् ।– सं० शा० ३/३४६

Thus it becomes clear that the Vedānta is very much meaningful for all sided progress of mankind and national integration and today's world of narrowness of hatred based on castism and the menace of communalism. The culture imbibed in Vedāntic concept of Ekātmavāda has only the remedial measures which can uproot the social evils of the day which are a big hindrence in the path of national integration and the national development. As indicated

earlier the Vedāntic culture based on the nondual philosophical tenet of the Advaitins, has a capacity of uniting the whole mankind in one thread, the way of वसुधैव कुटुम्बकम् । It teaches the lesson of live and let live others and further it advocates a Dharma which does not come in the way of the followers of other Dharmas— स धर्म: यो न बाधते धर्मम् । It is because of this that the Vedāntic thought of soul has influenced the inventors and followers of religions like, Buddhism, Jainism, Mohammadism, Sikkhisim and so on. It may further be mentioned that saints like Nānaka and Kabīr, Rāma Krisṇa Parama hansa and Vivekānanda and modern day's saint, like mother Teressa have a great influence of Vedānta and so there is no other better source for national integration than Vedānta today. Therefore it can be said as a successful approach towards national as well as international integration.

Reference

1. छिन्नद्वैधा यतात्मान: सर्वभूतहिते रता: ।—गीता ५/२५
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ।।—गीता ५/७

□

Indian Philosophical Systems and National Integration

V. N. Jha

Like any other language of the world Sanskrit has a form and a content Its form pervades all our languages which we speak to-day in India This point can be made more clear. Linguistics postulate four levels of language for its study. They are phonological, morphological, syntactical levels and the level of vocabulary. At the phonological level a language exhibits its form namely, the sounds and the sound-sequences; at morphological level it exhibits the form and meaning relationship; at syntactic level it shows the mutual relationship of forms and meanings or content and at the level of vocabulary it provides a list of vocables for choice. Now, if each of us gives mere a glance at our own mother-tongue at all their four levels, it will not take ever a fraction of a second to realise how much impact the Sanskrit language has left upon these languages in which we converse every day from morning till we go to bed, and even in dream Even the non-Indo-Aryan groups of modern Indian languages carry Sanskrit such as Dravidian, Austro-Asiatic at some level or the other, at least at the level of vocabulary. This is what I meant when I said that the form of Sanskrit had pervaded the forms of modern Indian languages.

As regards its content, the same is the story. Since language

encodes the culture in which it is used and since Sanskrit has been the language of culture all through the ages, it has encoded culture not only of a particular period. but it presents a total history of Indian cultures through ages Needless to say, whatever has been the content of Indian culture has been the content of Sanskrit. Even if a rough classification is attempted, the content of Sanskrit can be classified into sixty two groups.[1] There are Sanskrit texts even on sports, agriculture, chemistry, civil engineering, and so on, which concern material life of a person. Likewise, there is a huge treasure in the form of philosophical literature. In fact, it is this treasure which commands respect for Indians all over the globe.

It is an irony of fate that our educational policy has never taken care to see that we acquaint our new generations of students and scholars with this rich heritage, both in form and content, to which we owe every bit of our cultural life. Had we thought of it with full heart and mind, we would not have been forced to the present state of affairs. I shall still appeal to the educational policy makers to give proper thought to the educational curricula at all levels keeping in view the wealth of Sanskrit and the potentiality of Sanskrit which alone can unite India into a single whole, because this is the only language which has no regional smell and which is the language of entire India. of each and every Indian in true sense of the term. Better late, than never.

Coming to our topic proper, I would like to point out that our philosophical systems have no place for narrow-mindedness, which is at the root of all selfishness, hatred which ultimately result into disintigration. The reason is very clear. Our philosophies have never made any individual or any particular place or caste or creed, or any lower goal the content of their thought. In the real spirit of a philosophy, our philosophies have humanity as a whole their concern. There is no place of narrowness at any level.

It is true that the Dharmaśāstras have talked about the

castes, but that discussion too centres around the then social order and there was no smell of regionalism there. It can be observed that our philosophers have never fallen prey to emotion at the cost of rationale or reason. I would like to emphasize this fact with the help of one or two examples from the Mīmāṁsā-darśana. In the 12th adhikaraṇa of the lst pāda of the 6th chapter of Jaimini, there is a discussion on the sentence varṣāsu rathakāro agnīn ādadhīta 'The rathakāra should perform the agnyādhāna rite during the rainy season'. Since the word rathakāra means a caste which does not fall in the catergory of the first three castes and since the rathakāra is not required to undergo the upanayana saṁskāra and since without this saṁskāra a person is not entitled to study the Veda and since without the study of the Veda one cannot perform the agnyādhāna rite, the problem is how to interpret the word rathakāra and the above injunction. The opponent suggests that the statement implies that the first three castes who have adopted carpentry are qualified for the agnyādhāna rite during the rainy season and not any other caste if the etymological sense of the word rathakāra is taken into consideration.[2] But the Siddhāntin maintains that the above explanation is faulty[3], because the conventional sense of a word is preferable to an etymological sense (Yogād Rūdhir balīyasī . Thus, the conventional meaning of the word rathakāra should prevail over its etymological meaning. When the Vedic injunction clearly states that saudhanvana should perform the agnyādhāna, there is no scope for denying it or trying to interpret it in a round about way to suit one's own stand.[4] The vedic sentence authorises that caste to perform the agnyādhāna rite during the rainy season and since such a rite cannot be performed without the knowledge of the relevant portion of the veda, it implies that a saudhanvana has access to the study of the veda to that extent (vacanāt rathakārasya ādhāne, asya sarvaśeṣatvāt Jaimini, 6. 1. 44).

One should note what a rational attitude is maintained here.

No emotion or extra-rational consideration is allowed to play any role here.

In the same pāda the next adhikaraṇa is called niṣādasthapatyadhikaraṇa Here the sentence for discussion is etayā niṣādasthapatim yājayat.[5] Here the problem is about the meaning of the word niṣādasthapati. This compound word can be interpreted in two ways—

(a) niṣādaśca asau sthapatiśca (Karmadharaya)

and (b) niṣādānām sthapatiḥ (Tatpuruṣa)

The first vigrahavākya does not involve any lakṣaṇā and the meaning is the sum total of the meanings of the constituents; where as the second paraphrase needs lakṣaṇā since the meaning of the genetive suffix is to be obtained from the first constituent of the compound namely, niṣāda itself. Thus niṣāda would mean niṣādasambandhin which will then be related to sthapati through the relation of identity. Thus, the second interpretation becomes a secondary interpretation, while the first explanation is primary one and hence the first should prevail (Yogād Ruḍhīr balīyasī; sthapatir niṣādaḥ syat śabdasamarthyat[6]).

Here too I want to point out how the philosopher does not allow the rationale to be overpowered by emotion.

It is this principle of rationality which is the life of Indian Philosophical Systems. They have protected all universal human values. If we summarise the aim of Indian Philosophical Systems we can clearly see that all of these systems talk of some highest goal of life and how that goal could be achieved. That goal is of humanity and not of any particular person or region only. Yatra viśvam bhavatyekanīḍam[7] has been our attitude. It is this Indian Philosophy which might have prompted the statement—

Ayam nijaḥ paro veti
gaṇanā laghu-cetasām/

Udaracaritānām tu
Vasudhaiva kuṭumbakam//
or
yaḥ parān dveṣṭi sa ātmānam dveṣṭi/

When the seer says—

agnim icchadhvam bhārataḥ[8] /

it is a call to unite through vedic culture.

While teaching ethics we are taught to wish wellbeing not only of human being, but of even animals —

śaṁ no astu dvipade
śaṁ catuṣpade//— RV 10/165/1

Our philosophies have althrough advocated with reason, such ethical, moral and universal human values, endowed with which a man cannot hate another man, he can never remain narrow minded.

And when there is no scope for narrowmindedness, there is no scope for regionalism and when there is no regionalism, there is national integration. This is the reason why Mimāṁsā, Nyāya and Advaita originate in Mithila, develop in Bengal and south, are adopted by the entire country and are nurtured in Kāshi. This is the reason why Dignāga refuses to be influenced by brahmanism and walks straight to Nālanda and builds a full Buddhist logical system. Our philosophical systems have taught us to identify our own identities with the ultimate aim of life, respect others opinions, think freely, be tolerant, be ready to sacrifice anything, how-so-ever big that may be, for the cause of values of life, and develop the faculty of reasoning. These are in fact, the most needed factors for National Integration.

References

1. Encyclopaedic Dictionary of Sanskrit On Historical Priciples, Vol. 1, Introduction, Deccan College, Poona

2. Nyāyyo vā karmasaṁyogāt, śudrasya pratiṣicchatvāt.—Jaimini 6/1/45
3. It has been pointed out that if the etymological sense is accepted then the word rathakāra would mean 'one who makes chariot i. e. a carpenter'. But such a profession is prohibited for the first three castes (Akarmatvāt tu naivam syat, Jaimini 6/1/46). It has been further pointed out that the injunctions which enjoin ādhāna for the brahmins etc. already contain the season names like vasanta, varṣa, etc and in that case if this injunction (varṣasu rathakaro agnīn adadhīta) also is accepted as pertaining to the first three castes then this injunction becomes redundant. (Ānarthakyam ca samyogat—Jaimini 6/1/47.
4. Saudhanvanas tu hinatvat mantravarṇat pratīyeran—Jaimini 6/1/50
5. This has reference to the Iṣṭi which is enjoined by the sentence (Raudram carum nirvapet yatra rudraḥ prajaḥ samayet).
6. Jaimini 6/1/51
7. Atharvaveda 2/1/1; Vajasaneyi Saṁhita 32/8; Taittiriya Āraṇyaka 10/1/3; Mahanarayaṇopaniṣad 2/3
8. Taittiriya Āraṇyaka 1/27/2

□

जैन धर्म जैन संस्कृत वाङ्मय तथा राष्ट्र का ऐकात्म्य

डॉ० भागचन्द्र जैन

जैनधर्म भारतवर्ष के प्राचीनतम धर्मों में से एक है। इसके दर्शन, संस्कृत, साहित्य, भाषाशास्त्र और शिल्प ने सुदूर प्राचीन काल से ही राष्ट्रीय चेतना के संवर्द्धन एवं ऐकात्म्य स्थापित करने में महत्त्वपूर्ण अवदान दिया है।

जैनधर्म अपनी विचार एवं जीवन सम्बन्धी व्यवस्थाओं के विकास में कभी किसी संकुचित-दृष्टि का शिकार नहीं बना। उसकी भूमिका राष्ट्रीय दृष्टि से सदैव उदार और उदात्त रही है। उसका यदि कभी-कहीं अन्य धर्मों से विरोध व संघर्ष हुआ है तो केवल इसी उदार-नीति की रक्षा के लिए। जैनियों ने अपने देश के किसी एक-भाग मात्र को कभी अपनी भक्ति का विषय नहीं बनने दिया। यदि उनके अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर विदेह (उत्तर बिहार) में उत्पन्न हुये थे तो उनका उपदेश व निर्वाण हुआ, मगध (दक्षिण बिहार) में। उनसे पूर्व के तीर्थंकर पार्श्वनाथ का जन्म हुआ उत्तरप्रदेश की काशी नगरी में, तो वे तपस्या करने गये मगध के सम्मेदशिखर पर्वत पर। उनसे भी पूर्व के तीर्थंकर नेमिनाथ ने अपने तपश्चरण, उपदेश व निर्वाण का क्षेत्र बनाया भारत के पश्चिमी प्रदेश काठियाबाड़-गिरनार को। सबसे प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ का जन्म हुआ अयोध्या में और वे तपस्या करने गये कैलाश पर्वत पर। इस प्रकार जैनियों की पवित्र भूमि का विस्तार उत्तर में हिमालय, पूर्व में मगध, और पश्चिम में काठियाबाड़ तक हो गया। इन सीमाओं के भीतर अनेक मुनियों व आचार्यों आदि महापुरुषों के जन्म, तपश्चरण, निर्वाण आदि के निमित्त से उन्होंने देश की पग-पग भूमि को अपनी श्रद्धा व भक्ति का विषय बना डाला है। चाहे धर्म प्रचार के लिये हो और चाहे आत्म-रक्षा के लिये, जैन कभी देश के बाहर नहीं भागे। यदि दुर्भिक्ष आदि विपत्तियों के समय वे कहीं गये तो देश के भीतर ही। जैसे पूर्व से पश्चिम को या उत्तर से दक्षिण को। और इस प्रकार उन्होंने दक्षिण भारत को भी अपनी इस श्रद्धांजलि से भी वंचित नहीं

रखा। वहाँ के तमिल के सुदूरवर्ती प्रदेश में भी उनके अनेक बड़े-बड़े आचार्य व ग्रन्थकार हुये हैं, और उनके स्थान उनके प्राचीन मन्दिरों आदि के ध्वंसावशेषों से आज भी अलंकृत हैं। कर्नाटक प्रदेश में श्रवलवेलगोला व कारकल आदि स्थानों पर बाहुबलि की विशाल कलापूर्ण मूर्तियाँ आज भी इस राष्ट्र की प्राचीन कला को गौरवान्वित कर रही हैं। तात्पर्य यह है कि समस्त भारत राष्ट्र, आज की राजनैतिक दृष्टि मात्र से ही नहीं, किन्तु अपनी प्राचीनतम धार्मिक परम्परानुसार भी, जैनियों के लिये एक इकाई और श्रद्धा-भक्ति का भाजन बना है। जैन इस बात का भी कोई दावा नहीं करते कि ऐतिहासिक काल के भीतर उनका कोई साधुओं या गृहस्थों का समुदाय बड़े पैमाने पर कहीं देश के बाहर गया हो और वहाँ उसने कोई ऐसे मन्दिर आदि अपनी धार्मिक संस्थायें स्थापित की हों जिन की भक्ति के कारण उनके राष्ट्र प्रेम में लेशमात्र भी शिथिलता या विभाजन उत्पन्न हो सके।

इस प्रकार प्रान्तीयता की संकुचित भावना इस देश एवं देश-बाह्य अनुचित अनुराग के दोषों से निष्कलंक रहते हुये जैनियों की राष्ट्रभक्ति सदैव विशुद्ध, अचल और स्थिर कही जा सकती है।

राष्ट्रभक्ति केवल भूमिगत ही हो सो बात नहीं है। लोकभावनाओं और लोकमान्यताओं की दृष्टि से भी जैनियों ने सर्वदा अपनी वही उदारनीति रखी है।

१. लोक भावना

भाषा के प्रश्न को ले लीजिये। वैदिक परम्परा में संस्कृत भाषा का बड़ा आदर रहा है, और उसे ही "दैवीवाक्" मानकर सदैव उसी में साहित्य रचना की है। इस मान्यता का यह परिणाम अच्छा हुआ कि उसके द्वारा प्राचीनतम साहित्य वेदों आदि की भली-भाँति रक्षा हुई तथा भाषा भी उत्तरोत्तर उत्कर्ष को प्राप्त हुई। किन्तु उस परम्परा के कोई दो-तीन हजार वर्षों में सर्जित विशाल साहित्य के भीतर तत्कालिक भिन्न प्रदेशीय लोकभाषाओं का कोई प्रतिनिधित्व नहीं हो सका। भगवान बुद्ध ने अपने उपदेश का माध्यम उस समय की लोकभाषा मागधी को बनाया और अपने शिष्यों को यह आदेश भी दिया कि—धर्म उपदेश के लिए लोक-भाषाओं का ही उपयोग किया जाय। किन्तु बौद्ध-परम्परा के साहित्यकार उस आदेश का पूर्णतया पालन नहीं कर सके। उन्हें एक पालि-भाषा से ही मोह हो गया और वह इतना कि लंका, श्याम, वर्मा आदि देशों में जाकर भी उनके साहित्य का माध्यम वही पालि-भाषा बनी रही, और वहाँ की लोक भाषायें जीती-मरती हुई उस साहित्य में कोई स्थान नहीं प्राप्त कर सकीं। जैन तीर्थंकर भगवान् महावीर ने लोकोपकार की भावना से उस समय की सुबोध वाणी अर्ध-मागधी का उपयोग

किया तथा उनके गणधरों ने उसी भाषा में उनके उपदेशों का पालन किया। उस भाषा और उस साहित्य की ओर जैनियों का सदैव आदर भाव रहा है, तथापि उनकी वह भावना कभी भी लोक-भाषाओं के साथ न्याय करने में बाधक नहीं हुई। जैनाचार्य जब-जब धर्म प्रचारार्थ जहाँ-जहाँ गये, तब-तब उन्होंने उन्हीं प्रदेशों में प्रचलित लोक भाषाओं को अपनी साहित्य रचना का माध्यम बनाया। यही कारण है कि जैन साहित्य में ही भिन्न-भिन्न प्रदेशों की भिन्न-भिन्न कालीन शौरसेनी, महाराष्ट्री, अपभ्रंश आदि प्राकृत भाषाओं का पूरा-पूरा प्रतिनिधित्व पाया जाता है।

२. लोक मान्यता

धार्मिक लोक मान्यताओं की भी जैन धर्म में उपेक्षा नहीं की गयी, प्रत्युत उनका सम्मान करते हुए उन्हें विधिवत् अपनी परम्पराओं में यथास्थान सम्मिलित कर लिया है। राम और लक्ष्मण तथा कृष्ण और बलदेव के प्रति जनता का पूज्यभाव रहा है व उन्हें अवतारपुरुष माना गया है। जैन परम्परा ने तीर्थंकरों के साथ-साथ इन्हें भी त्रैसठशलाकापुरुषों में आदरणीय स्थान देकर अपने पुराणों में विस्तार से उनके जीवन-चरित्र का वर्णन किया है। जो लोग जैन पुराणों को हलकी और उथली दृष्टि से देखते हैं वे इस बात पर हँसते हैं कि इनमें महापुरुषों को जैनमतावलम्बी माना गया है। ऐसे महाशयों की दृष्टि वस्तुतः इस तथ्य पर जाना चाहिये कि जैनियों ने कितनी आत्मीयता से उन्हें अपना भी पूज्य बना लिया है, और इस प्रकार अपने तथा अन्य धर्मी देश-भाइयों की भावना की रक्षा की है। रावण व जरासन्ध जैसे अनार्य राजाओं को भी उच्चता और सम्मान का स्थान देकर अनार्य-जातियों की भावनाओं को भी ठेस नहीं पहुँचने दी है। इन नारायण के शत्रुओं को भी प्रति-नारायण का उच्च पद प्रदान किया है। इन पुराणों में हनुमान, सुग्रीव आदि को वानर नहीं किन्तु विद्याधर वंशी राजा माना गया है, जिनका ध्वजचिह्न वानर था। इस प्रकार जैन पुराणों में जो जैन कथाओं का वैशिष्ट्य पाया जाता है यह निरर्थक अथवा धार्मिक पक्षपात की संकुचित भावना से प्रेरित नहीं है। उसका एक महान् प्रयोजन यह है कि उसके द्वारा लोक में औचित्य की हानि न हो और साथ ही आर्य-अनार्य किसी भी वर्ग की जनता को उससे किसी प्रकार की ठेस न पहुँचकर उनकी भावनाओं की भली प्रकार रक्षा हो।

देश में कभी यक्षों और नागों की भी पूजा होती थी और इसके लिये उनकी मूर्तियाँ व मन्दिर भी बनाये जाते थे। प्राचीन ग्रंथो में इस बात के प्रमाण हैं। इनके उपासकों को मूलतः अनार्य माना जाता है। जैनियों ने उनकी हिंसात्मक

पूजा विधियों का तो निषेध किया किन्तु प्रमुख यक्ष, नाग आदि देवी-देवताओं को अपने तीर्थंकरों के रक्षक रूप से स्वीकार कर, उन्हें अपने देवालयों में भी स्थान दिया है।

राक्षस, भूत, पिशाच, आदि चाहे मनुष्य रहे हों अथवा और किसी प्रकार के प्राणी, किन्तु देश के किन्हीं वर्गों में इनकी कुछ न कुछ मान्यता थी जिनका आदर करते हुए जैनियों ने इन्हें एक जाति का देव स्वीकार किया है।

उदारनीति का सैद्धांतिक आधार

जैनियों की उक्त राष्ट्रीय ऐकात्म्य-संस्थापक समन्वयवादी प्रवृत्तियों का आधार है, जैनधर्म की दार्शनिक व सैद्धांतिक पृष्ठभूमि।

जैन दर्शन जीव और अजीव—इन दो तत्त्वों को स्वीकार करता है। उसमें मौलिक तत्त्व एक नहीं, प्रत्युत छह द्रव्यों को माना है। द्रव्य वह है जिसमें सत्तागुण हो,[1] और सत्ता स्वयं त्रिगुणात्मक है। इसके ये तीन गुण हैं—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य।[2]

संसार में चैतन्यगुणयुक्त आत्मतत्त्व भी है, और चैतन्यहीन मूर्तिमान, भौतिक पदार्थ तथा अमूर्तिक काल आकाश आदि तत्त्व भी। ये सभी द्रव्य गुण-पर्यायात्मक हैं। अपनी गुणात्मक अवस्था के कारण उनमें ध्रुवता है, तथा पर्यायात्मकता के कारण उनमें उत्पत्ति-विनाश-रूप अवस्थायें भी विद्यमान हैं। जैन धर्म के इस दार्शनिक तत्त्वज्ञान में ही उसकी व्यापक दृष्टि पायी जाती है, और इसी व्यापक दृष्टि से वस्तु-विचार के लिये उसने अपना प्रख्यात "स्याद्वाद" व "अनेकान्तवाद" रूप सिद्धान्त स्थापित किया है। इस न्याय-सिद्धांत को समझने के लिये अपने सामने रखी हुई टेबिल को ही ले लेते हैं। इसे चैतन्यहीन पाते हैं। इसलिये इसे मात्र जड़तत्त्व ही कह सकते हैं। जड़ तत्त्वों में यह अमूर्त नहीं, किन्तु मूर्तिमान है, इसलिये इसे पुद्गल कह सकते हैं। पुद्गल के नाना भेदों में से यह केवल काष्ठ की बनी है, इसलिये इसे काठ कह सकते हैं और काठ के बने आलमारी, कुर्सी, बेंच, दरवाजे आदि नाना रूपों में से इसके अपने विशेष रूप के कारण हम इसे टेबिल कहते हैं। इस टेबिल में ऊँचाई, लँबाई, चौड़ाई तथा रंग आदि की दृष्टि से अनेक ही नहीं, अनन्त गुण हैं। आपेक्षिक दृष्टि से देखने पर यही टेबिल हमें कभी छोटी और कभी बड़ी, कभी ऊँची और कभी नीची दिखाई देने लगती है। इस प्रकार जब कोई उसे उक्त द्रव्यात्मक, गुणात्मक या पर्यायात्मक नाम से कहता है तब उसमें वास्तविकता की दृष्टि से हमें एकांश सत्य की झलक मिलती है और उससे हमारा तात्कालिक कार्य भी चल जाता है। किन्तु यदि हम उसी आंशिक तथ्य को परिपूर्ण सत्य मान लें, तो यह हमारी भूल होगी। नाना कालों में, नाना देशों में, नाना मनुष्यों में, वस्तुओं को नाना प्रकार से देखा, समझा व वर्णन किया

जाता है। अतएव हमें उन सब कथनों व वर्णनों का ठीक-ठीक दृष्टिकोण समझकर उन्हें अपने ज्ञान में यथास्थान समाविष्ट करना आवश्यक है। यदि हम ऐसा नहीं कर पाते तो पद-पद पर विरोध दिखाई देता है। किन्तु यदि हम भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों को समझकर उनको सामंजस्य रूप से स्थापित कर सकें, तो हमें उस विशाल सत्य के दर्शन होने लगते हैं जो इस जगत् की वास्तविकता है और इसी उद्देश्य से जैनाचार्यों ने देश और काल तथा द्रव्य और भाव के अनुसार भी वस्तु-वैचित्र्य का तिचार करने पर जोर दिया है। इसीलिये समग्र एकान्त रूप दृष्टियों के समन्वय से सम्यग्दृष्टि की उत्पत्ति मानी जाती है।

वस्तुतः प्रत्येक धर्म के दो अंश होते हैं— (१) विचार और (२) आचार। जैनधर्म के विचारों का मूल है—उपर्युक्त स्याद्वाद या अनेकान्तवाद और आधार का मूल है—अहिंसा। न किसी के विचारों के साथ अन्याय हो और न किसी प्राणी के जीवन के साथ खिलवाड़ हो। सब सबके विचारों को सही संदर्भों में समझें और सब सबके जीवन की रक्षा करें। यही "जिनों" के उपदेश का मूल है। इसी से उन्हें 'हितोपदेशी' कहा जाता है। वे किसी व्यक्ति विशेष, वर्ग-विशेष या सम्प्रदाय-विशेष के हित की दृष्टि से उपदेश नहीं देते। वे तो प्राणिमात्र के हित की दृष्टि से उपदेश देते हैं। उनकी वीतरागदृष्टि में सब बराबर हैं। वे कर्म-आचरण की शुद्धता पर जोर देते हैं, जन्मना समाज-व्यवस्था का प्राचीन जैन परम्पराओं में कोई स्थान नहीं है।

जैनधर्म के अनुसार-संसार में अनन्त प्राणी हैं। उनमें से प्रत्येक में जीवात्मा विद्यमान है। ये आत्मायें अपने-अपने कर्मबंध के बल से जीवन की नाना दशाओं, नाना योनियों, नाना प्रकार के शरीरों तथा नाना ज्ञानात्मक अवस्थाओं में दिखाई देती है। किन्तु उन सभी में ज्ञानात्मक विकास के द्वारा परमात्मपद प्राप्त करने की योग्यता है। इस प्रकार शक्तिरूप से सभी जीवात्मा समान हैं। अतएव उनमें परस्पर सम्मान, सद्भाव और सहयोग का व्यवहार होना चाहिये। यही जैन धर्म की जनतंत्रात्मकता है—दूसरे शब्दों में उसे प्राणितन्त्रात्मक कहना अधिक उपयुक्त होगा। अतः जनतंत्रात्मक दृष्टिकोण मनुष्य समाज तक सीमित है, उसे और अधिक विस्तृत व विशाल बनाकर जैन धर्म प्राणिमात्र को अपनी सदस्यता का पात्र स्वीकार करता है। जैन परम्परा के इस वस्तु विचार से स्वभावतः यह ध्वनित होता है कि सभी प्राणियों में परस्पर–अपनी व पराई–दोनों की रक्षा की भावना होनी चाहिये। जब सभी को एक उद्दिष्ट-स्थान पर पहुँचना है और वे एक ही पथ के पथिक हैं, तब उनमें परस्पर साहाय्य की भावना होनी ही चाहिये। इस विवेक का मनुष्य पर सबसे अधिक भार है, क्योंकि मनुष्य में अन्य सब प्राणियों की अपेक्षा अधिक बुद्धि और ज्ञान का विकास हुआ है। परस्पर सहयोग-सद्भाव, अहिंसा सिद्धांत का यही मर्म है।

किन्तु जीवन की विषम और विरोधात्मक वृत्तियों के बीच अहिंसा का पूर्णतया पालन कठिन है। जैन धर्म मनुष्य की इन विषम परिस्थितियों को स्वीकार करके चलता है और इसीलिये अहिंसा पालन में तर-तम प्रणाली को स्थापित करता है। गृहस्थ एक सीमा तक ही अहिंसा का पालन कर सकता है, अतएव उसके लिये अणुव्रतों का विधान किया गया है। उसके आगे महाव्रतों का पालन मुनियों के लिये विहित है।

अहिंसा और अनेकान्तवाद : राष्ट्रीय ऐकात्म्य में परम सहयोगी

हिंसा के ताण्डव और विचार-वैभिन्न्य के झंझावातों में उलझे वर्तमान राष्ट्र को जैन परम्परा के ये दोनों सिद्धान्त ऐकात्म्य संस्थापित करने में परम सहयोगी हैं। अतः राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय नीति के निर्धारण में भी अहिंसा तत्त्व को मूलरूप से स्वीकार किया जा चुका है। अनेकान्त सिद्धान्त वैचारिक उदारता और समन्वयात्मकता का प्रतिपादक है।

अनादिनिधन महामंत्र : राष्ट्रीय ऐकात्म्य का सम्वाहक

जैन परम्परा का मंगल महामंत्र 'णमोक्कार मंत्र' राष्ट्रीय ऐकात्म्य का संवाहक है—

णमो अरहन्ताणं। णमो सिद्धाणं। णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं। णमो लोए सव्वसाहूणं।

इससे ज्यादा सर्वव्यापक और राष्ट्रीय ऐकात्म्य संवाहक मंत्र क्या हो सकता है? इसमें कही जैन सिद्ध या जैन साधु जैसे बोल नहीं मिलते।

मंत्र के अंतिम अंश में—

दुनिया भर के सब साधुओं को नमस्कार किया गया है। साधु यानी आजादी के काम में लगे हुए आदमी। आजादी हासिल करने के लिये चल पड़ने वाला हर आदमी साधु है और नमस्कार के योग्य है।

इस मंत्र का नाम है—नमस्कार मंत्र। हर जैन इस बात का ख्वाहिशमन्द होता है कि मरने से पहले कोई उसके कान में इस मंत्र को पढ़कर सुना दे। गलत राह पर जाने वाली दुनिया यदि इसकी ख्वाहिश करे तो ठीक रास्ते पर चल सकती है।

जैन परम्परा सदैव गुण-आराधक : व्यक्तिपूजक नहीं

उक्त नमस्कार मंत्र के साथ-साथ अन्यत्र सर्वत्र मंगलाचरणों, मंगलवाक्यों,

स्तवनों स्तोत्रों आदि में व्यक्ति विशेष या आराध्य-विशेष का उल्लेख न होकर राष्ट्रीय एकता के सम्वर्द्धक सार्वजनीन विशेषणों का उल्लेख हुआ है—प्रथमशती के आ० उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र का मंगलाचरण—

मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वन्दे तद्गुणलब्धये ।

अन्यच्च

रागादि क्षयमुपागता: यस्य
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो वा जिनो वा नमस्तस्मै ।

यह धारा बीसवीं शती में भी जैन परंपरा में यथावत् उपलब्ध है—देखिए पं० जुगलकिशोर मुख्तार कृत—मेरी भावना ।

आ० कवि मानतुंग (७वीं शती) अपने 'भक्तामर स्तोत्र' में अनेकश: आदि जिन को बुद्ध, शंकर, धाता और पुरुषोत्तम के रूप में स्मरण करते हैं—

बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चितबुद्धिबोधात्
त्वं शंकरोऽसि भुवनत्रय-शंकरत्वात् ।
धातासि धीर शिवमार्गविधेर्विधानात्
व्यक्तं त्वमेव भगवन् पुरुषोत्तमोऽसि ॥२५॥

इसी स्तोत्र के २३, २४, २६ आदि पद्यों में भी इसी प्रकार राष्ट्रीय ऐकात्म्य के संसूचक वर्णन उपलब्ध हैं ।

संस्कृत जैन काव्य

जैन काव्यों का प्रारंभ समंतभद्र और सिद्धसेन के स्तोत्रों से माना जा सकता है । अतएव संस्कृत भाषा में जैन काव्य की परंपरा दूसरी शताब्दी से आरंभ होकर इस बीसवीं शती में भी आ० ज्ञानसागर जी एवं विद्यासागर जी मुनि के काव्यों तक अविराम गति से प्रवर्द्धमान है । किन्तु इन काव्यों में जन्मना वर्णव्यवस्था के प्रति क्रान्ति प्रदर्शित की गयी है । इनमें वर्णित है कि—तप, ज्ञान, त्याग, संयम एवं अहिंसा की साधना के द्वारा मानव मात्र समान रूप से आत्मोत्थान करने का अधिकारी है । अपने पुरुषार्थ द्वारा कोई भी व्यक्ति अपना सर्वाङ्गीण विकास कर सकता है । इस संदेश को संस्कृत के जैन कवियों ने काव्य की मधुर और कल्पनात्मक शब्दावली द्वारा तरंगित एवं प्रेषित किया है ।[१] संस्कृत के जैन काव्य श्रमण संस्कृति के प्रमुख आदर्श स्याद्वाद, विचार समन्वय एवं अहिंसा के पाथेय को अपना संबल

बनाते हैं। इस दृष्टि से आचार्य रविषेण का पद्मचरित, जयसिंहनंदि का वरांगचरित (८वीं शती), वीरनंदि का चन्द्रप्रभ चरित (१०वीं शती), अगम के वर्धमान चरित और शान्तिनाथचरित (१०वीं शती), महासेन का प्रद्युम्नचरित (१०वीं शती), वादिराजसूरि का पार्श्वनाथचरित (१०वीं शती), हरिश्चन्द्र का धर्मशर्माभ्युदय (११वीं शती), आचार्य ज्ञानसागर का जयोदय महाकाव्य (२०वीं शती) आदि-आदि रचनाएँ राष्ट्रीय ऐकात्म्य की सम्बर्द्धक एवं ज्ञापक हैं।

जैन मात्र के लिए छह आवश्यक कर्तव्य निर्धारित हैं—

देवपूजा गुरुभक्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां षट्-कर्माणि दिने दिने ॥

—सोमदेवसूरिः यशस्तिलकचम्पू

इन ६ आदेशों—कार्यों को आत्मसात् कर जैनमात्र आदर्श नागरिक लगता है और राष्ट्रीय एकता के सम्बर्द्धक असंख्य मंदिर, मूर्तियाँ, मानस्तम्भ, स्वाध्याय-शाला-पुस्तकालय-वाचनालय-प्रकाशन संस्थान, साधना निलय, आश्रम आदि का निर्माण तो करता ही है। औषधि, शास्त्र, अभय और आहार दान में प्रवृत्ति कर राष्ट्र में स्वस्थ वात्सल्यमय वातावरण की सृष्टि करता है।

प्रत्येक जैन ध्यान-सामायिक करते हुए कामना करता है—

सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं,
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थमार्गं विपरीतवृत्तौ
सदा ममात्मा विदधातु देव ॥

—आ० अमितगतिः (सामायिक पाठ—१)

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवावि तं नमस्संति, जस्स धम्मे सया मणो ॥

वस्तुतः वात्सल्य भाव ग्रहण करने पर ही व्यक्ति धार्मिक कहला सकेंगे। धर्म-अहिंसा सबके मूल में वात्सल्य भाव है। व्यक्तिगत विकास और सामाजिक विकास की दृष्टि से सम्यवाद के ८ अंगों में एक वात्सल्य अंग भी है। यह राष्ट्रीय ऐकात्म्य का संयोजक है।

जैन गृहस्थ दैनिक पूजन के अन्त में शांति-पाठ और साधु-प्रतिक्रमण (शान्ति भक्ति) पाठ प्रतिदिन करते हुए अपनी भावना व्यक्त करते हैं—

क्षेमं सर्वप्रजानां, प्रभवतु बलवान् धार्मिको भूमिपालः
कालेकाले च वृष्टिं, वितरतु मधवा व्याधयो यान्तु नाशं।
दुर्भिक्षं चौरमारी, क्षणमपि जगतां मा स्म भूज्जीवलोके
जैनेन्द्रं धर्मचक्रं प्रभवतु सततं सर्वसौख्यप्रदायि॥

संपूजकानां प्रतिपालकानां,
यतीन्द्र-सामान्य तपोधनानां।
देशस्य राष्ट्रस्य पुरस्य राज्ञः
करोतु शान्ति भगवान् जिनेन्द्रः॥

जीवन को उन्नत बनाने की कामनापरक आ० पूज्यपाद का यह पद्य भी एक-एक गुणों के सन्निवेश से स्वस्थ समाज की संरचना का परिचायक है—

शास्त्राभ्यासो जिनपतिनुतिः संगतिः सर्वदार्यैः
सद्वृत्तानां गुणगणकथा दोषवादे च मौनम्।
सर्वस्यापि प्रियहितवचो भावना चात्मतत्त्वे,
संपद्यन्तां मम भव-भवे यावदेतेऽपवर्गाः॥

आ० उमास्वामी का यह सूत्र—'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'[४] सम्पूर्ण जैन परम्परा के आदर्श वाक्य के रूप में प्रतिष्ठित है। जैन परम्परा में अहंकार के आठ रूपों[५] को त्याग कर राष्ट्र के नागरिक का विनयशील आदर्श रूप प्रस्तुत है। इसी प्रकार षट् लेश्याओं के माध्यम से भावनाओं का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है।[६]

अन्त में--जैन दर्शन के प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी की इस गाथा से इस आलेख को पूर्ण करता हूँ—

कुसलत्स तवो णितुणस्स संजमो समपरस्स वेरग्यो।
सुदभावणेण तत्तिय, तम्हः सुदभावणं कुमह॥[७]

कुशल व्यक्ति से तप होता है, निपुण व्यक्ति से संयम होता है। समताभावी से वैराग्य होता है और श्रुत की भावना से ये तीनों होते हैं। अतः श्रुत की भावना करो।[८]

पांच व्रतों और इनमें समाविष्ट 'अपरिग्रह' के सिद्धान्त ने भारतीय समाज में समता, समाजवाद और राष्ट्र में ऐकात्म्य संस्थापित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी।

सन्दर्भ

१. सद् द्रव्य लक्षणम् ।—तत्त्वार्थसूत्र, ५/२९

२. उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्तं सत् ।—तत्त्वार्थसूत्र, ५/३०

३. डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री—भारतीय संस्कृति के विकास में जैन वाङ्मय का अवदान, जिल्द—एक, पृ० २१९

४. तत्त्वार्थसूत्र, ५/२

५. ज्ञानं पूजा कुलं जातिः बलमृद्धितपो वपुः ।

६. अष्टावाश्रित्य मानित्वं, स्मयमाहु र्गतस्मयाः ।

—आचार्य समन्तभद्रः रत्नकरंड, २५

७. छह लेश्यायें हैं—(१) कृष्ण (२) नील (३) कापोत, (४) पीत (५) पद्म (६) शुक्ल । इनमें उत्तरोत्तर पवित्रता का विकास परिलक्षित होता है ।

८. रयणसार, १५

□

आचार्य कौटिल्य एवं राष्ट्रीयता

अभिराज डॉ० राजेन्द्र मिश्र

संस्कृत-वाङ्मय में राष्ट्रीयता की अवधारणा अत्यन्त प्राचीन है। वेदों में उपलब्ध सामनस्यसूक्त, पृथ्वीसूक्त, वाक्सूक्त तथा विशेष रूप से यजुर्वेद के २२वें अध्याय की २२वीं कण्डिका में अनुस्यूत भाव[1] विश्व की प्राचीनतम राष्ट्रीयता-अवधारणा का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। इन वैदिक मंत्रों से सुस्पष्ट हो जाता है कि भारतीयों की दृष्टि में तब भी पृथ्वी कोई जड़वस्तु नहीं थी। बह उनके लिये ममता एवं वत्सलता से ओतप्रोत जननी के समान थी। उसी ममता के कारण प्रत्येक व्यक्ति अनुभव करता था कि 'पृथ्वी माँ है और मैं उसका पुत्र हूँ !'[2]

कालान्तर में राष्ट्रीयता की अवधारणा में अनेक युगापेक्षी परिवर्तन भी हुए। राजसत्ता के विवर्त के साथ ही साथ राष्ट्र एवं राष्ट्रीयता के दायरे भी बदले। अमरकोषकार राष्ट्र, राष्ट्रिका तथा राष्ट्रिय शब्दों का प्रयोग करता है। आपाततः ये सभी शब्द एक ही धातु एवं प्रत्यय से निष्पन्न प्रतीत होते हैं। राजते इति राष्ट्रम् (राज् धातु + ष्ट्रन् = राष्ट्रम्) अर्थात् जो अभ्युदयशील हो वही राष्ट्र है। राष्ट्र शब्द से ही राष्ट्री[3] राष्ट्रिका तथा राष्ट्रिय शब्द विकसित हुए होंगे। परन्तु आश्चर्य यह है कि राष्ट्रिका तथा राष्ट्रिय शब्दों का अर्थ राष्ट्र शब्द के वाच्यार्थ से सर्वथा भिन्न है। राष्ट्रिका का अर्थ है—भटकैया और राष्ट्रिय का अर्थ है—राजश्याल।

प्रणोदनी कुली क्षुद्रा दुःस्पर्शा राष्ट्रिकेत्यपि।—अमर० २/४/९४

राजश्यालस्तु राष्ट्रियः।—अमर० १/७/१४

राष्ट्रेऽधिकृतः। राष्ट्रावारपार इति घः।—(४/२/९३)

रचनाप्रक्रिया की समानता के बावजूद भी इन शब्दों का विसंगत अर्थभेद एक लम्बी समाजशास्त्रीय शोध की अपेक्षा करता है। वस्तुतः राष्ट्र अथवा राज्य एक ऐसा बहुआयामी विषय है कि धर्मशास्त्र, स्मृति, महाकाव्य, नाटक, कथा, आख्यायिका, चम्पू एवं राजशास्त्र—सबने स्वयं को उससे जोड़ रखा है। यदि

स्मृतियाँ घोषित करती हैं कि 'राजा कालस्य कारणम्' तो काव्य घोषित करते हैं— 'राजा प्रकृतिरञ्जनात्'। समस्त कलाओं तथा विद्याओं का आश्रय एकमात्र राजा ही है जैसे समुद्र समस्त रत्नों का एकमात्र अधिष्ठान[४]। राजा ही स्वामी होता है राज्य का, और राज्य का ही एक विशिष्ट अंग होता है राष्ट्र।

राष्ट्र एवं राष्ट्रीयता की सर्वाधिक प्रामाणिक व्याख्या हम कौटिलीय अर्थशास्त्र में पाते हैं जो कि निस्सन्देह भारतीय इतिहास में मौर्ययुगीन राजनय का प्रत्यायक दस्तावेज है। अन्य विद्या-निकाय तो राष्ट्र आदि की आनुषङ्गिक व्याख्या करते हैं परन्तु आचार्य कौटिल्य का अर्थशास्त्र तो आद्यन्त राजव्यवस्था के ही विविध पक्षों की व्याख्या करता है। उसकी सबसे बड़ी व्यवस्थापित विशेषता यह है कि वह प्रत्यक्षीकृत व्यावहारिक सत्य का विवेचन करता है।

अमरकोषकार ने सम्भवतः सप्ताङ्ग अथवा अष्टाङ्ग राज्य की अवधारणा कौटिल्य से ही ली होगी। कौटिल्य की दृष्टि में स्वामी (राजा) अमात्य, जनपद (राष्ट्र) दुर्ग, कोश, दण्ड तथा मित्र (इन सातों को समवेत रूप से) प्रकृति कहा जाता है—

स्वाम्यमात्यजनपददुर्गकोशदण्डमित्राणि प्रकृतयः।—अर्थशास्त्र ६/१/१

स्वामी, अमात्य, सुहृत्, कोश, तथा दुर्ग—ये पाँच तो अर्थशास्त्र में तथा अमरकोष में समान रूप से उल्लिखित हैं। कौटिल्य के 'जनपद' तथा 'दण्ड' को अमरकोषकार राष्ट्र एवं बल (सेना) की संज्ञा देते हैं। पौरों की श्रेणी (जनता) को भी आठवीं प्रकृति (विकल्प) मानकर अमरकोषकार ने स्वचिन्तन का विकास प्रदर्शित किया है।[५]

पौर-श्रेणी को भी प्रकृति का अंग मानना स्वयं में एक महत्त्वपूर्ण संकेत है। इससे एक ओर जहाँ साम्राज्य में व्यक्ति-स्वातंत्र्य के समर्थन का संकेत मिलता है वहीं राष्ट्र के योगक्षेम की स्थापना में जनता की सीधे हिस्सेदारी भी सिद्ध होती है। फ्रांस (१७८९ ई०), रूस (१९१७ ई०) तथा भारत (१९४२) की क्रान्तियाँ इस तथ्य की साक्षी हैं कि पौर-श्रेणियाँ (जनताजनार्दन) भी सत्ता परिवर्तित करने की क्षमता रखती हैं। जनता केवल रावण अथवा कंस का अत्याचार ही सहना नहीं जानती, अवसर पड़ने पर वह अन्यायी वेन तथा रामगुप्त का विनाश भी कर सकती है। एक नये सौराज्य की संस्थापना भी कर सकती है।

इन्हीं सातों प्रकृतियों को कौटिल्य राजसम्पत्[६] की संज्ञा (Royal Prosperity) देता है। जब ये प्रकृतियाँ अपने-अपने कार्यों में निष्ठापूर्वक लगी रहती हैं तभी राष्ट्राभ्युदय संभव होता है। इनमें यदि एक भी उत्पथ है तो राष्ट्र का विनाश सुनिश्चित है। रावहम्मीर की पराजय का मुख्य कारण था सेनापति रणमल्ल एवं

कोष्ठागारिक जाहड का अलाउद्दीन से मिल जाना। पुरु की पराजय का कारण था (मित्र) आम्भी का विश्वासघात। राणाप्रताप के पराभव का भी बहुत कुछ कारण था कोश एवं दुर्ग का अभाव।

जनपद अथवा राष्ट्र की स्थापना का जो चित्र आचार्य कौटिल्य प्रस्तुत करते हैं वह युगविशेष का आदर्श होते हुए भी आज अप्राकरणिक नहीं प्रतीत होता है।[७] कौटिल्य जनपद अथवा राष्ट्र के जिन गुणों, अवगुणों की चर्चा करते हैं वे कितने सार्थक हैं इसका सहज अनुमान, आज के भारत की राजनैतिक स्थिति का आकलन करके, लगाया जा सकता है।

यदि आज का भारत (जनपद, राष्ट्र) कौटिल्य की ही तुला पर स्वारक्ष, स्वाजीव, गुप्तगोचर, पशुमान्, अदेवमातृक (किसी सीमा तक), वारिस्थलपथाभ्युपेत, सारचित्रबहुपण्य तथा दण्डकरसह आदि सिद्ध होता है तो यह भी निस्सन्देह सत्य है कि वह 'शक्यसामन्त' अथवा 'शत्रुद्वेषी' नहीं। शक्यसामन्त का अर्थ है पास-पड़ोस में दुर्बल राजाओं से युक्त होना। आज भारत की दुर्दशा का एकमात्र कारण यही है कि उसके पड़ोसी (चीन, पाकिस्तान, नेपाल, बाँगलादेश तथा श्रीलंका) या तो सचमुच दुर्बल नहीं है या फिर आयातित दुश्शक्तियों के कारण सबल बने बैठे हैं।

'शत्रुद्वेषी' का अर्थ कौटिल्य की दृष्टि में यह है कि जनपद अथवा राष्ट्र में—राष्ट्र के शत्रुओं से द्वेष करने वाले लोग अधिसंख्य हों। भारत का दुर्भाग्य यह भी है कि यहाँ भारत विरोधी अभियान के प्रमुख सूत्रधार—अमेरिका एवं पाकिस्तान के प्रशंसकों की कमी नहीं।

यद्यपि राष्ट्र अथवा जनपद राज्य के सात अंगों में से एक विशेष अंग मात्र है, परन्तु कोश, दुर्ग, सेना, राजा, अमात्य तथा शत्रु मित्र सबका अधिष्ठान होने के कारण उसका सर्वाधिक महत्त्व सिद्ध होता है। यही कारण है कि सामान्य जनता की दृष्टि में राष्ट्र अथवा जनपद ही 'राज्य' होता है। वस्तुतः राष्ट्र और राज्य में विशेष-सामान्य अथवा अंग-अंगी का सम्बन्ध उतना सार्थक नहीं प्रतीत होता जितना कि दोनों का पर्यायत्व। यदि जनपद या राष्ट्र ही नहीं तो राजा किसका ? और यदि राजा नहीं तो सेना, दुर्ग, कोष तथा शत्रु-मित्र किसके ? छिन्ने मूले नैव पत्रं न शाखा ! राष्ट्र के बिना राज्य की कोई परिकल्पना ही नहीं सिद्ध हो पाती है।

अब प्रश्न यह है कि राष्ट्रीयता क्या है ? प्राचीन संस्कृत वाङ्मय में तो इस शब्द का प्रयोग मिलता नहीं। यदि कहीं हो भी तो उसका अर्थ भिन्न होगा, जैसा कि पहले निर्देश किया जा चुका है। राष्ट्रीयता का अर्थ होगा राजश्याल होने का भाव। परन्तु वर्तमान सन्दर्भ एवं अर्थ में प्रयुक्त 'राष्ट्रीयता' (राष्ट्रपक्षधर होने का भाव अर्थात् राष्ट्रप्रेमित्व) का उस 'राष्ट्रीयता' से कोई अर्थसाम्य नहीं। संस्कृत व्याकरण की दृष्टि से भी शुद्ध शब्द 'राष्ट्रियता' ही बनेगा न कि राष्ट्रीयता' !

तब फिर भारत के महान् अर्थशास्त्री आचार्य कौटिल्य की दृष्टि में राष्ट्रीयता की आर्थी भावना क्या हो सकती है ? मेरी दृष्टि में, कौटिल्य जिसे 'राजसम्पत्' की संज्ञा देते हैं वही उस युग की राष्ट्रीयता रही होगी। आज भी यथाकथञ्चित् राजसम्पत् (सप्त प्रकृतियों की नैष्ठिक कर्तव्यशीलता) ही वास्तविक राष्ट्रीयता मानी जा सकती है।

राष्ट्रवादी अथवा राष्ट्रप्रेमी होने का भाव ही राष्ट्रीयता है, और यह भाव निष्ठा के बिना कहाँ सम्भव है ? यह निष्ठा दुहरी होनी चाहिये—एक तो अमात्यादि प्रकृतियों की राजा के प्रति और दूसरी ओर प्रकृतियों की एक दूसरे के प्रति। दोनों ही निष्ठाएँ राष्ट्रीयता की स्थापना के लिये अनिवार्य हैं। या फिर यह कहा जाय कि दोनों प्रकार की अनिष्ठाएँ राष्ट्र अथवा राज्य के लिये घातक हैं।

सम्भवत: नयशास्त्रपारग भारवि ने इसी दृष्टि से कहा था—

सदाऽनुकूलेषु हि कुर्वते रतिं
नृपेष्वमात्येषु च सर्वसम्पदः ।।—किरातार्जुनीयम् १/५

सेना की अनिष्ठा का परिणाम तो हम निरन्तर ही देख रहे हैं। बाँगलादेश, पाकिस्तान, ईरान, पनामा, फिजी तथा फिलीपाइन्स की सैन्यक्रान्तियाँ इसका प्रमाण हैं। अमरकोषकार ने जनता (पौराणां श्रेणयस्तथा) को भी आठवीं प्रकृति स्वीकार किया। अभी हाल में ही रूमानिया, नेपाल तथा जर्मनी की जनता ने उन देशों की शासनसत्ता का स्वरूप ही बदल कर अपनी दुर्वार शक्तिमत्ता का परिचय दिया है।

इस प्रकार निश्चित है कि अनिष्ठा चाहे प्रकृतियों के बीच में हो चाहे शासनसत्ता और प्रकृतियों के बीच में—वह राष्ट्रीयता की स्थापना में बाधक अवश्य है। परन्तु यह प्रश्न भी विचारणीय है कि प्रकृतियों में उत्पन्न अनिष्ठा के लिये कौन उत्तरदायी है ? आचार्य कौटिल्य शासक (राजा) को ही जिम्मेदार मानते हैं।

सम्पादयत्यसम्पन्नाः प्रकृतीरात्मवान्नृपः ।
विवृद्धाश्चानुरक्ताश्च प्रकृतीर्हन्त्यनात्मवान् ।।

आत्मसम्पन्न नरेश असम्पन्न (गुणहीन) प्रकृतियों को भी सम्पन्न (गुणयुक्त, राष्ट्रानुरागी) बना देता है। परन्तु अनात्मवान् राजा विवृद्ध एवं अनुरक्त प्रकृतियों को भी नष्ट कर देता है।

संक्षेप में यही राष्ट्रीयता की व्याख्या है। यह बात और है कि भारत की राजनैतिक स्थिति, कौटिल्य के युग से, सर्वथा भिन्न हो गई है। तब भारत में राजतंत्र था, आज लोकतंत्र है। फिर भी राष्ट्रीयता के स्वरूप में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया है। आज भी राष्ट्रीयता की भावना को विकसित करने अथवा विध्वस्त करने का सारा दायित्व राष्ट्र की संसद अथवा उससे भी अधिक प्रशासन

(Ruling Govt.) का है। यदि प्रशासन का मन्त्रिमण्डल कौटिल्य के आदर्श के अनुरूप हो, सेना-कोष-मित्र भी गुणयुक्त हों—तो निश्चय ही राष्ट्रीयता का विकास हो सकता है। महाकवि कालिदास ने तो राजा को भी लोक-सेवक ही स्वीकार किया है।[८] राजा यदि अधिनायक (Dictator) न बन जाय तो राजतंत्र और लोकतंत्र में भेद ही क्या है ?

सन्दर्भ

१. आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूरः······योगक्षेमो नः कल्पताम्।—यजुर्वेद २२/२२

२. माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।

३. अहं राष्ट्री सङ्गमनी वसूनाम्।—वाक्सूक्त

४. सकलभुवनतलरत्नानामुदधिरिवैकभाजनं देवः।—कादम्बरी (कथामुखम्)

५. स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलानि च।
राज्याङ्गानि प्रकृतयः पौराणां श्रेणयोऽपि च॥—अमरकोष २/८/१७

६. अरिवर्जाः प्रकृतयः सप्तैताः स्वगुणोदयाः।
उक्ताः प्रत्यङ्गभूतास्ताः प्रकृता राजसम्पदः॥—अर्थशास्त्र ६/९६/१

७. मध्ये चान्ते च स्थानवानात्मधारणः परधारणश्चापदि स्वारक्षः स्वाजीवः शत्रुद्वेषी शक्यसामन्तः पंकपाषाणोपरविषमकण्टकश्रेणीव्यालमृगाटवीहीनः कान्तः ······इति जनपदसम्पत्।—अर्थशास्त्र ६/९६/१

८. अथवा अविश्रमोऽयं लोकतंत्राधिकारः। कुतः
भानुः सकृद्युक्ततुरङ्ग एव रात्रिन्दिवं गन्धवहः प्रयाति।
शेषः सदैवाहितभूमिभारः षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एषः॥
—अभिज्ञानशाकुन्तलम् ५/४

प्रजाः प्रजाः स्वा इव तंत्रयित्वा निषेवते श्रान्तमना विविक्तम्।—वही ५/५
रक्षायोगादयमपि तपः प्रत्यहं सञ्चिनोति।—वही २/१४

□

श्री अरविन्द की संस्कृत कविता 'भवानीभारती' और राष्ट्रशक्ति का पुनर्जागरण

डॉ० मुरलीधर कमलाकान्त

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में राष्ट्रवादी साहित्य-लेखन की नई लहर लेकर बंगाल के जो कवि-कथाकार सबसे आगे आये, उनमें श्री अरविन्द का नाम अत्यन्त सम्मान के साथ लिया जाना चाहिए । सामान्य वर्ग में श्री अरविन्द की पहचान योगसाधना और अतिमानसिक शक्तियों पर उनकी विजय के कारण है । "लाइफ डिवाइन" और "द सीक्रेट ऑफ वेदा" जैसी विश्व प्रसिद्ध पुस्तकों से उनके औपनिषदिक चिन्तन की झलक मिलती है, परन्तु "सावित्री" महाकाव्य में उनकी आर्षमेधा विश्व की सर्वांगीण चेतना के सम्मुख खड़ी हुई दिखाई देती है । श्री अरविन्द के काव्यसंसार का विपुल अंश बंगला और अंग्रेजी में है जो वैदिक मंत्रों की तरह अपनी रहस्यमयता के लिए प्रसिद्ध है ।

श्री अरविन्द के जीवनक्रम में सन् १९०१ से १९०८ तक का समय उनके व्यक्तित्व-निर्धारण का महत्त्वपूर्ण समय है । इस काल में वे अधिकांशतः बड़ौदा में रहे । उनका विवाह हुआ । "वन्देमातरम्" के माध्यम से उन्होंने राष्ट्र के पुनर्जागरण के लिए कलम उठायी । इसी अवधि में उन्होंने भारतीय वाङ्मय का गहन अध्ययन किया, और रामायण, महाभारत के कुछ अंश, कालिदास के कुछ नाटक, भर्तृहरि के नीतिशतक, विद्यापति और चण्डीदास के कुछ पद अंग्रेजी में अनूदित किए । यही वह समय था, जब उन्होंने राष्ट्रशक्ति के पुनर्जागरण के लिए "भवानीमन्दिर" की महत्त्वपूर्ण योजना बनाई, जिसका उल्लेख श्री अरविन्द सेन्टेनरी वाल्यूम के प्रथम अंक में है ।

भवानीमन्दिर की केन्द्रीय अवधारणा यह थी कि प्रत्येक भारतवासी अपने हृदय में मातृशक्ति का आह्वान करे, और अपने आपको माँ भारती का मन्दिर बन जाने दे । श्री अरविन्द ने इस अवधारणा को भारतीय जनमानस तक पहुँचाने

का उद्योग भी किया। इन्हीं दिनों उनके हृदय में एक अद्भुत संस्कृत कविता ने जन्म लिया, जो कवि की अनुभूतियों एवं साक्षात्कारों को जीवन्तचित्र के रूप में सामने लाती है।

उनशत छन्दों की इस सरल संस्कृत काव्य रचना को श्री अरविन्द कोई नाम नहीं दे पाये। मई १९०८ में इस रचना की पाण्डुलिपि कलकत्ता पुलिस ने जब्त कर ली, और अन्त तक श्री अरविन्द के हाथों नहीं पहुँच पाई। अभी दिसम्बर १९८५ में श्री अरविन्द आश्रम, पाण्डिचेरी के आर्काइव्ज़ एण्ड रिसर्च विभाग ने इसे भवानीभारती (मदर आफ इण्डिया) के नाम से पहली बार प्रकाशित किया है।

''भवानीभारती'' श्री अरविन्द की कविता-यात्रा का पहला सोपान है। उनके महाकाव्य ''सावित्री'' का बीज भी इसी कविता में कहीं छिपा है। यही उनकी एकमात्र पूर्ण संस्कृत कविता कहलाने की अधिकारिणी है। पुनर्जागरण के उस काल में जब तमिल के सुब्रह्मण्यभारती, बंगला के रवीन्द्रनाथ ठाकुर और हिन्दी के मैथिली-शरण गुप्त राष्ट्रीय कविताएँ लिख रहे थे, तब सरल संस्कृत में राष्ट्रीय कविता लिखने का दायित्व श्री अरविन्द जैसे मनीषी ने उठाया। श्री अरविन्द का विश्वास था कि सरल संस्कृत ही राष्ट्र की आत्मिक भाषा है। पुनर्जागरण की चिनगारी के लिए उससे उपयुक्त भाषा दूसरी नहीं हो सकती। इस संस्कृत कविता के माध्यम से कवि भारतवासियों के भीतर ब्रह्मतेज और क्षात्रशक्ति के समन्वय का भाव जगाना चाहता है। वह जानता है कि मनुष्य के अन्दर से काम करने वाली भागवतशक्ति के बिना सार्थक प्रगति सम्भव नहीं है। प्रत्येक भारतवासी को उसके स्वभाव के भीतर अभिव्यक्त होने वाली काली की शक्ति के प्रति सचेत करना राष्ट्र के पुन-र्जागरण की पहली सीढ़ी है।

वास्तव में यह कविता कवि के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व से उठी है। एक तरफ नवविवाहित जीवन की वासन्ती वीथी और दूसरी तरफ भारतमाता की करुण पुकार। कवि इन दोनों में से किसी एक को चुन नहीं पाता। उसे अपनी स्थिति पर बहुत आश्चर्य होता है कि कैसे वह शृंगार के गीत भी गा रहा है, और भारतमाता की वन्दना भी।

> कान्तैश्चशृंगारयुतैश्च हृष्टो
> गानैः स छन्दो ललितं बबन्ध ।
> जगौ च कान्तावदनं सहास्यं
> पूज्ये च मातुश्चरणे गरिष्ठे ॥२॥

कवि जानना चाहता है कि ऐसा क्यों है ? ये दोनों रास्ते अलग-अलग हैं। एक रास्ता भौतिक सुख-सुविधाओं से भरा पड़ा है, और दूसरा रास्ता सब कुछ

छोड़ कर भारतमाता के लिए अपने को समर्पित कर देने का है। द्वन्द्व में घिरा हुआ कवि अचानक अपने ऊपर भारतभवानी के हाथ का स्पर्श अनुभव करता है। वह प्रत्यक्ष देखता है कि भारतभवानी सम्मुख खड़ी है, और उसे बुला रही है। कवि उसे काली के रूप में देखता है, जो नर-अस्थियों की माला और नरमुण्डों की मेखला धारण किये हुए है। भूख से व्याकुल उसकी आँखों में अंगारों सी चमक है। उसकी पीठ पर असुरों के आघात स्पष्ट दिखाई दे रहे थे। भयभीत होकर कवि तत्काल उठ खड़ा होता है, और हृदय में प्रगट हुई भारतभवानी को प्रणाम करता है। भारत-भयानी ने २० छन्दों में देशवासियों का जो आह्वान किया है, वह राष्ट्रीय एकता और अखण्डता के सन्दर्भ में एक अमूल्य निधि है। इस आह्वान पर कवि का चित्त नाच उठता है, और वह घर-बार छोड़ कर, सुख-भोगों को तिलांजलि देकर बाहर निकल आता है—

चित्तं ननर्त्ताशु विहाय सद्म ।
भोगान्विनिर्धूय च निर्जगाम ।।३२।।

"भवानीभारती" के उदयकाल में श्री अरविन्द अपनी पत्नी मृणालिनी देवी को एक पत्र में लिखते हैं कि "लोग अपने देश को जड़ पदार्थ, कुछ मैदान, वन, पर्वत, नदी भर समझते हैं। मैं स्वदेश को माँ मानता हूँ, और उसी की पूजा करता हूँ।" १७ फरवरी १९०७ को लिखे पत्र में उन्होंने स्पष्ट कर दिया कि "अब मैं अपनी इच्छा के अधीन नहीं रहूँगा।"

"भवानीभारती" के ४३वें श्लोक से आगे कवि एक देवी संग्राम को प्रत्यक्ष देखता है। ये श्लोक शक्तिसाधना के वे पद हैं जो किसी वैदिक मंत्र से टक्कर लेते प्रतीत होते हैं। अपने कलेवर को छोड़ कर "भवानीभारती" का सम्पूर्ण विन्यास दुर्गासप्तशती जैसा है। इसमें कवि भारतमाता को महाकाली, महालक्ष्मी और महा-सरस्वती के तीनों चरित्रों में सुसमंजस होते हुए देखता है।

कवि के अनुसार भारत अपने नये जन्म के लिए छटपटा रहा है। जितने भी धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक आन्दोलन हुए हैं, वे हमारी बेचैनी को प्रकट करते हैं। परन्तु कवि सोचने के लिए विवश है कि हम यत्नसिद्धि के अन्तिमचरण तक क्यों नहीं पहुँच पाते। क्या कारण है कि थोड़ी देर के लिए क्रान्ति और आन्दोलन के रूप में प्रेरणा चमक उठती है, और फिर मन्द पड़ जाती है। कवि कहता है कि यह सब शक्ति के अभाव की वजह से है। हमारा ज्ञान तमस् से लदा हुआ है, और हम जघन्य शान्ति में साँस लेने के अभ्यस्त हो चुके हैं। भवानीभारती के शब्दों में लोग पापशान्ति को उसी प्रकार गले लगाये हुए हैं, जैसे अन्धा पुरुष गणिका को।

दीनः क एते घृणिनो दरिद्रा
शान्तिं जघन्यां गणिकामिवान्धाः ।
भजन्ति भोः कापुरुषा विमूढ़ा
आलिंग्य ये मोदथ मृत्युमेव ।।१५।।

जो ब्राह्मण म्लेच्छजनों का चरणामृत पीकर अपने ऊपर गर्व कर रहा है, कवि की दृष्टि में वह शूद्र से भी गया-बीता है। उसकी व्रत-उपासना का कोई प्रयोजन नहीं। कवि की कविता उसे ये सब बाह्य आडम्बर छोड़कर उठ खड़ा होने के लिए उत्प्रेरित करती है—

उत्तिष्ठ भो जागृहि सर्जयाग्नीन्
साक्षाद्धि तेजोऽसि परस्य शौरेः ।।१८।।

उन क्षत्रियों पर भी कवि कटाक्ष करता है जो ऊँचे महलों में विलासिनियों के भ्रूविलास और मदिरा में डूबे हुए हैं, और अपनी जाति की रक्षा करना भूल चुके हैं। उन वैश्यों पर भी वह चोट करता है जो म्लेच्छ सम्पत्ति सजाकर भारत-माता को कंगाल बनाने का कुचक्र रच रहे हैं।

इन सबके बावजूद कवि को पूर्ण विश्वास है कि हमारा राष्ट्र अखण्ड है। उसे कोई ताकत दबा नहीं सकती। जो लोग भारत के पतन की बात सोचते हैं, वे कबि की दृष्टि में तमस् में डूबे हुए हैं और अन्धकारमय जड़ता के शिकार हैं। कवि भारत को सनातन मानता है। उसे प्रतिकूल भाग्य भी नष्ट नहीं कर सकता।

मातास्मि भोः पुत्रक भारतानां
सनातनानां त्रिदश प्रियाणाम् ।
शक्तो न यान्पुत्र विधिर्विपक्षः
कालोऽपि नो नाशयितुं यमो वा ।।१२।।

आखिर कवि के मन में राष्ट्र की कल्पना क्या है ? "भवानीमन्दिर" में इसका उल्लेख करते हुए वे लिखते हैं—"यह कोई भूमि का टुकड़ा, भाषा का अलंकार या मन की कहानी नहीं है। जैसे भवानी महिषमर्दिनी का प्रादुर्भाव करोड़ों देवताओं की शक्ति के मिलने से हुआ था, उसी तरह भारतमाता की एक शक्ति है, जो करोड़ों देशवासियों की शक्ति से मिलकर बनी है। जिस शक्ति को हम भारतवर्ष या भवानीभारती कहते हैं, वह भारत के करोड़ों लोगों की जीवित, जाग्रत शक्ति है।" यही बात "भवानीभारती" में इस तरह उठाई गई है—

शक्तिः पराकोटिषु मानवानां समन्युनां त्वं भवसि प्रबुद्धाः ।। ५८ ।।

कवि देश के सभी प्रान्तों, हिन्दू-मुस्लिम आदि सभी जातियों को एक होकर जाग उठने का आह्वान करते हुए अखण्ड भारत की संकल्पना को दोहराता है—

भो भो अवन्त्योमगधाश्च बंगा अंगा कलिंगा कुरवश्च सिन्धोः ।
भो दाक्षिणात्याः शृणुतान्ध्रचोलाः वसन्ति ये पंचनदेषु शूराः ।।२३।।

ये के त्रिमूर्तिं भजथैकमीशं ये चैकमूर्त्ति यवना मदीयाः ।
माताह्वये वस्तनयान् हि सर्वान् निद्रां विमुंचधवमहे शृणुध्वम् ।।२४।।

श्री अरविन्द राष्ट्र की एकता और अखण्डता को लेकर बहुत विचारशील रहे हैं । १५ अगस्त १९४७ को दिए गए अपने सन्देश में उन्होंने कहा था कि 'भारत स्वतंत्र हो गया है, परन्तु उसने एकता प्राप्त नहीं की है । उसने प्राप्त की है केवल टूटी-फूटी, छिन्न-भिन्न स्वतन्त्रता । ········ जिस तरह भी क्यों न हो, विभाजन दूर होना चाहिए और दूर होकर रहेगा ।''

आज भारत का जो रूप है, वह निश्चय ही कवि की कल्पना के एकदम अनुरूप नहीं है । परन्तु उसने अपनी क्रान्तदृष्टि से जो देखा है, वह मिथ्या भी नहीं है, क्योंकि उसे आर्यशक्तियों के त्याग और आत्म-बलिदान की कथाएँ भूली नहीं हैं—

ते ब्रह्मचर्येण विशुद्धवीर्या
ज्ञानेन ते भीमतपोभिरार्याः ।।१३।।

स्वतन्त्रता के चालीस वर्ष पहले "भवानीभारती" का द्रष्टा कवि स्वाधीन-वृत्ति का आचरण करते हुए उन करोड़ों लोगों को देखता है, जो फिर से वेदमार्गों का अनुसरण कर रहे हैं ।

स्वाधीनवृत्तीनि पुनश्चरन्ति
पश्यामि तान्यागममार्गगाणि ।।९२।।

वह यह भी देख रहा है कि जनमेदिनी आश्रम जीवन की ओर दौड़ी चली जा रही है । सूर्यवंश में जन्मे महान् आर्य सनातन धर्म की रक्षा में रत है, और उज्ज्वला लक्ष्मी अचल रूप से भारत में विराज रही है । कवि का स्वप्न है कि एक न एक दिन राष्ट्रशक्ति के जागरण से यह आर्यभूमि सच्चे अर्थों में जगत् की काशी बन जाएगी ।

पदार्पणेनैव तु पावनेन
सर्वार्यभूमिर्जगतोऽपि काशी ।।९७।।

श्री अरविन्द की यह कविता राष्ट्र के सन्दर्भ में अतीत के गौरव, वर्तमान के कटु यथार्थ और भविष्य की उज्ज्वल आशाओं की दीपशिखा है। इस कविता के प्रयोजन को काव्यशास्त्र की भाषा में "शिवेतरक्षतये" के साथ जोड़कर देखना चाहिए। "भवानीभारती" में राष्ट्र के अभ्युदय और स्वस्ति की भावना सर्वोपरि है। मंत्रशक्ति से उपजी हुई यह रचना राष्ट्रशक्ति के पुनर्जागरण के लिए हमें एक चिरन्तन अग्नि सौंपती है, जो इक्कीसवीं शताब्दी में छलांग लगाने के लिए प्रत्येक भारतवासी की पहली ज़रूरत है।

□

संस्कृतवाङ्मय में अभिवर्णित तीर्थ तथा राष्ट्र ऐकात्म्य

डॉ० रहस बिहारी द्विवेदी

संस्कृतवाङ्मय में विविध तीर्थों, पर्वों और व्रतों का वर्णन प्राप्त होता है। शताब्दियों से भारतराष्ट्रवासी इनके विधिविहित कृत्यों के सम्पादन द्वारा अपने व्यक्तिगत जीवन को व्यवस्थित करते हुए उनके माध्यम से पारस्परिक सौहार्द्र और राष्ट्रीय ऐकात्म्य के प्रति प्रयत्नशील रहे हैं। भारत के प्राचीन ऋषियों, महापुरुषों और कवियों ने अपने राष्ट्रवासियों में ऐकात्म्य की स्थापना, सौहार्द्रपूर्ण समाज और कल्मषरहित जीवन के मार्गदर्शन के लिए प्रभुसम्मित, सुहृत्सम्मित और कान्तासम्मित उपदेश का अवलम्बन कर तीर्थव्रतादि के प्रति आकर्षित किया है। संस्कृतवाङ्मय में वर्णित तीर्थव्रतादि-विधान भारतराष्ट्र की जलवायु और प्राकृतिक परिवेश के अनुरूप वैज्ञानिक धार्मिक सत्प्रवृत्तियों के प्रेरक तथा ऐतिहासिक संसूचनाओं के उद्गाता हैं।

तीर्थयात्राओं, व्रतों एवं पर्वों पर विधीयमान कृत्य शास्त्रीय विधि के साथ सम्पन्न किये जाते हैं। भारतीय धर्मानुप्राणित जनता इनके अनुष्ठान से परम आत्मिक परितोष और शान्ति का अनुभव करती है। इन अनुष्ठानों के करने में शासकीय आदेशों के अनुपालन जैसी कोई प्रतिबद्धता नहीं है। यही कारण है कि सेवारत कर्मचारी और अधिकारी राष्ट्र के शासकीय पर्व पन्द्रह अगस्त और छब्बीस जनवरी के उत्सवों में शतप्रतिशत सम्मिलित नहीं होते, किन्तु अपने धार्मिक अनुष्ठानों में उनकी रुझान अधिक दिखाई देती है।

प्राचीन भारतीय सामाजिक व्यवस्था धर्म पर आधारित रही है। संस्कृत-वाङ्मय में धर्म शब्द अंग्रेजी के रिलीजन का पर्याय होकर संकुचित अर्थ का द्योतक नहीं है। यहाँ धर्म शब्द व्यक्ति और समाज के समग्र कर्त्तव्य का अवबोधक है। मनु ने धर्म को परिभाषित करते हुए लिखा है—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥—मनुस्मृति ६/९२

संस्कृतवाङ्मय में धर्म मानवीय चेतना के उस विकासक्रम का आधार है जिसमें वह अपने असीम स्वरूप को प्राप्त करने का प्रयास करती है। इसमें धर्म शब्द जातिविशेष की ईश्वरविषयक अवधारणा तथा तद्गत कर्मकाण्ड मात्र का अवबोधक नहीं है, लोकोपकार के साधन को धर्म कहा गया है—

यतोऽभ्युदय निःश्रेयस्सिद्धिः सधर्मः ।—वै० सू० १/२

धार्मिक और ईश्वरविषयक विश्वास के कारण सच्चे भारतीय के मन में तीर्थव्रतादि के अनुष्ठान और सत्कर्त्तव्यपालन में पुण्य का सुख और पाप का भय समाया होता है। आज कतिपय भारतीय पारम्परिक भारतीय पर्वों पर विधातव्य व्रतोत्सवादि से विलग रहकर अपने को धर्मनिरपेक्ष कहकर छलते हैं, जबकि धर्मनिरपेक्षता का वास्तविक अर्थ सर्वधर्मसहभाव है। संस्कृतवाङ्मय में धर्मरहित को पशु कहा गया है। धर्म में आस्था रखने वाला व्यक्ति संसार से ऊपर एक परम नियन्ता (ईश्वर) में विश्वास रखने के कारण अनुचित कार्य करना पाप समझता है, अतः अपराध नहीं करता, किन्तु धर्म-रहित व्यक्ति वर्तमान कानून से बच निकलने की पूरी व्यवस्था कर अपराध कर सकता है। जो अपराधी प्रवृत्ति का होकर भी धर्म का मुखौटा चढ़ाए हुए है, वह धार्मिक नहीं कहा जा सकता। दुनिया के किसी भी धर्म में मानव मात्र का हित निहित है। धर्म से धर्म नहीं टकराता, व्यक्ति धर्म की आड़ में अपने कलुषित स्वार्थों की पूर्ति करना चाहता है, इसलिए संघर्ष और टकराव की स्थिति उत्पन्न होती है। संस्कृतवाङ्मय में वर्णित तीर्थव्रतादि का आधार धर्म ही है। तीर्थ, व्रत और पर्वों के माध्यम से समग्र राष्ट्रवासी पारस्परिक सौहार्द्र और ऐकात्म्य की अनुभूति करते हैं। सोलह संस्कारों में भी अनेक ऐसे हैं जिनमें संस्कार के समय संस्क्रियमाण व्यक्ति तीर्थव्रतादि के प्रति प्रतिबद्ध रहने की प्रतिज्ञा करता है। आज अपने को विकसित और आधुनिक कहने वाले व्यक्ति भले ही इनका अनुपालन न करते हों, किन्तु इसके महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता।

संस्कृत वाङ्मय में यह विश्वास अभिव्यक्त दिखाई देता है कि कोई भी संस्कारवान् व्यक्ति तीर्थव्रतादि से विलग नहीं रहेगा। विवाह संस्कार के समय अग्नि, अन्य आवाहित देवताओं तथा गुरुजनों के साक्ष्य में वधू वर से कहती है—"यदि आप तीर्थ, व्रत, उद्यापन, यज्ञ और दान आदि कार्यों में मुझे साथ रखने का वचन दें तभी मैं आपकी वामांगिनी बनूंगी"—

तीर्थव्रतोद्यापन-यज्ञ-दानं
मया सहत्वं यदि कान्त ! कुर्याः ।

वामांगमायामि तदा त्वदीयं
जगाद वाक्यं प्रथमं कुमारी ।।—विवाहपद्धति

इसी प्रकार प्रायः सभी संस्कारों में व्यक्ति को सदाचरण और कर्त्तव्य-पालन के प्रति वचनबद्ध कराया जाता है।

तीर्थव्रतादि के प्रति आकर्षण व्यक्ति के संस्कार में समा जाता है। वह तीर्थादि के न करने पर अपने जीवन को अपूर्ण मानता है। जीवन में एक बार वह सभी तीर्थों में जाना चाहता है। आधुनिक सभ्यता में पिकनिक (वनभोज) की एक प्रथा चल पड़ी है, घूम-फिर कर प्रायः वह कोई न कोई तीर्थस्थल होता है, जहाँ लोग भ्रमण के लिए जाते हैं, किन्तु धार्मिक व्यक्ति ईश्वरीय विश्वास को संजोये हुए जब तीर्थ-स्थानों पर जाता है तो केवल उसके मानसिक कुतूहल की निवृत्ति भर नहीं होती, उसे आत्मिक परितोष मिलता है, वहाँ जाकर वह अपने जीवन को धन्य मानता है, अपनी महत्तम उपलब्धि मानता है।

कदाचित् तीर्थादि का शास्त्रीय विधान न होता तो असंख्य भारतीय कोल्हू के बैल की तरह अपने कार्यस्थल और आवास-स्थल को छोड़कर चतुःसमुद्रान्त-विलोल-मेखला और सुमेरुकैलासबृहत्पयोधरा भारतीय वसन्धुरा के समग्रतः अवलोकन से वंचित रह जाते। तीर्थयात्राओं में पारलौकिक तथा इहलौकिक सुख और शान्ति-प्राप्ति का विश्वास तो निहित ही है, इसका सबसे महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक प्रयोजन राष्ट्र-ऐकात्म्य की स्थापना है। भारत-राष्ट्र के सभी कोणों में तथा मध्यवर्ती अनेक स्थानों पर अवस्थित तीर्थों में जाने का विधान संस्कृतवाङ्मय में उपलब्ध है। इन तीर्थों का मनोहारी वर्णन तथा उनसे प्राप्त होने वाले फलों का निरूपण प्रत्येक व्यक्ति को वहाँ जाने के लिए विवश करता है। परिणामतः कश्मीर से कन्याकुमारी तक यात्रा करनी पड़ती है। इन तीर्थयात्राओं में तत्तत् तीर्थों के निवासी ऐसे यात्रियों को सहयोग प्रदान करते हैं। जब वे यात्री प्रत्येक स्थान पर मिले सहयोग से उपकृत होते हैं तब अपने यहाँ आने वाले तत्तत् स्थानों के यात्रियों का स्वभावतः स्वागत करते हैं। इससे सारे राष्ट्र में सौहार्द्रपूर्ण वातावरण बनता है। तीर्थस्थल समग्र राष्ट्रवासियों की आस्था के केन्द्र होते हैं, इसलिए वे अपने राष्ट्र को खण्डित नहीं होने देना चाहते, क्योंकि अपनी आस्था के केन्द्र में वे निर्बाध भ्रमण करना चाहते हैं। जब कभी ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है कि राष्ट्र का कोई भूभाग पृथक् होने जा रहा है तब सबसे अधिक दुःखी तीर्थों के प्रति आस्था रखने वाला व्यक्ति होता है। भारत-राष्ट्र का एक भी प्रदेश अथवा जिला ऐसा नहीं है, जहाँ कोई न कोई विशिष्ट देवालय या तीर्थस्थल न हो। इसलिए सच्चा भारतीय राष्ट्र की एक इंच धरती को भी अपने से पृथक् नहीं देखना चाहता।

संस्कृतवाङ्मय अथवा संस्कृतभाषा का प्रत्यक्षतः अध्ययन न करने वाला भारतीय भी अपने पारम्परिक संस्कार के कारण प्रातः उठने पर यह संस्कृत श्लोक—

> समुद्रवसने देवि ! पर्वतस्तनमण्डले।
> विष्णुपत्नि ! नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्वमे।

गुनगुनाने लगता है। तीर्थयात्राओं के समय अथवा विविध पर्वों पर भारत-राष्ट्र की विभिन्न पवित्र नदियों में किया गया अवगाहन जिसने तीर्थयात्री के शरीर के साथ मन को भी निर्मल किया है, वह उसे भुला नहीं पाता। दैनिक स्नान के समय नदियों की पावन धाराएँ उसे याद आ जाती है। अपने स्नानीय जल में उन धाराओं का आवाहन करता हुआ गा उठता है—

> गंगे ! च यमुने ! चैव गोदावरि ! सरस्वति !
> नर्मदे ! सिन्धु ! कावेरि ! जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु।

राष्ट्रीय एकता की दुहाई देने वाले किन्तु भारतीय आत्मा को न समझने वाले राजनेता जब कभी इन नदियों के पानी पर भी विवाद करने लगते हैं तब परम्परागत भारतीयों की आत्मा चीख उठती है। इसी प्रकार भारत के विविधतीर्थ भले ही प्रशासनिक दृष्टि से अलग-अलग प्रान्तों में अवस्थित हों, किन्तु परम्परागत भारतीय उन्हें अपने हृदय का स्पन्दन मानकर उनके नामों की आवृत्ति करता रहता है—

> अयोध्या मथुरा माया काशी कांची ह्यवन्तिका।
> पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायिकाः॥

इन तीर्थस्थलों का संस्कृत वाङ्मय में बहुधा वर्णन प्राप्त होता है। यहाँ इनका संक्षिप्त परिचय देने का विनम्र प्रयास किया जा रहा है। अयोध्या (फैजाबाद/अवध/साकेत), मथुरा (मधुरा/मधुपुरी), माया (हरिद्वार/हरद्वार) तथा काशी (वाराणसी) ये चार तीर्थस्थान उत्तर प्रदेश में, अवन्तिका (उज्जयिनी/विशाला/उज्जैन) मध्यप्रदेश में, कांची (कांचीपुरम्/कांजीवरम्) तमिलनाडु में तथा द्वारावती (द्वारका) गुजरात में है। इन सात के अतिरिक्त एक श्लोक के अनुसार जगन्नाथपुरी, तक्षशिला तथा गया की भी तीर्थों में गणना की गई है—

> अयोध्या मथुरा माया काशी कांची ह्यवन्तिका।
> पुरी द्वारावती ध्येया; री तक्षशिला गया॥

इनमें पुरी (जगन्नाथपुरी) उड़ीसा में, तक्षशिला पश्चिमी पंजाब में तथा गया बिहार में है। आदि शंकराचार्य द्वारा राष्ट्र-ऐकात्म्य की स्थापना तथा समग्र भारतवासियों को सत्प्रवृत्ति की प्रेरणा के लिए भारत के चारों कोणों पर पीठों की

स्थापना की गई है। पूर्व में गोवर्धन मठ, दक्षिण में शृंगेरी मठ, पश्चिम में शारदा मठ तथा उत्तर में ज्योतिर्मठ की स्थापना की गई है। इनके माध्यम से दिग्भ्रमित राष्ट्रवासियों को पीठाधीश उचित दिशा प्रदान करते हैं। अद्वैतवेदान्त के माध्यम से मानव से मानव का ही नहीं, जड़ और चेतन में भी भेदबुद्धि समाप्त करने का श्लाघ्य प्रयास किया जाता है जिससे राष्ट्र-ऐकात्म्य को शक्ति प्राप्त होती है।

सप्त मोक्षदायिका पुरियों का संक्षिप्त ऐतिह्य इस प्रकार है—

अयोध्या

यह उत्तरप्रदेश के फैजाबाद जिले में सरयू के किनारे बसी है। श्रीराम की जन्मभूमि होने से प्राचीनकाल से इसकी अतिशय प्रसिद्धि रही हैं। पूर्व उत्तरप्रदेश के जनसाधारण में यह कहावत प्रचलित है—"गंगा बड़ी गोदावरी तीरथ बड़ो प्रयाग, सबसे बड़ी अयोध्या नगरी जहँ राम लियो अवतार।" रामायणकाल में अयोध्या कोशल देश की राजधानी थी—

कोसलोनाम मुदितः स्फीतो जनपदो महान्।
निविष्टः सरयूतीरे प्रभूतधनधान्यवान्॥
अयोध्यानाम नगरी तत्रासील्लोक विश्रुता।
मनुना मानवेन्द्रेण या पुरी निर्मिता स्वयम्॥

—वाल्मीकिरामायण-बालकाण्ड ५५/६, ७

इसका विस्तार लम्बाई में बारह योजन (१४६ कि०मी०) तथा चौड़ाई में तीन योजन (४० कि०मी०) वर्णित है—

आयता दश च द्वे योजनानि महापुरी।
श्रीमती त्रीणि विस्तीर्णा सुविभक्त महापथा॥—वही ५/७

इसकी सड़कों पर प्रतिदिन जल का छिड़काव किया जाता था तथा फूल बिखेरे जाते थे—

राजमार्गेण महता सुविभक्तेन शोभिता।
मुक्तपुष्पावकीर्णेन जलसिक्तेन नित्यशः॥—वही ५/८

इसकी ऊँची अट्टालिकाओं पर पताकाएँ फहराती थीं तथा सुरक्षा के लिए तोपें लगाई गई थीं—

सूतमागधसंबाधां श्रीमतीमतुलप्रभाम्।
उच्चाट्टालध्वजवती शतघ्नीशतसंकुलाम्॥—वही ५/११

रामायण उत्तरकाण्ड (१०८,४) के अनुसार श्रीराम के पश्चात् इसकी स्थिति ठीक नहीं थी। अतः इनके उत्तराधिकारी कुश ने कुशावती नामक नगरी

बसाई थी (द्र०-रघुवंश १६/११-१५)। महाभारत में अयोध्या के दीर्घयज्ञ नामक राजा का उल्लेख है, जिसे भीमसेन ने पूर्वदेश की दिग्विजय के प्रसंग में आसानी से पराजित किया था—

अयोध्यायां तु धर्मज्ञं दीर्घयज्ञं महाबलम् ।
अजयत् पाण्डवश्रेष्ठो नातितीव्रेण कर्मणा ।।—सभापर्व ३०/२

गौतमबुद्ध के समय कोसल के दो भाग (उत्तर तथा दक्षिण) हो गये थे। अयोध्या अथवा साकेत उत्तरकोसल की राजधानी थी तथा श्रावस्ती दक्षिण कोसल की। कालिदास ने इसका कई बार उल्लेख किया है तथा इसे यज्ञ-स्थली बताया है—

जलानि या तीरनिखात यूपा
वहत्ययोध्यामनुराजधानीम् ।
तुरंगमेध्यावभृथावतीर्णै—
रिक्ष्वाकुभिः पुण्यतरीकृतानि ।।—रघु० १३/६१
आलोकयिष्यन् मुदितामयोध्यां ।
प्रासादमभ्रंलिहमारुरोह ।।—रघु० १४/२६

ऐसा प्रतीत होता है कि कालिदास के समय अयोध्या तथा साकेत इसके दोनों नाम प्रचलित थे, क्योंकि वे यथास्थल दोनों का उल्लेख करते हैं, पूर्वोद्धृत पद्य में अयोध्या का उल्लेख है ही ; साकेत का इस प्रकार है—

जनस्य साकेतनिवासिनस्तौ
द्वावप्यभूतामभिनन्द्यसत्त्वौ ।।—वही ५/३१
साकेतोपवनमध्युवास ।—वही ११/७६
साकेतनार्योऽञ्जलिभिः प्रणेमुः ।—वही १४/१३

कालिदास ने सरयू नदी की उत्पत्ति मानसरोवर से बताई है तथा उत्तर-कोसल में अयोध्या के निकट प्रवाहित बतलाया है—

पयोधरैः पुण्य जनांगनानां निर्विष्टहेमाम्बुजरेणुरस्याः ।
ब्राह्मं सरः कारणमाप्तवाचो बुद्धेरिवाव्यक्तमुदाहरन्ति ।।
यां सैकतोत्संगसुखोचितानां प्राज्यैः पयोभिः परिवर्धितानाम् ।
सामान्यधात्रीमिवमानसं मे संभावयत्युत्तरकोसलानाम् ।। रघुवंश १३/६०,६२

दुर्योग की बात है कि जिस अयोध्या नगरी मे यज्ञों के अवशेष तथा श्रीराम की स्मृति में बने मन्दिर ही दिखाई देते थे, मध्यकाल में उसकी वह स्थिति नहीं रहने पाई। आज राम की निशानी सरयू ही अपने मूलरूप में उपस्थित है। यहाँ अनेक

मन्दिर बने हैं जो राम की स्मृति और आस्था संजोकर आने वालों को आत्मिक परितोष प्रदान करते हैं।

यह मुख्यतः वैष्णवतीर्थ है। गोस्वामी तुलसीदास ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ रामचरितमानस की रचना यहीं प्रारम्भ की थी। यहाँ रामजन्मस्थान, कनकभवन, हनुमानगढ़ी आदि विशेष प्रसिद्ध स्थल हैं।[१]

मथुरा

यह भगवान् श्रीकृष्ण की जन्मस्थली तथा भारत की सुप्रसिद्ध नगरी उत्तरप्रदेश के पश्चिमी भाग में यमुना के दक्षिण तीर पर अवस्थित है। वैदिक साहित्य में इसका उल्लेख नहीं प्राप्त होता। वाल्मीकि रामायण में इसे मधुरा नाम से अभिहित किया गया है। इसे मधुदानव का नगर तथा लवणासुर की राजधानी बताया गया है। शत्रुघ्न ने लवणासुर को परास्त कर इस पर शासन किया था—

> एवं भवातु काकुस्थ ! क्रियतां मम शासनम् ।
> राज्ये त्वामभिषेक्ष्यामि मधोस्तु नगरे शुभे ।।
> नगरं यमुनाजुष्टं तथा जनपदान् शुभान् ।
> यो हि वेशः समुत्पाद्य पार्थिवस्य निवेशने ।।
>
> —वा० रा०, उत्तरकाण्ड ६२/ १६, १८

रामायण में इस नगरी की समृद्धि का वर्णन इस प्रकार है—

> अर्द्धचन्द्रप्रतीकाशा यमुनातीरशोभिता ।
> शोभितागृहमुख्यैश्च चत्वरावणवीथिकैः ।
> चतुर्वर्णसमायुक्ता नाना वाणिज्य शोभिता ।।
>
> —रामा०, उत्तर० ७०/११

महाभारत के समय यह शूरसेन की प्रसिद्ध नगरी थी। यहीं श्रीकृष्ण का जन्म वसुदेव की पत्नी देवकी के गर्भ से कारागृह में हुआ था। श्रीकृष्ण मथुरा में ही बसे थे, किन्तु जरासंध के भय से उन्होंने मथुरा छोड़कर द्वारकापुरी बसाई थी—

> वयं चैव महाराज ! जरासन्धभयात् तदा ।
> मथुरां संपरित्यज्य गता द्वारावतीं पुरीम् ।।
>
> —महाभारत-सभापर्व १४/६७

श्रीमद्भागवत (१०/४१, २०-२३) में कंस के समय की मथुरा का मनोहारी वर्णन प्राप्त होता है। हरिवंशपुराण (१/४५ तथा ५५/२-३), विष्णुपुराण (५/६/२८—४०), वायुपुराण (८८/१८५), नारदीय उत्तरार्द्ध

(८०|६८), मत्स्यपुराण (१३/३८) तथा वराहपुराण (१६४/१) प्रभृति ग्रन्थों में मथुरा की समृद्धि और उसके ऐतिह्य का वर्णन प्राप्त होता है। कूर्मपुराण (१/१४-१७) के अनुसार महाराज पृथु ने यहाँ तपस्या की थी । कालिदास ने इन्दुमती स्वयंवर के प्रसंग में शूरसेनाधिति सुषेण की राजधानी के रूप में इसका उल्लेख किया है—

> **यस्यावरोधस्तनचन्दनानां**
> **प्रक्षालनाद्वारिविहारकाले ।**
> **कलिन्दकन्यामथुरांगताऽपि**
> **गंगोर्मिसंसक्तजलेव भाति ।।**

अंगुत्तरनिकाय के अनुसार यहाँ ६०० ई० पूर्व अवन्तिपुत्रो (अवन्तिपुत्र) राज्य करता था तथा गौतमबुद्ध स्वयं यहाँ आये थे। विविधतीर्थकल्प में मथुरा को धर्मरुचि और धर्मघोष इन दो जैन साधुओं का निवास-स्थान बताया गया है। इसमें मथुरा के मण्डीरयक्ष के मन्दिर तथा यहाँ अवस्थित बारह वनों का उल्लेख किया गया है। ये वन हैं—लोहजवन, मधुवन, बिल्ववन, तालवन, कुमुदवन, वृन्दावन, मंजीरवन, खदिरवन, कामिकवन, कोलवन, बहुलावन और महावन। शुंगकाल में शुंग साम्राज्य की राजधानी मथुरा में थी। यह पश्चिमी प्रदेश की राजधानी थी। शोडास अभिलेख के अनुसार उस समय यह वासुदेव कृष्ण की उपासना का प्रमुख केन्द्र थी—

> **वसुना भगवतो वासुदेवस्य महास्थान चतु शालं तोरणवेदिका प्रतिष्ठापित: प्रीतो भवतु वासुदेव: । स्वामिनो महाक्षत्रवस्य शोडास्य संवर्तेयाताम् ।**

ईश्वीय सन् के प्रारम्भ से ३०० ई० तक यहाँ कुषाणों का राज्य था। कुषाणों के बाद गुप्तों का साम्राज्य अवस्थित होने पर यहाँ मूर्तिकला का चरम विकास हुआ। फाह्यान के अनुसार यहाँ देवकुल मन्दिर और विहार बने हुए थे। गुप्तों के बाद हूणों ने शासन किया। सातवीं शती में चीनी यात्री युवानच्वांग ने यहाँ बौद्धधर्म की अवनति का उल्लेख किया है। ११वीं शती में महमूद गजनवी ने श्रीकृष्ण भगवान का विशाल मन्दिर ध्वस्त कर दिया। अकबर के समय यहाँ कुछ भव्य मन्दिर पुनः बनाये गये, किन्तु औरंगजेब ने कट्टर धर्मनीति के कारण इन सबको ध्वस्त कर दिया तथा श्रीकृष्ण के मन्दिर को तुड़वाकर मस्जिद बनवा दी। इसने मथुरा का नाम बदलकर इस्लामाबाद करने का प्रयास किया। १७६१ में मथुरा को पुनः दुर्दिन देखने पड़े। इस बर्बर आक्रान्ता से मथुरा निवासियों ने सात दिन संघर्ष किया, जिसके खूनी संघर्ष में मथुरा में यमुना का पानी लाल पड़ गया।

उक्त अनेक अन्तरायों के बाद भी मथुरा तीर्थस्थली के रूप में स्थित रही।

सोलहवीं शती में मथुरा और वृन्दावन विष्णुभक्ति साधना के प्रमुख केन्द्र बन गये थे। यहाँ के गोस्वामियों में—रूप, जीव, गोपालभट्ट और हरिवंश की अच्छी ख्याति रही। चैतन्य महाप्रभु के समसामयिक वल्लभाचार्य ने प्राचीन गोकुल के अनुकरण पर महावन से एक मील दक्षिण में गोकुल की स्थापना की तथा इसे अपनी भक्तिसाधना का केन्द्र बनाया।

माया

सप्तपुरियों में परिगणित माया का अभिज्ञान सम्प्रति हरिद्वार (उत्तरप्रदेश) के क्षेत्र से किया जाता है। यह शिवालिक की पहाड़ियों में बसा हुआ प्राचीन तीर्थ है। इसका वैशिष्ट्य यह है कि यहाँ ही पहाड़ियों से निकलकर भागीरथी (गंगा) प्रथमतः मैदानी भाग में आती हैं। गंगा के उत्तरी भाग में अवस्थित बदरीनारायण तथा केदारनाथ नामक विष्णु और शिव के तीर्थों के लिए तीर्थयात्री इसी मार्ग से आते हैं। इसलिए इसे हरिद्वार या हरद्वार दोनों ही नामों से अभिहित किया जाता है। इसका एक भाग अभी भी मायापुरी के नाम से जाना जाता है। इतिहास का मत है कि चीनी यात्री युवानच्वांग ने मयूर नाम से इसी का वर्णन किया है। तदनुसार इस स्थान की जनसंख्या बहुत अधिक थी, दूर-दूर से तीर्थयात्री यहाँ आते थे। यहाँ अनेक पुण्यशालाएँ स्थित थी जहाँ निर्धनों को दान दिया जाता था तथा निःशुल्क चिकित्सा की सुविधा उपलब्ध थी।

महाभारत में हरद्वार को गंगाद्वार कहा गया है, यह तीर्थस्थल के रूप में वर्णित है। महाभारत (आदि० २/१३/६) में अर्जुन का अपने द्वादश वर्षीय वनवासकाल में यहाँ निवास करने का उल्लेख है—

स गंगाद्वारमाश्रित्य निवेशमकरोत्प्रभुः।

गंगाद्वार से ही अर्जुन ने पाताल में प्रवेश कर उस देश की राजकन्या उलूपी से विवाह किया था

एतस्याः सलिलं मूर्ध्नि वृषांकः पर्यधारयत्।
गंगाद्वारे महाभाग ! येन लोकस्थितिर्भवेत्॥

—**महाभारत-वनपर्व १४२/९**

इसके अनुसार हरद्वार में ही शिव ने गंगा का जल अपने शिर पर धारण किया था। यद्यपि अगस्त्य ऋषि दक्षिण के माने जाते हैं, किन्तु उनके द्वारा यहाँ तपस्या की गई थी, ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है—

गंगाद्वारमथागम्य भगवानृषिसत्तमः।
उग्रमातिष्ठत तपः सहपत्न्यानुकूलया॥ —महा०-वन०९७,११

हरिबंशपुराण में भी हरिद्वार का तीर्थ के रूप में उल्लेख है—

हरिद्वारे कुशावर्ते नीलके भिल्लपर्वते ।
स्नात्वा कनखले तीर्थे पुनर्जन्म न विद्यते ।।

मत्स्यपुराण में भी ऐसा ही उल्लेख है—

सर्वत्र सुलभा गंगा त्रिषुस्थानेषु दुर्लभा ।
हरिद्वारे प्रयागे च गंगासागर संगमे ।।

मध्यकाल में इस क्षेत्र की कई प्राचीन बस्तियों को जिनमें मायापुरी, कनखल ज्वालपुर और भीमगोंडा मुख्य हैं—सामूहिक रूप में हरिद्वार कहा जाने लगा था। कालिदास द्वारा भी मेघदूत में मेघ के मार्गवर्णन में हरिद्वार (कनखल) का भक्तिभावपूर्ण मनोहारी वर्णन किया गया है--

तस्माद् गच्छेरनुकनखलं शैलराजावतीर्णां
जह्नोः कन्यां सगरतनयस्वर्गसोपानपंक्तिम् ।
गौरीवक्त्रभ्रुकुटिरचनां या विहस्येव फेनैः
शम्भोः केशग्रहणमकरोदिन्दुलग्नोर्मिहस्ता ।।
तस्याः पातुं सुरगज इव व्योम्नि पश्चार्धलम्बी
त्वं चेदच्छस्फटिकविशदं तर्कयेस्तिर्यगम्भः ।
संसर्पन्त्या सपदिभवतः स्त्रोतसिच्छाययाऽसौ
स्यादस्थानोपनतयमुनासंगमेवाभिरामा ।। —पूर्वमेघ ५४, ५५

मेघदूत (५०) में शिवजी द्वारा गंगा को धारण करने का उल्लेख है तथा इसी क्षेत्र में शिव की अवस्थिति और उनकी विधिवत् पूजा का उल्लेख भी कालिदास करते हैं—

तत्र व्यक्तं दृषदिचरणन्यासमर्द्धेन्दुमौलेः
शश्वत्सिद्धैरुपचितबलिं भक्तिनम्रः परीयाः ।
यस्मिन् दृष्टे करणविगमादूर्ध्वमुद्धूतपापाः
संकल्पन्ते स्थिरगणपदप्राप्तये श्रद्धधानाः ।। —पूर्वमेघ ५९

कालिदास जिस प्रकार उज्जयिनी के महाकाल की पूजा के समय मेघ के धीर गम्भीर गर्जन की अपेक्षा करते हैं उसी प्रकार यहाँ की शिवपूजा के समय भी—

शब्दायन्ते मधुरमनिलैः कीचकाः पूर्यमाणाः
संसक्ताभिस्त्रिपुरविजयो गीयते किन्नरीभिः ।
निर्ह्लादस्ते मुरज इव चेत् कन्दरेषु ध्वनिः स्यात्
संगीतार्थो ननु पशुपतेस्तत्र भावी समग्रः ।।—पूर्वमेघ ६०

महाभारत (वन० १३५/५) में इस क्षेत्र में अवस्थित कनखल का भी तीर्थ में वर्णन प्राप्त होता है—

कुरुक्षेत्रसमागंगा यत्र तत्रावगाहिता ।
विशेषो वै कनखले प्रयागे परमं महत् ॥

हरद्वार को सदा ही ऋषियों की तपोभूमि माना जाता रहा है। ऐसी जनश्रुति है कि लक्ष्मण ने भी इसी क्षेत्र में स्वर्गारोहण के पूर्व तपस्या की थी, इसलिए एक स्थान का नाम लक्ष्मणझूला है।

काशी (वाराणसी)

यह उत्तरप्रदेश के पूर्वी क्षेत्र का प्रसिद्ध तीर्थस्थल है। जितनी अधिक प्राक्-कालीनता, नैरन्तर्य और लोकप्रियता काशी को प्राप्त है उतनी किसी नगर को नहीं। यह नगरी लगभग तीन हजार वर्षों से भारत के हिन्दुओं की तीर्थस्थली तथा उसकी सम्पूर्ण धार्मिक भावनाओं का केन्द्र रही है। यह परम्परागत धार्मिक पवित्रता एवं शिक्षा का केन्द्र रही है और आज भी है। हिन्दुओं के अतिरिक्त भगवान् बुद्ध ने ज्ञानप्राप्ति के बाद पहला उपदेश यहीं दिया था तथा जैनियों के तीन तीर्थंकर यहीं उत्पन्न हुए।

इसका प्राचीन नाम वाराणसी तथा लोकव्यवहार में इस समय विशेष प्रचलित नाम बनारस है। प्राचीन आख्यानों से विदित होता है कि काशी एक राज्य था जिसकी राजधानी वाराणसी थी। वाराणसी उत्तर से दक्षिण तक वरणा और अस्सी नदियों से घिरी है तथा इसके पूर्व में गंगा, नगर से सटकर प्रवाहित है। इसके पश्चिम में विनायक तीर्थ है। मत्स्यपुराण (१८४/५०-५२) के अनुसार ढाई योजन (तीस कि० मी०) पूर्व से पश्चिम तथा अर्द्धयोजन (६ कि०मि०) उत्तर से दक्षिण है।

काशी जनपदीयों का प्रथमतः उल्लेख अथर्ववेद की पैप्पलादसंहिता में कोसल तथा विदेहवासियों के साथ मिलता है। वाल्मीकि रामायण में कोसल जनपदों का एकत्र उल्लेख है जिसमें काशी भी सम्मिलित है—

महीं कालमहीं चापि शैलकाननशोभिताम् ।
ब्रह्ममालान् विदेहांश्च मालवान् काशिकोसलान् ॥—किष्क० ४०/२२

डॉ० राजवली पाण्डेय ने पुराणों के आधार पर यह लिखा है कि ऐल (चन्द्रवंश) के क्षत्रवृद्ध नामक राजा ने काशीराज्य की स्थापना की थी। उपनिषदों में यहाँ के राजा अजातशत्रु का उल्लेख है। वह ब्रह्मविद्या और अग्निविद्या का प्रकाण्ड विद्वान् था। वायुपुराण (२/२१, ७४) तथा विष्णुपुराण (४/८, २-१०)—"काश्यपस्य काशेयः, काशिराजः काशिराजगोत्रेऽवतीर्य त्वमष्टधा सम्यगायुर्वेदं करिष्यसि"—

प्रभृति में काशीनरेशों की तालिका भी दी गई है। महाभारत (अनुशा० पर्व ३०/१०) के अनुसार काशी में धन्वन्तरि के पुत्र दिवोदास ने आक्रामक मद्रश्रेण्य के सौ पुत्रों को मार डाला और वाराणसी पर अधिकार कर लिया। इस पर क्रुद्ध होकर शिव ने अपने गण निकुम्भ को भेजकर इसका विनाश करवा दिया। हजारों वर्ष तक काशी खण्डहर के रूप में पड़ी रही। बाद में भगवान् शिव ने आकर स्वयं निवास करना प्रारम्भ किया तब से इसकी पवित्रता बढ़ गई।

स्कन्दपुराण काशीखण्ड (२६/३४) तथा ब्रह्माण्डपुराण (२०/७) के अनुसार वाराणसी शताब्दियों तक इन पांच नामों से जानी जाती रही— वाराणसी, काशी, अविभुक्त, आनन्दकानन और श्मशान अथवा महाश्मशान। स्कन्दपुराण काशी-खण्ड (२६,६७), ब्रह्मपुराण (३३/४९) तथा कूर्मपुराण (१/१३/६३) के अनुसार वरणा और अस्सी नदियों के बीच अवस्थित होने से इसका नाम वाराणसी पड़ा। काशी की अपेक्षा वाराणसी नवीन नाम प्रतीत होता है, किन्तु महाभारतकाल में यह नाम प्रसिद्ध था—

ततो वाराणसीं गत्वाऽर्चयित्वा वृषभध्वजम्।
कपिलाह्लादे नरः स्नात्वा राजसूयमवाप्नुयात्॥—शान्ति० ८४/७८

काशी में विश्वनाथ की आराधना के लिए तीर्थयात्री आया करते थे। वहाँ विश्वनाथ का मन्दिर शताब्दियों से प्रसिद्ध रहा है। ऐसा विश्वास प्रचलित रहा है कि काशी-निवासी को प्रतिदिन गंगा-स्नान कर विश्वनाथ का पूजन करना चाहिए। दुर्योग से औरंगजेब के समय से बाद के बहुत वर्षों तक यह व्यवस्था सुचारु रूप से नहीं चल सकी। तीर्थयात्रियों की सुविधा के लिए विश्वनाथ मन्दिर यत्र-तत्र स्थानान्तरित होता रहा। वर्तमान विश्वनाथ मन्दिर अठारहवीं शती के उत्तरार्द्ध में रानी अहिल्याबाई होल्कर द्वारा बनवाया गया। इसके गुंबज पर महाराजा रणजीत सिंह द्वारा सोना चढ़वाया गया जो आज भी विद्यमान है। मत्स्यपुराण के अनुसार विश्वनाथ की समर्चा के बाद तीर्थयात्रियों को दशाश्वमेध, लोलार्क, केशव, विन्दुमाधव तथा मणिकर्णिका इन पाँच अवान्तर तीर्थों का परिभ्रमण आवश्यक है। इसके अतिरिक्त ज्ञानवापी, दुर्गाकुण्ड, भैरवनाथ मन्दिर, संकटमोचन तथा नवनिर्मित मन्दिरों में हिन्दू विश्वविद्यालय परिसर में अवस्थित विश्वनाथ मन्दिर तथा मानस मन्दिर आदि तीर्थयात्रियों की आस्था के केन्द्र हैं।

पुराणों के अनुसार काशी में रहकर पाप नहीं करना चाहिए, क्योंकि इसके लिए अतिशय कठोर दण्ड का विधान है। तीर्थस्थान होने से यहाँ पूर्वजों के लिए पिण्डदान करने का विधान है। तपस्वियों द्वारा मठों के निर्माण की विशेष प्रशंसा की गई है। स्कन्दपुराण काशीखण्ड (८५/११२/१३) में यह उल्लेख है कि काशी के

उत्तरक्षेत्र में स्थित धर्मक्षेत्र (सारनाथ) विष्णु का निवास स्थान है, यहाँ विष्णु ने बुद्ध का रूप धारण किया था। काशी का प्राचीन साहित्य से लेकर आधुनिकतम कवियों द्वारा सुरुचिपूर्वक वर्णन किया गया है। कुछ दिनों पूर्व प्रणीत आचार्य श्रीनिवास रथ के बलदेवचरित महाकाव्य के वाराणसी वर्णन के कुछ पद्य द्रष्टव्य हैं—

वाराणसीपतिमसावथ विश्वनाथ—
मानन्दकाननपदे मुमुदेऽभिनन्द्य।
नास्त्येव कोऽपि भुवि भारतदेशवासी॥

काशीविहायसि विशिष्य विशेषिताशा
प्रत्यूषपेशलतमा प्रचितप्रकाशा।
विश्वाभिरामसुषमा विषमेक्षणस्य
संलक्ष्यते त्रिजगतीजनवीक्षणीया॥

श्रीविश्वनाथकरुणाप्रगुणीकृताश्री—
वाराणसीसुरधुनी दुरितं धुनोति।
पापात्मनामपि सकृत्सवनेन सार्द्धं—
मह्नायसाभुवि पुनर्जननं हिनस्ति॥

स्रोतस्विनी भुवि निणीतजला प्रयागे
या गीयते भगवती सृजती त्रिवेणीम्।
काश्यां सदा बुधसभासु सरस्वती सा
प्रस्यन्दतेऽद्भुतरसा तरसानुगंगम्॥—बलदेवचरित, ४/१,३,४,६

कांची (कांचीपुरम्/कांजीवरम्)

मोक्षदायिका सप्तपुरियों में परिगणित कांची दक्षिण की काशी मानी जाती है। यह तमिलनाडु के मद्रास नगर से ७० किलोमीटर के लगभग दक्षिण-पश्चिम की ओर स्थित है। ऐसी जनुश्रुति है कि इस क्षेत्र में ब्रह्मा ने देवी के दर्शन के लिए तपस्या की थी। कांची विष्णु और शिव दोनों देवों की आराधना स्थली है। इसके दो भाग हैं—शिवकांची तथा विष्णुकांची। प्रसिद्ध कामाक्षी मन्दिर यहीं है जिसे शक्तिपीठ कहा जाता है। दक्षिण भारत के पंचतत्त्वलिंगों में और भूतत्त्वलिंगों में कुछ मतभेद है। कुछ लोग कांची के एकाम्रेश्वर लिंग को भूतत्त्वलिंग मानते हैं और कुछ लोग तिरुवायूर की त्यागराजलिंग मूर्ति को। ब्रह्माण्डपुराण के ललितोपाख्यान में इस तीर्थ का माहात्म्य अधोलिखित रूप में वर्णित है—

रहस्यं संप्रवक्ष्यामि लोपामुद्रापते शृणु।
नेत्रद्वयं महेशस्य काशी कांची पुरीद्वयम्॥

अपना प्रगाढ़ अनुराग व्यक्त किया है। मेघदूत में यक्ष मेघ से उज्जयिनी का मार्ग वक्र होने पर भी वहाँ जाने को कहता है—

> वक्रः पन्था यदपि भवता प्रस्थितस्योत्तराशां
> सौधोत्संग-प्रणय विमुखो मा स्प भूरुज्जयिन्याः।—पूर्वमेघ २७

कालिदास के समय उज्जयिनी और अवन्ती दोनों नाम प्रचलित थे, वे अवन्ती का भी प्रयोग करते हैं—"प्राप्यावन्तीमुदयनकथाकोविदग्राम वृद्धान्।"—वही ३२। रघुवंश महाकाव्य में वे अवन्ती, महाकाल तथा सिप्रा का पुनः उल्लेख करते हैं—

> अवन्तिनाथोऽयमुदग्रबाहुर्विवृशालवक्षास्तनुवृत्तमध्यः ।
> आरोप्यचक्रभ्रममुष्णतेजास्त्वष्ट्रेवयत्नोल्लिखितो विभाति ।।
> असौ महाकालनिकेतनस्य वसन्नदूरेकिल चन्द्रमौलेः ।
> तमिस्रपक्षेऽपि सहप्रियाभिर्ज्योत्स्नावतो निर्दिशति प्रदोषान् ।
> अनेन यूना सह पार्थिवेन रम्भोरु ! कच्चिन्मनसोरुचिस्ते ।
> सिप्रा तरंगानलकम्पितासु विहर्तुमुद्यानपरम्परासु ।।—रघुवंश ६/३२, ३४-३५

उज्जयिनी के महाकाल में कालिदास की प्रगाढ़ आस्था है। उनका यक्ष कहता है—"मेघ ! तुम किसी समय, उज्जयिनी पहुँचो, किन्तु तब तक अवश्य रुकना जब तक सायंकाल हो जाय, क्योंकि सायंकाल महाकाल की आरती में तुम्हें पटह की ध्वनि में अपने धीर गम्भीर गर्जन को मिलाने का परम फल प्राप्त करना है—

> अप्यन्यस्मिन् जलधर ! महाकालमासाद्य काले
> स्थातव्यं ते नयनविषयं यावदत्येति भानुः ।
> कुर्वन् सन्ध्या-बलि-पटहतां शूलिनः श्लाघनीया-
> मामन्द्राणां फलमविकलं लप्स्यसे गर्जितानाम् ।।

देश के ५१ शक्तिपीठों में उज्जयिनी एक सिद्धपीठ है। यहाँ का हरसिद्धि मन्दिर यहाँ का सिद्धपीठ माना जाता है। महर्षि सन्दीपनि का आश्रम यहीं है जहाँ श्रीकृष्ण और सुदामा ने अध्ययन किया था। भर्तृहरि की गुफा का अवशेष यहाँ है, जिससे अतीतकाल में राजा भर्तृहरि का यहाँ निवास सिद्ध होता है। उज्जयिनी के स्मारकों में विधिवत् अवस्थित महाकाल का मन्दिर सिप्रा के तट पर है। यहाँ ज्योतिर्लिङ्ग प्रतिमा भूमि से कुछ निचले हिस्से में प्रतिष्ठापित है। इस मन्दिर का पुनर्निर्माण रणोजि सिन्धिया के मंत्री रामचन्द्र बाबा ने उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में करवाया था। इतिहासवेत्ताओं के अनुसार भर्तृहरि की गुफा सम्भवतः ग्यारहवीं शती का अवशेष है। यहाँ की प्रसिद्ध वेधशाला जयपुरनरेश जयसिंह द्वितीय ने १७३२ ई० में बनवाई थी तथा उसका जीर्णोद्धार १९२५ में पुनः किया गया।

उज्जयिनी से एक मील उत्तर में दूसरी-तीसरी शती के अवशेष भैरवगढ़ में पाये गये हैं।

उज्जयिनी आज भी शिक्षा का केन्द्र है। यहाँ विक्रम विश्वविद्यालय है। यहाँ प्रतिवर्ष अखिल भारतीय कालिदास समारोह कार्तिक शुक्ल एकादशी से प्रारम्भ होकर एक सप्ताह तक चलता है। प्रतिवर्ष आयोजित किये जाने वाले समारोहों में यह राष्ट्र का सबसे बड़ा आयोजन है जहाँ देश के सैकड़ों संस्कृतज्ञ एकत्र होकर कालिदास साहित्य पर चर्चा करते हैं तथा कलाकार सांस्कृतिक कार्यक्रम प्रस्तुत करते हैं। शासन द्वारा इसके सम्यक् संचालन के लिए यहाँ कालिदास एकेडमी की स्थापना की गई है।

द्वारावती (द्वारका)

यह भी सात पवित्र पुरियों में अन्यतम है। यह सौराष्ट्र (गुजरात) में पश्चिमी समुद्र के निकट द्वीप पर बसी हुई है। इसी स्थान पर एक नगरी थी जहाँ के राजा रैवतक थे। श्रीकृष्ण ने जरासंध से बचने के लिए मथुरा छोड़कर यहाँ अपनी सुरक्षित राजधानी बनाई थी। श्रीकृष्ण के जीवन से सम्बद्ध होने के कारण तीर्थ के रूप में प्रतिष्ठित है। महाभारत के सभापर्व में द्वारका का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। यह बहुत व्यवस्थित और सुन्दर रीति से बसाई गई थी—

पद्मषंडाकुलाभिश्च हंससेवितवारिभिः ।
गंगासिन्धुप्रकाशाभिः परिखाभिरलंकृता ॥
प्राकारेणार्कवर्णेन पाण्डुरेण विराजिता ।
वियन्मूर्ध्नि निविष्टेन द्यौरिवाभ्रपरिच्छदा ॥

पूर्व दिशा में महाकाय रैवतक पर्वत (वर्तमान गिरनार) उसके आभूषण के समान शोभित वर्णित है—

भाति रैवतकः शैलो रम्यसानुर्महाजिरः ।
पूर्वस्यां दिशि रम्यायां द्वारिकायां विभूषणम् ॥

इस नगरी के पचास प्रवेश द्वार थे—

महापुरीं द्वारावतीं पंचशद्भिर्मुखैर्युताम् ॥

द्वारका की लम्बाई बारह योजन तथा चौड़ाई आठ योजन थी तथा इसका उपनिवेश परिमाण में दुगना था—

अष्टयोजनविस्तीर्णामचलां द्वादशायतीम् ।
द्विगुणोपनिवेशां च ददर्श द्वारकापुरीम् ॥

इसके आठ राजमार्ग तथा सोलह चौराहे थे—

अष्टमार्गा महाकक्ष्यां महाषोडशचत्वराम् ।
एवं मार्गपरिक्षिप्तां साक्षादुशनसा कृताम् ।।

श्रीकृष्ण के भवन का निर्माण स्वयं विश्वकर्मा ने किया था । यह चार योजन लम्बा-चौड़ा तथा प्रासादों और क्रीड़ा पर्वतों से युक्त था—

साक्षाद् भगवतो वेश्मरचितं विश्वकर्मणा ।
ददृशुर्देवदेवस्य चतुर्योजनमायतम् ।।
तावदेव च विस्तीर्ण अप्रमेयं महाधनैः ।
प्रासादवरसम्पन्न युक्तं जगति पर्वतैः ।।

विष्णुपुराण (५/३८/९) से विदित होता है कि इतनी रमणीय पुरी श्रीकृष्ण का भवन छोड़कर समुद्र में डूब गई—

प्लावयामास तां शून्यां द्वारकां च महोदधिः ।
वासुदेवगृहं त्वेकं न प्लावयति सागरः ।।

ऐसी जनश्रुति है कि श्रीकृष्ण के भवन के स्थान पर ही वज्रनाभ जी ने रणछोड़ जी का मूल मन्दिर बनवाया था । वर्तमान मन्दिर अधिक पुराना नहीं है, किन्तु बज्रनाभ के मूलमन्दिर के स्थान पर है । यह परकोटे से घिरा है तथा सात मंजिल का है । इसके उच्च शिखर पर संसार की सबसे विशाल ध्वजा फहराती है । महाभारत से मिलता-जुलता वर्णन श्रीमद्भागवत (१०/५०/५०-५२) में भी प्राप्त होता है । महाकवि माघ ने भी अपने शिशुपालवधम् महाकाव्य (३/३३-६३) में द्वारकापुरी का वर्णन किया है । कुछ पद्य अवलोकनीय हैं—

मध्ये समुद्रं ककुभः पिशंगीर्या कांचनवप्रभासा ।
तुरंगकान्तामुख दृव्यवाहज्वालेव भित्वा जलमुल्ललास ।।
कान्तेन्दुकान्तोपलकुट्टिमेषु प्रतिक्षपं हर्म्यतलेषु यत्र ।
उच्चैरधः पातिपयोमुचोऽपि समूहमूहुः पयसां प्रणाल्यः ।।
शुकांगनीलोपलनिर्मितानां लिप्तेषु भासा गृहदेहलीनाम् ।
यस्यामलिन्देषु च चक्रुरेव मुग्धांगना योमय गोमुखामि ।।

इन तीर्थों के अतिरिक्त भारत के अनेक तीर्थस्थलों का वर्णन संस्कृत वाङ्मय में उपलब्ध होता है । इनका विशिष्ट परिचय इस लेख में सम्भव नहीं है । अतः उनका उल्लेख मात्र किया जा रहा है—उत्तरप्रदेश में—'तीर्थराज प्रयाग, उत्तर काशी, चित्रकूट, पृप्पूदक,' उड़ीसा में—'कोणार्क, जगन्नाथपुरी,' बिहार में—'गया, वैद्यनाथधाम, श्रृंगतीर्थ,' महाराष्ट्र में —'करवीर, मध्यप्रदेश में माहेश्वर,' हरियाणा में

कपिष्ठल, हिमांचल में कांगड़ा, तमिलनाडु में अरुणाचलम्, रामेश्वरम्, मदुराई (दक्षिण मथुरा), राजस्थान में पुष्कर, गुजरात में सोमनाथ (प्रभासक्षेत्र) आदि अनेक तीर्थस्थान अतीतकाल से भारतीय जनता के आस्था के केन्द्र रहे हैं।

प्रत्येक सच्चे धार्मिक भारतीय के मन में कम से कम एक बार इन तीर्थों में जाने की ललक होती है। वह प्रत्येक तीर्थ में निर्बाध रूप से जाना तथा अवस्थित अपने आराध्य की अर्चना करना चाहता है। अतः वह कभी नहीं चाहेगा कि हमारा राष्ट्र खण्डित हो। इन तीर्थों में सच्ची आस्था रखने वाला व्यक्ति इन्हें अपने से कभी अलग नहीं देखना चाहेगा। प्राचीन ऋषियों, मुनियों, महापुरुषों और कवियों ने इनके माहात्म्य तथा रमणीयता का वर्णन कर सारे राष्ट्र को एक सूत्र में बांधने का श्लाध्य प्रयास किया है।

सन्दर्भ

१. अयोध्या के विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य—डॉ० विकलवरण लाहा का अयोध्या पर निबन्ध (जर्नल ऑफ गंगानाथ झा रिसर्च इन्स्टीट्यूट, इलाहाबाद, जिल्द। पृ० ४२३-४३।

□

The concept of Nations Unity in the Samhitās

Dr. M. D. Paradkar, Bombay

Ṛgveda uses verious words in connection with the universe and its different regions that throw light on the Vendic Notions about the nature and structure of the universe. The significance of words such as *pṛthivī* (entended), mahi (great), urvi (wide) and bhūmi (that which has come into being seconderily *bhūman* (amplitude) denoting earth has to be understood. The same can be said of the words *dyaus* (shining), *rocana* (realm of light) and *vyoman* (from the root yu with *vi* (that which has been held apart.) It is pertiment to recall the detailed study of the concept of *loka* by Gonda,[1] who has pointed out that *loka* originally connected with light represents the diversification of the primordial cosmic unity. It is also shown by Gonda that the term *bhuvana*[2] can also preferably be understood in the sense of 'the whole aggregate of what has come and is coming into being. The word *vis'va* used as a substantive in the Ṛgveda denotes 'all everything' and seems to imply an 'organic whole'. Gonda opines that *vis'va* denotes analytical and enumerative totality while *sarvam* in the Rgveda connotes synthetical totality, completenss, integrity.[3]

It is true that the cult of the earth suggested by Barley in his article 'The Beneficient earth' (K. R. Cama, Oriental Institute-Golden jubilee Vol. 1969; pi-3) does not appear to exist in the Ṛgveda. although Rgveda V-84 a shorthymn is addressed to the

earth and speaks of दृलहा चिद् या वनस्पतीन् क्षमया दर्शंव्योर्जसेन Nevertheless, it is possible to say that beginnings of Indo-Germanic earth goddess spoken of by Vittore Pisani are seen in the Rgveda although here the emphasis is on the earth as a physical entity. The fact that it can have a distinct moral ethical character bringing it close to the rather modern concept of nation is clearly borne out by famous *Pṛthivi sūkta* of the Atharvavedas (XII). Before proceeding to the analysis of this famous sukta, it will be pertinent to refer to Yajurveda I. 27 speaking of गायत्रेण त्वा छन्दसा परिगृह्णामि, त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि which significantly speaks of the motherland or the nation which is to be protected by गायत्र छन्द symbol for offering one's own life as well as running to its succore with the help of त्रिष्टुभ छन्द which also symbolizes the threefold way namely by deed, mind and wealth. The words जागतेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि here also stands for the feeling of oneness for the earth or nation as otherise the significance of सूक्ष्मा चासि शिवा चासि स्योना चासि can not be properly appreciated.

The famous hymn to pṛthivī speaks of truth, Ṛta, penance, sacrifice being the true foundation of earth. This is that earth on which ancient forefathers undertook deeds of valour यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे and many intelligent people in the past here proved their mettle (literally worked out with their powers यां मायाभिरन्वचरन् 2-1-87). No wonder that the bestowing nature of the earth has moved the son of this soil (माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः १२-१-६१) to the extreme. It was this earth, the abode of the old on whom gods defeated the demons and on whom the cows, the horses and the birds depend. This earth is *vis'vambharā* as she sustains every body and is *vasudhanī* as she keeps in her womb her fields and mines, her ploughs and meadows for the good of the people. Evidently, *vasundhara* of the late Sanskrit has its origin in this *vasudhanī* of the Atharvaveda. In fact the set of six mantras (22-27) of this hymn indicates that the poet has fallen short of words in expressing all that he owes to the earth i. e. nation of today. The odour of

the earth that is vigorously referred to is perhaps the cause of beauty, lustre and life in everybody belonging to the soil. This famous hymn not only speaks of the essential unity of purpose but also evinces sublimity in praying for the well-being of the whole society as is clear from the repeated use of *nah* in words like—सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे ।

It will be only in the fitness of things to remember that this hymn having the great vision of unity of nation opens with Ṛ*ta*-the integretating and stabilizing factor which prevents the world from being a chaos. Right from the days of Ṛgveda, Vedic Ṛṣis have thought of the cosmic law pervading and transeending the universe. Ṛta is that original power which regulates all the dynamic and changing phenomena of the universe. No wonder that gods like Indra are also subject to this law as this is the firm and binding principle that holds all together. Rgvedic Vipras are not tired of singing the glory of this integreting all-encompassing principal as they were sure of—

ऋतस्य दृलहा धरुणानि सन्ति पुरूणि चन्द्रावपुषे वपूंषि ।
ऋतेन दीर्घमिषणन्त वृक्षा ऋतेन गाव ऋतपा विवेव्रुः ।।

The flow of rivers, the rise and fall of tides and all other phenomena that occurs with cyclic regularity and sequence are controlled by this law of ऋत. It is natural, therefore, that the great Varuṇ is ऋतावान् and ऋतपा the Dawn is also ऋतावरी. In fact ऋतेन विश्वं भुवनं विराजथ: continues to ring into the ears of the भूमिपुत्र of the Atharvaveda who fails not to refer to the orderly movement of the waters and the *day and night* upon the earth

Transgressions against Rta, therefore, amount to violation of the cosmic law and it is pertinent to note that Vedic term employed for these transgressions are *anṛta* (untruth and falsity), *Vṛjina* (sinfal conduct) and *dvaya* (equivocation or double dealing). It goes without saying that *Dvaya* more rampant in the present days, is at the root of all evil and disintigration. In speech this *dvaya* takes

the form of deliberate ambiguity with a view to mislead other persons. This is an attempt to make the best of both worlds, to gain at once the advantage of wrong doing and upright conduct. In behaviour and action this implies all forms of deception and cunning. Hence a prayer frequently made to Agni and other gods in the Rgveda to give guidance in order to return the right path अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् (X—133.6).

Vedic seers have spoken of gods as performers of vows or व्रत त्वमग्ने व्रतपा असि देव आ मर्त्येषु (Rv. VIII-II. 1) and Raja Varuṇa to look after the truth as weill as untruth of people सत्यानृते अवपश्य जनानाम् (Rv. VII-19-3) and bring the defaulters to book. But they were aiso aware that the real unfailing remedy was encouraging the tendency of cooperation and friendship among the people at large. Thus in the tenth Maṇḍala, we come across the prayer addressed to *Agni* (X-191) who is requested to create harmony among the people in the famous R. K. सङ्गच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम् The insistence on समानो मन्त्र समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम् speaks of the dire necessity of working in the interest of establishing the spirit of concord among the people.

If Ṛgveda reflects the religion of the classes in the community of the Vedic Âryans the Atharvaveda reflecting the religion of the masses is all the more eager in its insistence on *sāmmanasya*. Thus the *sāmmanasya* hymns of this Veda are many and are spread over several kāṇḍas truly bringing out the monande approach. Rightly indeed the Atharvaveda starts with establishing *sahṛdayam sāmmanasyam* in the family with—

अनुव्रत पितु पुत्रो माता भवतु संगनाः ।
जाया पत्ये मधुमती वाचं वदन्तु शान्तिवाम् ॥

and then proceeds to मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा. After having achieved accord in the family the Atharvaṇic seer addresses hymn to the deity of *sammanasya* and speaks of the necessity of सं जानीध्वं सं पृच्छयध्वं सं वो

मनांसि जानताम् among all members of the society that aspires to establish the spirit of integration not only among men but also among gods or men of authoritiy. The words of 73rd. sūkta.

सह यातु वरुणः सोमो अग्निर्बृहस्पतिर्वसुभिरेह यातु ।
अस्य श्रियमुपसंयात सर्व उग्रस्य चेतुः संमानसः सजाताः ।।

are significant from this point of view. It is only on the basis of सं वो मनांसि सं व्रता समाकूती that one can hope to achieve integration of the people who are styled as विव्रता and then of अस्मभ्यं बृहद्राष्ट्रं संवेश्यं दधातु । thus······there appears to be an unmistakable trend of integ-ation in the Samhitas and the Vedic poets not only had a vision of unity of Nation that we think of in modern days but they have also harped on maintaining the tone of integration in the society. This need not be a matter of surprise as the activistic outlook in those days was essentially full of hope and an eager desire to prosper on this terra firma. It would do well, therefore, to emulate the Vedic seers and pray along with them in the words of the Atharvaveda viz.

सं वो मनांसि सव्रता समाकूतीर्नमामसि ।
अमी ये विव्रता स्थनतान् वा सं नमयामसि ।।

References

1. See *loka*—Wor*ld* and *Heaven in the Veda*, Amsterdam 1966
2. See Gonda—'Bhūmana' Vis'ues' Uvaranande Indological Journal 5, 42-57
3. Ibid.

Select Bibliography for this paper

1. G. N. Chakraavarthy—The concept of cosmic harmony in the Rgveda, fst Edition 1965
2. R. N. Dandekar—Insights into Hinduism, 1979
3. R. N. Dandekar—Some Aspects of the History of Hindustana, 1967
4. Dr. Suryakant Bali (editor)—Historical and Critical Studies in the Atharvaveda, 1981

□

वैदिक राष्ट्र का स्वरूप एवं राष्ट्रीय एकता की भावना

डॉ० ब्रजबिहारी चौबे

आज अधिकांश लोगों की यह धारणा है कि भारतीयों में राष्ट्रीयता की भावना ब्रिटिश शासन की उपज है। भारत में ब्रिटिश साम्राज्य से पूर्व यहाँ की जनता में राष्ट्रीयता की भावना नहीं थी। भारत कई छोटे-छोटे राज्यों में बँटा था तथा इन राज्यों में अपनी प्रभुसत्ता के लिए परस्पर संघर्ष हुआ करता था। अखण्ड भारत या राष्ट्रीयता की भावना आधुनिक युग की कल्पना है। जो लोग भारतीयों में राष्ट्रीयता की भावना के प्रति यह धारणा रखते हैं, यह उनकी भ्रान्ति है। वेद विश्व का प्राचीनतम साहित्य है। उसमें राष्ट्र एवं राष्ट्रीयता का जो स्वरूप प्रस्तुत किया गया है उसको यदि आज उद्घाटित किया जाय तो मालूम होगा कि राष्ट्र या राष्ट्रीयता की उससे बढ़कर कोई परिकल्पना नहीं की जा सकती। राष्ट्र क्या है, राष्ट्रीयता क्या है। राष्ट्रीय एकता का अभिप्राय क्या है, राष्ट्रीय एकता के बाधक तत्व कौन हैं तथा राष्ट्रीय एकता की प्रतिष्ठा कैसे की जा सकती है, इन प्रश्नों का सही एवं शाश्वत समाधान वेद में दिखाई पड़ता है। प्रस्तुत पत्र में वेद प्रतिपादित इन्हीं तत्वों पर विचार किया गया है।

वैदिक साहित्य में राष्ट्र शब्द 'राष्ट्रम्'[१], 'राष्ट्राणि'[२], 'राष्ट्रेण'[३] 'राष्ट्राय'[४] 'राष्ट्रात्'[५], 'राष्ट्रस्य'[६], 'राष्ट्रानाम्'[७] तथा 'राष्ट्रे'[८] इन विभक्तियों में अनेक बार प्रयुक्त हुआ है। 'राष्ट्रकामाय'[९], 'राष्ट्रदा'[१०], 'राष्ट्रदिप्सु'[११], 'राष्ट्रभृत्'[१२], 'राष्ट्रभृत्याय'[१३] आदि समस्त पदों में भी राष्ट्र पद प्रयुक्त मिलता है। 'राष्ट्री'[१४] तथा 'राष्ट्रियम्'[१५] पदों का भी प्रयोग मिलता है। वैदिक संहिता साहित्य में प्रयुक्त इन पदों के अध्ययन से राष्ट्र शब्द के मूल अर्थ की जानकारी और उसके आधार पर राष्ट्र एवं राष्ट्रीयता की परिकल्पना भी की जा सकती है। राष्ट्र शब्द दीप्ति अथवा शासन अर्थ की वाचक/राज् धातु तथा ष्ट्रन् प्रत्यय के योग से निष्पन्न होकर राज्य साम्राज्य, देश, प्रजा आदि का वाचक माना जाता है। धातु के अनुसार राष्ट्र शब्द का मूल अर्थ है प्रकाशमान्, दीप्तिमान्। ऋग्वेद १/१०४/४ में 'राष्टि' क्रियापद का

प्रयोग इसी अर्थ का समर्थन करता है। जो वस्तु प्रकाशमान् अथवा दीप्तिमान होती है, वही सबमें श्रेष्ठ होती है, सबमें सुशोभित होती है। दीप्ति का अर्थ केवल भौतिक प्रकाश ही नहीं प्रत्युत शारीरिक एवं चारित्रिक शक्ति एवं सौन्दर्य भी है। किसी देश या भूखण्ड के शासन के लिए ऐसे ही शारीरिक एवं चारित्रिक शक्ति-शील-सौन्दर्य सम्पन्न व्यक्ति का वरण किया जाता है और इसीलिए वह राजा या सम्राट् कहलाता है। जिस जनपद या भूखण्ड में रहते हैं वह भी दीप्तिमान होना चाहिये। यहाँ दीप्तिमान् का अर्थ प्राकृतिक साधन सम्पन्नता है। इसलिए जब किसी भूखण्ड के लिए राष्ट्र शब्द का प्रयोग किया जाता है तो उसका मूल अभिप्राय उस भूखण्ड की मानव जीवनोपयोगी साधन सम्पन्नता रूप दीप्तिमत्ता से होता है। मानवजीवनोपयोगी वस्तुओं में जल सर्वश्रेष्ठ है इसलिए उसे 'राष्ट्रदा'[१६] कहा गया है। यह बात उल्लेखनीय है कि जहाँ जलों को 'राष्ट्रदा' कहा गया है वहीं उन्हें ओजस्वतीः, परिवाहिणीः, सूर्यत्वचसः, सूर्यवर्चसः, मान्दाः, व्रजक्षितः, वाशीः, शविष्ठाः, शक्वरीः, जनभृतः, स्वराजः, मधुमती आदि भी कहा गया है। जलों के लिए प्रयुक्त ये विशेषण जलों से राष्ट्र की समृद्धि के साथ संगतार्थ होते हैं।

तै० सं० ३/४/८/२ में इस बात का उल्लेख किया गया है कि 'राष्ट्रं प्रजा राष्ट्रं पशवो राष्ट्रं यच्छ्रेष्ठो भवति,' अर्थात् प्रजा राष्ट्र है, पशु राष्ट्र है, तथा जो कुछ श्रेष्ठ है वह राष्ट्र है। यहाँ प्रजा को राष्ट्र इसलिए कहा गया है कि प्रजा से ही राजा या देश दीप्तिमान होता है। प्रजा ही राष्ट्र है इस कथन से प्रजातन्त्रात्मक राष्ट्र का जिसमें प्रजा अर्थात् जनता ही राजा के रूप में अपने राष्ट्राधिपति का चुनाव करती है, संकेत मिलता है। प्रजा द्वारा अपने राष्ट्राधिपति के चुनने का उल्लेख वैदिक साहित्य में पर्याप्त मात्रा में मिलता है। [७]राष्ट्र तथा प्रजा का सम्बन्ध क्या है इस विषय में तैत्तिरीय संहिता का कथन है—'राष्ट्रं वै पर्णो विऽश्वत्थः' (३/५/७/५) अर्थात् राष्ट्र पर्ण है और प्रजा अश्वत्थ है। जिस प्रकार पत्ता वृक्ष पर आश्रित होता है उसी प्रकार राष्ट्र प्रजा पर आश्रित होता है। तै० सं० में ही एक स्थल पर ऋषि कहता है—'राष्ट्रं वै वैश्वानरो विण्मरुतः' (५/७/४,२४) अर्थात् राष्ट्र वैश्वानर अग्नि है और प्रजा मरुत् है। जैसे अग्नि को प्रज्ज्वलित करने के लिए वायु सहायक होता है उसी प्रकार राष्ट्र की प्रगति में प्रजा की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। अथर्ववेद में प्रजा से ही राष्ट्र को श्रेष्ठ बताया गया है (उत्तरं राष्ट्रं प्रजया—अ०वे० १२/३/१०)। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जब वैदिक ऋषि प्रजा को ही राष्ट्र कहता है तब वहाँ भी राष्ट्र शब्द के अन्दर दीप्तिमत्ता अर्थ निहित होता है और यहाँ दीप्तिमत्ता का अभिप्राय एक विशिष्ट संस्कृति सम्पन्नता से है जो उस भूखण्ड की जनता के सामाजिक तथा धार्मिक जीवन को अनुस्यूत किये होती है।

तैत्तिरीय संहिता में पशु को जो राष्ट्र कहा गया है उसका भी अभिप्राय है पशु आदि धनरूप दीप्तिमत्ता। पशु आदि धन से ही राष्ट्र दीप्तिमान होता है। निर्धन राष्ट्र का स्वाभिमान नहीं रह सकता, वह अल्पकाल में ही धनाभाव के कारण नष्ट हो जाता है। यह तथ्य वैदिक ऋषियों को सुविदित था इसीलिये बार-बार उन्होंने अपने राष्ट्र की समृद्धि के लिये प्रार्थनायें की हैं। इस प्रकार हर प्रकार की दीप्तिमत्ता, चाहे वह मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन में पाई जाने वाली चारित्रिक शक्ति-शील-सौन्दर्य सम्पन्नता के रूप में हो, अथवा उस देश की जनता में विकसित एक विशिष्ट संस्कृति सम्पन्नता के रूप में हो, अथवा उस भूखण्ड की मानवजीवनोपयोगी साधन सम्पन्नता के रूप में हो अथवा पशु आदि समृद्धि सम्पन्नता के रूप में हो, राष्ट्र के लिए उसकी अन्वर्थता को सिद्ध करने के लिये अत्यावश्यक है। वैदिक साहित्य में प्रयुक्त राष्ट्र शब्द इस अर्थ को अभिव्यक्त करता है।

वैदिक साहित्य में प्रजा, पशु, जल आदि को जो राष्ट्र कहा गया है वह अर्थवादमूलक है। उसका मतलब यह नहीं कि वैदिक ऋषियों को केवल इन पदार्थों में राष्ट्रत्व की कल्पना थी। उनकी राष्ट्र विषयक धारणा अत्यन्त उदात्त धरातल पर प्रतिष्ठित है। उसमें राष्ट्र के घटक हर तत्व पर इस प्रकार समग्रता में विचार किया गया है कि वह अवधारणा किसी सीमित भूखण्ड या देश पर ही लागू न होकर एक आदर्श राष्ट्र का प्रतिरूप बन गई है। अंग्रेजी भाषा में राष्ट्र के लिये 'नेशन' शब्द का प्रयोग किया जाता है। आक्सफोर्ड डिक्शनरी के अनुसार 'नेशन समान वंश, समान भाषा तथा समान इतिहास से परस्पर सम्बद्ध लोगों का एक ऐसा विशाल समुदाय है जो एक विशिष्ट जाति (रेस) का रूप ग्रहण कर चुका हो तथा जिसने एक निश्चित भू-भाग को अधिकृत कर अपना एक अलग स्वतन्त्र राजनीतिक इकाई का रूप ग्रहण कर लिया हो।'[१८] इस परिभाषा को भी सम्मुख रखकर जब वैदिक राष्ट्र के स्वरूप पर हम विचार करते हैं तो मालूम होता है कि यह परिभाषा भी वैदिक राष्ट्र के स्वरूप पर पूरे रूप से घटित होती है। वैदिक लोग समान वंश, समान भाषा तथा समान इतिहास से इस प्रकार परस्पर सम्बद्ध थे कि उन्होंने एक विशिष्ट आर्य जाति का अभिधान ग्रहण कर लिया था तथा एक निश्चित भू भाग को अधिकृत कर उस पर अपना राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। जिस भू-खण्ड पर आर्य जाति ने अपना साम्राज्य स्थापित किया था वह सिन्धु-प्रदेश अथवा आर्यदेश अथवा आर्यावर्त के नाम से प्रसिद्ध था। पूर्व वैदिक काल में यही सिन्धु प्रदेश आर्य राष्ट्र के रूप में जाना जाता था। उत्तर वैदिक काल में आर्य देश की सीमा बढ़ती गई और धीरे-धीरे आर्य जाति के ही अन्तर्गत भरत जाति के लोगों की राजनीतिक प्रभुसत्ता व्यापक होने के कारण हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक सिन्धु से लेकर बंगाल तक सम्पूर्ण देश भारतवर्ष के नाम से प्रसिद्ध हुआ। वैदिक

आर्यों की एक उपशाखा भरतों[१९] की राजनीतिक प्रभुसत्ता के व्यापक होने के कारण इस देश का नाम भारत पड़ा, अथवा आर्य जाति के अग्नि-उपासक होने के कारण अग्नि के ही नाम 'भारत'[२०] (प्रकाशमान) पर देश का नाम भारत पड़ा अथवा दुष्यन्त पुत्र भरत के नाम पर भारत नाम पड़ा, इस नाम विवाद में न पड़ते हुये हमें यहाँ यही बताना अभीष्ट है कि आर्य जिस भू-खण्ड में रहते थे उसको भारत राष्ट्र के रूप में मानते थे।[२१] आधुनिक राष्ट्र की जो परिभाषा दी जाती है वह भी उस राष्ट्र पर पूर्ण रूप से घटित होती है। निःसन्देह पूर्व तथा उत्तर वैदिक काल में सम्पूर्ण देश कई राज्यों में बँटा हुआ था तथा अनेक आर्य राजाओं के शासन में था, किन्तु राष्ट्र की दृष्टि से वह अखण्ड था, एक था। सम्पूर्ण राष्ट्र में एक संस्कृति थी, एक राष्ट्रभाषा थी। प्रत्येक राष्ट्र का आधार एक निश्चित भूखण्ड होता है, किन्तु केवल भूखण्ड ही राष्ट्र नहीं। उस भूखण्ड पर जिस संस्कृति का विकास होता है उसका महत्व भूखण्ड से अधिक होता है। संस्कृति के अभाव में भूखण्ड तो रहता है किन्तु राष्ट्र नहीं रहता। संस्कृति के नष्ट होने पर राष्ट्र के साथ-साथ राष्टभाषा भी नष्ट हो जाती है। वैदिक ऋषि जब राष्ट्र की बात करता है तो उसके लिये राष्ट्र का अभिप्राय एक विशिष्ट भूखण्ड तथा उस भूखण्ड पर विकसित मानवीय संस्कृति से होता है जिसकी वाहिका वहाँ की एक विशिष्ट राष्ट्रभाषा होती है। राष्ट्र के स्वरूप में भूखण्ड, संस्कृति तथा भाषा तीनों अनिवार्य रूप से जुड़े होते हैं। वैदिक ऋषि अपनी राष्ट्र विषयक इस अवधारणा को इडा, भारती तथा सरस्वती के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। इडा, भारती तथा सरस्वती क्रमशः राष्ट्रभूमि, राष्ट्रीय संस्कृति तथा राष्ट्रभाषा के प्रतीक हैं। यज्ञवेदि पर फैलाई गई कुशाओं के ऊपर जब वैदिक ऋषि इडा, भारती तथा सरस्वती का आवाहन करता है[२२] तब इन तीनों देवियों के रूप में मानो राष्ट्र के घटक इन तीन तत्वों को वेदिरूप राष्ट्र में प्रतिष्ठित पाता है। ऋ०वे० १०/१२४/४ में प्रयुक्त राष्ट्र शब्द आचार्य सायण के अनुसार यज्ञवेदि का वाचक है।

ऋ०वे० ४/४२/1 में वैदिक ऋषि "द्विता राष्ट्रम्"[२३] का उल्लेख करता है। 'द्विताराष्ट्र' का अभिप्राय भाष्यकारों के अनुसार पृथिवी तथा स्वर्ग रूप द्विविध राष्ट्र से है ऋ०वे० ७/८४/२ में 'बृहद् राष्ट्र' का उल्लेख है जो द्यौ के लिये प्रयुक्त है।[२४] अथर्ववेद के एक मन्त्र में मित्र, वरुण, वायु, तथा अग्नि से 'बृहत राष्ट्र' की प्राप्ति के लिये प्रार्थना की गई है।[२५] ऋ०वे० ७/३४/११ में वरुण को राष्ट्रों का राजा कहा गया है।[२६] इस प्रकार वेद में 'द्विता राष्ट्रम्', 'बृहद्राष्ट्रम्', 'राष्ट्रानाम्' इन शब्दों के प्रयोग से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वैदिक काल में और भी कई राष्ट्र रहे होंगे तथा उनका समुदाय बृहद् राष्ट्र कहलाता होगा। यह बात उल्लेखनीय है कि वैदिक काल में राष्ट्र शब्द एक प्रत्यय (Concept) बन चुका

था। जब कभी ऋषि अपने देश की बात करता है उसके लिए 'राष्ट्र' शब्द का ही प्रयोग करता है। अथर्ववेद में राष्ट्र की उत्पत्ति ऋषियों की तपस्या का परिणाम बताया गया है। मन्त्र इस प्रकार है—

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु॥—अ०वे० १९/४१/१

अर्थात् कल्याण की कामना वाले परम ज्ञानी ऋषियों ने तप एवं दीक्षा का आचरण किया। उसी तप और दीक्षा से राष्ट्र, ओज तथा बल उत्पन्न हुआ। अथर्ववेद के उच्छिष्ट सूक्त (११/७) में उच्छिष्ट संज्ञक ब्रह्म में ऋत, सत्य, तप, श्रम, धर्म, कर्म आदि के साथ राष्ट्र को भी अधिष्ठित बताया गया है—

ऋतं सत्यं तपो राष्ट्रं श्रमो धर्मश्च कर्मंच।
भूतं भविष्यदुच्छिष्टे वीर्यं लक्ष्मीर्बलं बले॥
समृद्धिरोज आकूतिः राष्ट्रं षडूर्कः।
सवत्सरोऽध्युच्छिष्ट ढडा प्रैषा ग्रहा छविः॥—अ०वे० ११/७/१७-१८

वैदिक राष्ट्रवाद के स्वरूप का विवेचन करने के पश्चात् अब हम वैदिक राष्ट्रीयता की भावना की चर्चा करेंगे। जिस देश में जो लोग रहते हैं वह देश उन लोगों की राष्ट्रभूमि होती है। वे लोग वहाँ के राष्ट्रीय कहे जाते हैं। जब कोई व्यक्ति किसी देश में बस जाता है तब कुछ निर्धारित अवधि के बाद वह वहाँ का नागरिक बन जाता है। नागरिकता प्राप्त हो जाने के बाद उसे मतदान का भी अधिकार प्राप्त हो जाता है। इस नागरिकता को भी राष्ट्रीयता के रूप में माना जाता हैं। किन्तु राष्ट्रीयता और नागरिकता में बहुत अन्तर है। नागरिकता किसी देश में रहने का एक राजनीतिक अधिकार है जो उस देश की सरकार के द्वारा व्यक्ति को प्रदान की जाती है। किन्तु राष्ट्रीयता इससे भिन्न है। जैसा कि ऊपर कहा गया है राष्ट्र केवल भूखण्ड नहीं बल्कि उस भूखण्ड पर विकसित संस्कृति तथा भाषा को भी आत्मसात् किये होता है। इसलिए जिस राष्ट्र में हम रहते हैं उस राष्ट्र की हर वस्तु से चाहे वह वहाँ की मिट्टी हो, पर्वत हो, नदियां हो, जंगल हो, पशु हों, अथवा वहाँ की संस्कृति हो, परम्परा हो, रीति-रिवाज हो, जनमानस हो, अथवा वहाँ की भाषा हो—प्रेम करना, उसको अपना समझना, तथा उसके विकास और वृद्धि के लिए अपनी योग्यता और दक्षता के अनुसार सतत प्रयत्नशील रहना, राष्ट्रीयता है। राष्ट्रीयता की अन्वर्थता तभी होगी जब व्यक्ति उस राष्ट्र की भूमि से प्यार करे, वहाँ की संस्कृति से प्यार करे तथा वहाँ की भाषा से प्यार करे। इस प्रकार राष्ट्रभूमि, राष्ट्रीय संस्कृति तथा राष्ट्रभाषा से प्यार एवं ममत्व की भावना ही राष्ट्रीयता है। राष्ट्रीयता की यह भावना वैदिक साहित्य में भरपूर मात्रा में मिलती है।

राष्ट्रीयता या राष्ट्रीय भावना की अभिव्यक्ति के कुछ लक्षण हैं। राष्ट्रीयता

का सर्वप्रथम लक्षण है कि व्यक्ति अपने को राष्ट्र का महत्वपूर्ण अंग माने। अथर्ववेद के एक मन्त्र में यह धारणा स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हुई है। ऋषि कहता है—'अहं राष्ट्र स्यामिवर्गे निजी भूयासमुत्तमः' (अ०वे० ३/५/२) अर्थात् राष्ट्र की जनता में मैं उत्तम निज अर्थात् अपना होऊँ। राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह सरकार में हो अथवा जनता में हो अपने को राष्ट्र का उत्तम निज समझे। उसे कभी भी अपने को राष्ट्र से अलग नहीं समझना चाहिये। यदि कोई उस राष्ट्र की मुख्यधारा से अपने को अलग मानता है, या किसी दूसरे राष्ट्र के प्रति उसकी वफादारी या आत्मीयता है तो उसकी अपनी राष्ट्रीयता में सन्देह है। वह अपने राष्ट्र के लिए खतरनाक सिद्ध हो सकता है।

राष्ट्रीयता का दूसरा लक्षण है कि जिस राष्ट्र में व्यक्ति ने जन्म लिया है उसके लिए गर्व महसूस करे। वैदिक ऋषि को अपने राष्ट्र में उत्पन्न होने का गर्व है। वह गर्व के साथ कहता है—"प्रादुर्भूतोऽस्मि राष्ट्रेऽस्मिन् कीर्तिं वृद्धिं ददातु मे" (ऋ० वे० खिल २/७/४) अर्थात् मैं इस राष्ट्र में पैदा हुआ हूँ, ईश्वर मेरे राष्ट्र में कीर्ति और वृद्धि प्रदान करे। एक मन्त्र में ऋषि अपने राष्ट्र को 'उत्तम राष्ट्र' कहता है और अपनी मातृभूमि से प्रार्थना करता है कि वह उसके उत्तम राष्ट्र में तेज और बल धारण करावे –'सा नो भूमिस्त्विर्षि बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे' (अ० वे० १२/१/८)। इस मन्त्र में जो 'उत्तमे राष्ट्रे' पद का प्रयोग हुआ है वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। राष्ट्र-भक्तों की यह आकांक्षा होनी चाहिये कि उनका राष्ट्र सब राष्ट्रों में उत्तम हो।

राष्ट्रीयता का तीसरा लक्षण है अपनी राष्ट्रभूमि में मातृत्व की भावना। जिस प्रकार माता के रक्त, मांस आदि से बच्चे का देह बनता है उसी तरह मातृभूमि में उत्पन्न होने वाले अन्न, पानी वहाँ की हवा और वनस्पतियों से उस देश के मनुष्यों के देह बनते हैं। इसलिए उस देश को मातृभूमि समझना उस देश के निवासियों का स्वभाव होना चाहिये। मातृभूमि से सबको प्रेम होता है। कैसी भी आपत्ति, कैसा भी संकट क्यों न हो, मनुष्य अपनी मातृभूमि का त्याग करने को तैयार नहीं होता। मातृभूमि में माता का दर्शन एक राष्ट्रीय सौन्दर्य-बोध है। अथर्ववेद के प्रसिद्ध भूमि-सूक्त (१२/१) में मातृभूमि के प्रति ऋषि ने जो भाव अभिव्यक्त किये हैं, वह राष्ट्र-भूमि के प्रति प्यार की पराकाष्ठा है। उस सूक्त को राष्ट्रगीत या मातृभूमि का गीत कहा जा सकता है। यह राष्ट्रभूमि वैदिक ऋषि के लिए केवल मिट्टी, पत्थर, रेत आदि नहीं, वह तो एक दिव्य देवी है जो सदा धारण करती है; अपनी गोद में रखकर सदा पोषण करती है। अपनी राष्ट्रभूमि में वैदिक ऋषि माता का दर्शन करता है। उसको यह कहने में गर्व है कि 'माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः' (अ०वे० १२/१/१२) भूमि मेरी माता है और मैं पृथिवी का पुत्र हूँ। जैसे माता पुत्र को दूध पिलाती है उसी प्रकार यह भूमि हमें पयःपान कराती है। एक मन्त्र में ऋषि स्पष्टतः मातृभूमि को सम्बोधित करता है—

भूमे मातर्निधेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम् ।
संविदाना दिवा कवे श्रिया मा छेहि भूत्याम् ॥—अ०वे० १२/१/६३

हे मातृभूमि, आकाश के साथ संयुक्त होकर विस्तृत होती हुई कल्याणपूर्वक मुझे प्रतिष्ठित कर धारण करो, मुझे श्री और वैभव में धारण करो। मातृभूमि में वैदिक ऋषि की मातृत्व की भावना इतनी प्रबल है कि इस भूमि पर विचरण करने, खड़े होने, वैठने, सोने आदि में भी अपने को अपराधी महसूस करता है और इसके लिए उससे क्षमा याचना करते हुए कहता है कि वह अपने इन कार्यों से व्यथित न करे—

उदीराणा उतासीनास्तिष्ठन्तः प्रक्रामन्तः ।
पद्भ्यां दक्षिणसव्याभ्यां मा व्यथिष्महि भूम्याम् ॥—अ०वे० १२/१/२८

इस मातृभूमि पर दाहिने तथा बायें पैरों से विचरण करते हुए, बैठते हुए, खड़े होते हुए तथा आक्रमण करते हुए हम इसे व्यथित न करें। भूमि को खोदते समय भी उसके मन में यह भाव जागृत होता है कि कहीं अपने इस कर्म से मातृभूमि के हृदय को पीड़ित तो नहीं कर रहा। इसलिये उससे निवेदन करता है कि जो कुछ वह खोदता है वह शीघ्र भर जाय—

यत्ते भूमे विखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु ।
मा ते मर्म विमृग्वरि मा ते हृदयमर्पिपम् ॥—अ०वे० १२/१/३५

कितनी उदात्त भावना है वैदिक ऋषि की अपनी मातृभूमि के प्रति। मातृभूमि उसके लिए एक सजीव मूर्ति है। ६३ मन्त्रों वाले भूमिसूक्त में कोई ऐसा मन्त्र नहीं जो मातृभूमि की महानता को न बताता हो।

कुछ लोगों का ऐसा कहना है कि भूमिसूक्त में वर्णित भूमि शब्द वैदिक राष्ट्रभूमि का वाचक नहीं, सामान्य पृथिवी का वाचक है। किन्तु यह मत ग्राह्य तो हो नहीं सकता क्योंकि भ्रान्त है, अतएव त्याज्य है। भूमिसूक्त में जहाँ कहीं भूमि शब्द आया है वह मातृभूमि अथवा राष्ट्रभूमि के लिए ही है, सामान्य पृथिवी का वाचक नहीं। यह तथ्य इस बात से ज्ञात होता है कि ऋषि भूमि के लिए 'हमारी भूमि' शब्द का प्रयोग करता है। उदाहरण के लिये हम इस सूक्त के निम्न मन्त्रों को यहाँ उद्धृत कर सकते हैं—

सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरु लोकं पृथिवी नः कृणोतु ॥१॥
सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु ॥३॥
सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु ॥४॥
भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु ॥५॥

सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे ।।८।।
सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहामथो उक्षतु वर्चसा ।।९।।
सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः ।।१०।।
सा नो भूमिर्वर्धयद् वर्धमाना ।।१३।।
सा नो भूमे प्र रोचय हिरण्यस्येव संदृशि ।।१८।।
सा नो भूमिः प्राणमायुर्दधातु ।।२२।।
सा नो भूमिरादिशतु यद्धनं कामयामहे ।।४०।।
सा नो भूमिः प्रणुदतां सपत्नानसपत्नं मा.पृथिवी कृणोतु ।।४१।।

जिस भूखण्ड के लिए वैदिक ऋषि 'हमारी भूमि' या 'मातृभूमि' शब्द का प्रयोग करता है वह निश्चित ही उसकी राष्ट्रभूमि है। वैदिक ऋषि की 'हमारी भूमि' 'मातृभूमि' अथवा 'राष्ट्रभूमि' की पहचान क्या है, यह कोई अनुमान या कल्पना का विषय नहीं। स्वयं ऋषि ही अपनी मातृभूमि की पहचान बताता है—

यामश्विनावमिमातां विष्णुर्यस्यां विचक्रमे।
इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचीपति.।।
सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः ।।१०।।
यस्यां वेदिं परिगृह्णन्ति भूम्यां यस्यां यज्ञं तन्वते विश्वकर्माणः।
यस्यां मीयन्ते स्वरवः पृथिव्यामूर्ध्वाः शुक्राः आहुत्याः पुरस्तात्।
सा नो भूमिर्वर्धयद् वर्धमाना ।।१३।।
ग्रीष्मस्ते भूमे वर्षाणि शरद्धेमन्तः शिशिरो वसन्तः।
ऋतवस्ते विहिता हायनीरहोरात्रे पृथिवि नो दुहानाम् ।।३६।।
याप सर्पं विजमाना विमृग्वरी यस्या मासन्नग्नयो ये अप्स्वन्तः।
परा दस्यून् ददती देवपीयूनिन्द्रं वृणाना पृथिवी न वृत्रम्।
शक्राय दध्रे बृषभाय वृष्णे ।।३७।।
यस्यां सदोहविर्धाने यूपो यस्यां निमीयते।
ब्रह्माणो यस्यामर्चन्त्यृग्भिः साम्ना यजुर्विदः।
युज्यन्ते यस्यामृत्विजः सोममिन्द्राय पातवे ।।३८।।
यस्यां पूर्वे भूतकृत ऋषयो गा उदानृचुः।
सप्त सत्रेण वेधसो यज्ञेन तपसा सह ।।३९।।
सा नो भूमिरादिशतु यद्धनं कामयामहे।
भगो अनुप्रयुङ्क्तामिन्द्र एतु पुरोगवः ।।४०।।

यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलबाः ।
युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभिः ।
सा नो भूमिः प्रणुदतां सपत्नानसपत्नं मा पृथिवी कृणोतु ॥४१॥
यस्यामन्नं व्रीहियवौ यस्या इमाः पञ्च कृष्टयः ।
भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोऽस्तु वर्षमेदसे ॥४२॥
यस्याः पूरो देवकृताः क्षेत्रे यस्या विकुर्वते ।
प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगर्भामाशामाशां रण्यां नः कृणोतु ॥४३॥

अर्थात् जिस भूमि को अश्विनी कुमारों ने नापा, जिस भूमि में विष्णु ने पराक्रम दिखाया, शचीपति इन्द्र ने जिस भूमि को अपने लिए शत्रुओं से रहित किया, जिस भूमि में कर्मों में निपुण लोग वेदि का निर्माण करते हैं, तथा जिसमें यज्ञ सम्पादित करते हैं, जिस भूमि में यज्ञीय यूप गाड़े जाते हैं, जिस भूमि में एक वर्ष में ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर और वसन्त सभी ऋतुयें होती हैं, जो भूमि देव-निन्दक दस्युओं को दूर भगाने वाली तथा इन्द्र को वरण करने वाली है, जिस भूमि में सदः और हविर्धान हैं, जिस भूमि में वेद के जानने वाले ब्राह्मण ऋचाओं, साम तथा यजुष् मन्त्रों से परमेश्वर की उपासना करते हैं, जिस भूमि में इन्द्र के सोमपान के लिए ऋत्विज नियुक्त किये जाते हैं, जिस भूमि पर भूतकाल के इतिहास का निर्माण करने वाले ज्ञानी सप्त ऋषियों ने सत्र, यज्ञ तथा तपस्या के द्वारा मातृभूमि की गरिमा को उद्भासित किया, जिस भूमि पर मनुष्य राष्ट्रभक्ति में गाते हैं, नाचते हैं तथा शत्रुओं के साथ युद्ध करते हैं, जिसमें दुन्दुभी बजती है, जिस भूमि में धान और जो की खेती होती है, जिस भूमि पर आर्यों की पाँच जातियाँ—अनु, द्रुह्यु, पुरु, वुरु तथा यदु—निवास करती हैं, जिसके नगरों का निर्माण देवताओं ने किया था, जहाँ लोग विविध कर्म करते हैं, वह हमारी मातृभूमि है। मातृभूमि के इस परिचय से वैदिक राष्ट्रभूमि का पूरा परिचय मिल जाता है और इसमे सन्देह नहीं रह जाता कि भूमिसूक्त में जिस भूमि का वर्णन है वह आर्यों की राष्ट्रभूमि है, मातृभूमि है। इस प्रकार राष्ट्रभूमि में सजीव मातृरूप का दर्शन ही राष्ट्रीयता है। इसी राष्ट्रीयता की भावना ने असंख्य देश भक्तों को मातृभूमि की रक्षा के लिए शहीद बनाया।

अथर्ववेद के भूमिसूक्त में वैदिक ऋषियों की जहाँ राष्ट्रभूमि तथा मातृभूमि की धारणा का बोध होता है, वहाँ राष्ट्रविषयक अनेक तत्त्वों का भी ज्ञान होता है। कौन-कौन तत्त्व हैं जो राष्ट्रभूमि को धारण करते हैं। इसका उल्लेख भूमिसूक्त के प्रथम मन्त्र मे ही किया गया है। मन्त्र है—

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति ।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु ॥ —अथर्व० १/२२/१

अर्थात् बृहत् सत्य, ऋत, उग्रता, दीक्षा, तप, ब्रह्म और यज्ञ ये सात तत्त्व राष्ट्र को धारण करते हैं। सर्वप्रथम राष्ट्रीय गुण सत्य है। जिन लोगों में सत्यप्रियता, सत्यपालन में आत्मसर्वस्व समर्पण करने की तत्परता है, वे ही राष्ट्र का उद्धार कर सकते हैं। जिनमें सत्याग्रह अर्थात् सत्य का आग्रहपूर्वक पालन की भावना है, वे ही राष्ट्र का उद्धार कर सकते हैं। सत्याग्रह रूप शस्त्र को निःशस्त्र प्रजा शस्त्रधारी राजा के विरुद्ध काम में ला सकती है और विजय भी पा सकती है। आधुनिक युग में महात्मा गाँधी ने इसी सत्याग्रह को अपना शस्त्र बनाकर भारत की स्वतन्त्रता प्राप्त की।

राष्ट्रीयता का दूसरा गुण 'ऋत'' अर्थात् औचित्य भाव है। ऋग्वेद का ऋषि राष्ट्रीयता में ऋत का महत्त्व स्वीकार करते हुये कहता है--

ऋतेन राजन्ननृतं विविञ्चन् मम राष्ट्रस्याधिपत्यमेहि। —अथर्व० १०/१२४/५

अर्थात् हे राजन् ऋत से अनृत को अलग करते हुए मेरे राष्ट्र के अधिपति बनो। राष्ट्राध्यक्ष होने के लिये 'ऋत' गुण आवश्यक था। ऋत के द्वारा ही राष्ट्र की रक्षा हो सकती है। यह गुण जहाँ राष्ट्राध्यक्ष के लिए आवश्यक था वहाँ सभी राष्ट्रवासियों के लिए भी आवश्यक था। हमारा कौन कर्म राष्ट्र के हित के लिए है और कौन कर्म राष्ट्र के अहित के लिए है, इसका विवेक ऋत द्वारा ही हो सकता है। इस गुण के अभाव में राष्ट्र की रक्षा नहीं हो सकती।

राष्ट्रीयता का तीसरा गुण है उग्रता। उग्रता का अभिप्राय वीरता से है। भूमिसूक्त के एक मन्त्र में कहा गया है—

यो नो द्वेषत् पृथिवि यः पृतन्याद् योऽभिदासान्मनसा यो वधेन।
तं नो भूमे रन्धय पूर्वकृत्वहि॥ —अथर्व० १२।१।१९

अर्थात् हे मातृभूमि, जो हमसे द्वेष करता है, जो युद्ध करना चाहता है तथा जो हमें दबाना चाहता है उसको तुम नष्ट करो। क्षत्रियों के अन्दर इस प्रकार की वीरता तो स्वाभाविक है। एक वैदिक पुरोहित के अन्दर राष्ट्ररक्षा के लिए कितनी प्रचण्ड उग्रता है, इसे अथर्ववेद के निम्न मंत्रों में देखा जा सकता है--

संशितं म इदं ब्रह्म संशितं वीर्यं बलम्।
संशितं क्षत्रमजरमस्तु जिष्णुयेषामस्मि पुरोहितः॥ —अथर्व० ३/१९/१
तीक्ष्णीयांसः परशोरग्नेस्तीक्ष्णतरा उत।
इन्द्रस्य वज्रात्तीक्ष्णीयांसो येषामस्मि पुरोहितः॥ —अथर्व० ३/१९/४
एषामहमायुधा सं स्यामेषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि।
एषां क्षत्रमजरमस्तु जिष्ण्वेषां चित्तं विश्वेऽवन्तु देवाः॥ —अथर्व० ३/१९/५

राष्ट्रीयता का चोथा गुण है दीक्षा। दीक्षा का अर्थ है संस्कार, कर्मों में

दक्षता। यह दीक्षा व्रत से प्राप्त होती है, दीक्षा से दक्षिणा की प्राप्ति, दक्षिणा से श्रद्धा तथा श्रद्धा से सत्य की प्राप्ति होती है। यजुर्वेद का ऋषि इसी बात का उल्लेख करता है—

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ।। —शु०य० १९/३०

इस प्रकार का व्रत ग्रहण करने से मन में मातृभूमि के लिए कार्य करने के लिए जो संस्कार बनता है, वही दीक्षा है। जब तक व्यक्ति में यह दीक्षा गुण उत्पन्न नहीं होगा उसका कार्य राष्ट्र के लिए नहीं होगा।

राष्ट्रीयता का पंचम गुण है तप। शीत-उष्ण, लाभ-हानि, सुख-दुःख, मान-अपमान आदि द्वन्द्व आने पर भी उन्हें सहकर राष्ट्रहित के लिए कार्य में सदैव तत्पर रहना तप है। अथर्ववेद के ही एक मन्त्र में कहा गया है—'ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति' (अथर्व० ११/५/१७) अर्थात् ब्रह्मचर्य तथा तप से ही राजा राष्ट्र की रक्षा कर सकता है। कोमल मनुष्य से राष्ट्र का कोई काम नहीं हो सकता। उसके लिए कठिन श्रम आवश्यक है। राष्ट्रीय सन्दर्भ में तप का अर्थ है जिसका जो कार्य है उसको नियमित रूप से राष्ट्रीय कार्य समझकर करना। राष्ट्र के हित के लिए जागरूक रहना भी तपस्या है। यजुर्वेद में पुरोहित घोषणा करते हैं—'वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः' (शु० य० ९/२३, तै० सं० १/७/१०/१) अर्थात् हम पुरोहित अपने राष्ट्र में सदा जागरूक रहें। राष्ट्रहित के लिए सतत जागरूक रहना वैदिक पुरोहितों का एक आदर्श था। इसी आदर्श का परिणाम है कि वैदिक राष्ट्र विश्व का सर्वश्रेष्ठ राष्ट्र बना और वैदिक राष्ट्रीय संस्कृति आज तक कायम है। सारे विश्व की अन्य संस्कृतियों का आज नामोनिशान नहीं, किन्तु जागरूक वैदिक पुरोहितों की तपस्या का फल है कि आज भी वैदिक संस्कृति कायम है।

राष्ट्रीयता का छठा गुण है ब्रह्म अर्थात् ज्ञान। ज्ञान से जिस प्रकार किसी व्यक्ति की आत्मा मुक्त हो जाती है उसी प्रकार ज्ञान से राष्ट्र दूसरों की आधीनता से मुक्त हो जाता है और प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। वैदिक ऋषियों के ज्ञान की ही देन है कि भारत जगद्गुरु कहलाया। जिस देश की मनीषा ने वेद, ब्राह्मण, उपनिषद् जैसे ग्रन्थ दिये उस पर किसी भी राष्ट्रभक्त को गर्व हो सकता है। इन ग्रन्थों में निहित ज्ञान किसी एक जाति का या एक वर्ग का नहीं वह समस्त मानवता के लिए है क्योंकि इनका सृजन 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' की भावना से की गई है।

राष्ट्रीयता का सातवां गुण है यज्ञ। यज्ञ का अर्थ है आत्मसमर्पण का भाव। राष्ट्र के लिए प्रत्येक व्यक्ति को हर प्रकार का बलिदान देने के लिए तैयार रहना चाहिये। जब मनुष्य अपने अल्प हित के लिए राष्ट्रहित का परित्याग कर देता है तब राष्ट्र खण्डित होता है तथा पतन की तरफ बढ़ता है।

भूमिसूक्त के प्रथम मन्त्र में राष्ट्रीयता के सन्दर्भ में एक और महत्त्वपूर्ण बात कही गई है--हमारी मातृभूमि हमारे लिए भूत, भविष्यत् और वर्तमान की स्वामिनी है। वह हमें अपने देश में विस्तृत कार्य क्षेत्र दे। प्रत्येक राष्ट्रभक्त के अन्दर यह भावना जागृत होनी चाहिये। अपने राष्ट्र में अपना कार्यक्षेत्र विस्तृत होने पर इसका फल अपने राष्ट्र को प्राप्त होता है। यदि हमारा कार्यक्षेत्र दूसरे देश में हो तो हमारे कार्य का फल अपनी मातृ भूमि को न मिलकर दूसरे को मिलेगा। हमारे हर कार्य से हमारे राष्ट्र को लाभ हो यह भावना प्रत्येक राष्ट्रभक्त के अन्दर होनी चाहिये। हमारे अपने राष्ट्र में हमें विस्तृत कार्यक्षेत्र न मिले और दूसरों को यह प्राप्त हो यह राष्ट्र के हित में नहीं।

राष्ट्रीय एकता की भावना

राष्ट्रीयता तथा राष्ट्रीयता के गुणों की चर्चा के बाद राष्ट्रीय एकता के विषय में वैदिक ऋषियों का क्या मत है इस विषय पर विचार करेंगे। वेदों के अध्ययन से यह बात मालूम होती है कि वैदिक ऋषि को राष्ट्रीय एकता की भावना कितनी अभीष्ट थी। उसने उन सभी तत्त्वों का विश्लेषण किया था जिससे एक राष्ट्र नष्ट हो सकता है। इसलिए उसके मन में हमेशा यही भावना थी कि राष्ट्र को नष्ट करने वाले तत्त्व न उभरें, उन तत्त्वों को किसी प्रकार दूर करने का प्रयास किया जाय। वैदिक साहित्य में जगह-जगह पर इस बात का उल्लेख मिलता है कि ब्रह्म-शक्ति और क्षात्रशक्ति ये दो शक्तियाँ राष्ट्र को धारण करने वाली प्रमुख शक्तियाँ हैं। अगर इनमें परस्पर किसी प्रकार विरोध हो गया तो वह राष्ट्र बच नहीं सकता। अथर्ववेद के 'ब्रह्मजाया सूक्त' (५।१७, १९) में इस तथ्य का उल्लेख किया गया है कि यदि क्षात्रशक्ति ब्रह्मशक्ति का अपमान करने लगे तो वह राष्ट्र नष्ट हो जाता है।

उग्रो राजा मन्यमानो ब्राह्मणं यो जिघत्सति।
परा तत् सिच्यते राष्ट्रं ब्राह्मणो यत्र जीयते।। --अथर्व० ५/१९/६
तद्वै राष्ट्रमा स्रवति नावं भिन्नामिवोदकम्।
ब्रह्माणं यत्र हिंसन्ति तद्राष्ट्रं हन्ति दुच्छुना।।--अथर्व० ५/१९/८

इस प्रकार राष्ट्र इन दो महान् शक्तियों के संघर्ष में नष्ट न हो जाय इसलिए ऋषियों ने दोनों शक्तियों की एकता पर अधिक बल दिया। उनकी यही कामना रही कि दोनों शक्तियाँ साथ-साथ चलें। जिस राष्ट्र में ये दोनों शक्तियाँ एक-दूसरे की पूरक होकर साथ-साथ चलती हैं वह राष्ट्र श्रेष्ठ होता है, उसका कभी पतन नहीं होता। यजुर्वेद में ऋषि स्पष्ट रूप से घोषणा करता है--

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना।।--शु० यजु० २०/२५

इसीलिए यजुर्वेद के एक मन्त्र में जिसे वैदिक राष्ट्रगीत की संज्ञा दी जा सकती है, ऋषि अपनी इच्छा व्यक्त करता है—

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः।
शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम् ॥

—यजु० २२/२२

वैदिक ऋषि को इस बात की पूर्ण जानकारी है कि उसके राष्ट्र में विविध भाषा बोलने वाले लोग हैं तथा अनेक धार्मिक विश्वास वाले हैं। किन्तु भाषा तथा धार्मिक विश्वास की विविधता राष्ट्रीय एकता में बाधक न हो इसलिए वैदिक ऋषि राष्ट्र को एक घर की संज्ञा देता है, जिसमें एक परिवार के विभिन्न स्वभाव के विभिन्न आयु के स्त्री-पुरुष एक साथ निवास करते हैं। राष्ट्रीय एकता के लिए राष्ट्र की सम्पूर्ण जनता को एक परिवार के रूप में देखना कितनी उदात्त कल्पना है—

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसाम्।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेण धेनुरनुपस्फुरन्ती ॥

—अथर्व० १२/१/४५

अर्थात् अनेक भाषा बोलने वाले तथा विविध धर्म के मानने वाले लोगों को इस प्रकार धारण करती हुई जैसे वे सब एक घर में हों, यह हमारी मातृभूमि समृद्धि की असंख्य धारा प्रवाहित करे जैसे उछल-कूद न करने वाली गाय दूध देती है। इस मन्त्र से यही अर्थ ध्वनित होता है कि जिस राष्ट्र के लोग अपने भाषा, धर्म आदि भेदों को भुलाकर एक परिवार की तरह रहते हैं वह राष्ट्र समृद्धि को प्राप्त होता है।

राष्ट्रीय एकता के लिये यह आवश्यक है कि राष्ट्र के लोग अपने में यह भावना विकसित करें कि उनमें कोई छोटा नहीं, कोई बड़ा नहीं, कोई महत्त्वपूर्ण नहीं, कोई महत्त्वहीन नहीं। सबका राष्ट्र के लिए समान अस्तित्व है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में मरुतों के माध्यम से यह भावना व्यक्त हुई है—

ते अज्येष्ठा अकनिष्ठास उद्भिदोऽमध्यमासो महसा वि वावृधुः।
सुजातासो जनुषा पृश्निमातरो दिवो मर्या आ नो अच्छा जिगातन ॥

—अथर्व० ५/५९/६

जो पृश्निमातरः अर्थात् भूमि को माता मानने वाले हैं उनमें कोई ज्येष्ठ नहीं, कोई कनिष्ठ नहीं, कोई मध्यम नहीं, सभी जन्म से समान हैं तथा उन्नति चाहने वाले हैं। यही भावना राष्ट्रीय एकता का मूल मन्त्र है। राष्ट्र का कोई भी व्यक्ति जब अपने को बड़ा तथा दूसरों को हेय दृष्टि से देखने लगता है तब राष्ट्र में विघटन आता है। मनुष्य के अन्दर नाना प्रकार की विविधतायें हैं। ऋग्वेद भी कहता है—

अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः ।
आदघ्नास उपकक्षास उ त्वे ह्रदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे ॥

—ऋ० वे० १०/७२

अर्थात् आँख, कान, नाम में तो समानता दिखाई पड़ती है किन्तु मन की गति में सभी समान नहीं । इसलिए यह सम्भव नहीं कि सभी मनुष्य समान योग्यता के बिल्कुल एक से बनें । किन्तु राष्ट्रीयता की दृष्टि से ये असमानतायें गौण हैं । यदि इन गौण भेदों को प्रधानता दी जाय तो एक समाज के मनुष्यों का दूसरे समाज से विरोध होने लगेगा । एक समाज दूसरे को प्रतिबन्ध करने लगेगा । यह स्थिति वैदिक ऋषि की दृष्टि में 'संबाध' अर्थात् परस्पर एक-दूसरे को बाधित करने वाली हैं । इस संबाध की स्थिति में राष्ट्र क्षीण हो जाता है । इसलिए अथर्ववेद का ऋषि अपनी मातृभूमि में 'असंबाध' की स्थिति का होना आवश्यक मानता है—

असंबाधं मध्यतो मानवानां यस्या उद्वत प्रवतः समं बहु ।
नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः ॥

—अथर्व० १२/१/२

राष्ट्रीय एकता के लिए वेदों में सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से विचार किया गया है । सैद्धान्तिक दृष्टि से, चाहे पारिवारिक एकता की बात हो, चाहे सामाजिक एकता की बात हो, चाहे राष्ट्रीय एकता की बात हो अथवा विश्व की एकता की बात हो, वेद समान रूप से तीन सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा करता है । वे तीन सिद्धान्त हैं—एक साथ चलना, एक साथ बातचीत करना तथा एक साथ चिन्तन करना । इनको संक्षेप में क्रमशः सह गमन, सह वार्ता तथा सह चिन्तन का सिद्धान्त कहा जा सकता है । इन तीनों सिद्धान्तों का उल्लेख ऋग्वेद के प्रसिद्ध संज्ञान सूक्त में मिलता है—

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥

—ऋवें० १०/१९१/२

राष्ट्रीय एकता के लिए 'संगमन' या 'सह-गमन' का सिद्धान्त क्या है ? संगमन का शाब्दिक अर्थ है एक साथ चलना । किन्तु इस संगमन या सह-गमन के पीछे वैदिक ऋषि की दृष्टि कुछ और है । राष्ट्र में सभी लोगों के कर्म बँटे हुए हैं । एक विशिष्ट कर्म जिन-जिन लोगों के लिए विहित किया गया है, उस कर्म को सम्पादित करने की पूर्ण जिम्मेदारी उन सभी लोगों की है । यदि सभी लोग उस कार्य को समान उत्तरदायित्व समझकर उत्साह पूर्वक कर रहे हैं तो यह कार्य 'संगमन' कहलायेगा । इसी प्रकार राष्ट्र के लोगों को प्रत्येक की योग्यता, दक्षता एवं

रुचि को देखकर जो-जो कर्म निर्धारित किये गये हैं, उन-उन लोगों के द्वारा उत्साहपूर्वक अपने-अपने कर्त्तव्य का पालन करना संगमन कहलायेगा। इस प्रकार राष्ट्र के सभी लोग अपना-अपना कर्म राष्ट्र के हित में अपना उत्तरदायित्व समझकर करते हैं, उनमें परस्पर विद्वेष या अलगाव की भावना नहीं आयेगी। किन्तु जब यह स्थिति आती है कि कुछ लोग अपना उत्तरदायित्व समझकर उस कार्य को उत्साहपूर्वक करें और अन्य उस कार्य को न करें तो आपस में विद्वेष या ईर्ष्या की भावना का आना स्वाभाविक हो जाता है। यही विद्वेष की भावना राष्ट्रीय एकता के लिए खतरनाक सिद्ध होती है। इसलिए वेद हमेशा इस बात पर बल देता है कि राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति अपना-अपना कर्म समान उत्तरदायित्व समझकर करे। अथर्ववेद कहता है—

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वियौष्ट संराधयंन्तः सधुराश्चरन्तः।

—अथर्व० ३/३०/५

मन्त्र का 'सधुराश्चरन्तः' पद महत्त्वपूर्ण है और बताता है कि जैसे दो बैल जुआ को समान रूप से धारण करके चलते हैं उसी प्रकार राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को अपना कर्तव्य कर्म करना चाहिये।

राष्ट्रीय एकता का दूसरा सिद्धान्त 'सहवार्ता' का है। आज भी देखा जाता है कि अनेक राष्ट्रीय महत्त्व के प्रश्न सहवार्ता के द्वारा सुलझाये जाते हैं। राष्ट्रीय एकता के लिए आवश्यक है कि एक व्यक्ति दूसरे के साथ बात करे। जब कोई व्यक्ति अपने को बड़ा समझकर दूसरे के साथ बात नहीं करता तो उससे एकता की भावना कमजोर होती है। इसलिए वैदिक ऋषि कहता है—

'अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत' ।—अथर्व० ३/३०/५

अर्थात एक-दूसरे के लिए प्रिय वचन बोलते हुए आओ। इसी सहवार्ता के सिद्धान्त का और स्पष्टीकरण करते हुए यजुर्वेद में कहा गया है—

'यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च' ॥— शु० य० २६/२

हम सभी लोगों के लिए, ब्राह्मण-क्षत्रिय के लिए, शूद्र के लिए, वैश्य के लिए, अपने लोगों के लिए तथा दूसरे लोगों के लिए—कल्याणकारी वचन बोलें।

राष्ट्रीय एकता का तीसरा सिद्धान्त है राष्ट्र के सभी लोगों का राष्ट्र हित के लिए सह चिन्तन। इसी को 'संमनन' का सिद्धान्त कहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति का चिन्तन भिन्न-भिन्न होता है किन्तु यह भिन्न चिन्तन इतना न हो जाय कि राष्ट्रीय एकता के लिए बाधक बन जाय। इसलिए वैदिक ऋषि संमनन या सहचिन्तन के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। अथर्ववेद का ऋषि कहता है—

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः ।
तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ।। —अथर्व० ३/३०/४

राष्ट्रीय एकता के लिए व्यावहारिक दृष्टि है राष्ट्रभूमि के साथ भावनात्मक सम्बन्ध का उद्बोध । जब तक देश के नगरों, पहाड़ों, नदियों एवं अन्यान्य स्थानों के प्रति आदर की भावना उत्पन्न न हो, जब तक अपने पूर्वजों के किये महान् कर्मों पर अभिमान न हो तथा जब तक अपनी संस्कृति की महनीयता का बोध न हो, राष्ट्रीय एकता की भावना जागृत नहीं हो सकती । वैदिक ऋषि की दृष्टि इस तथ्य को विशेष रूप से उद्घाटित करती है । भूमि सूक्त का ऋषि कहता है—

यस्या पुरो देवकृतः क्षेत्रे यस्या विकुर्वते ।
प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगर्भामाशामाशां रण्यां नः कृणोतु ।।
—अथर्व० १२/१/४४

'हमारी मातृभूमि के नगर देवताओं के द्वारा निर्मित हुए हैं' यह विश्वास मातृभूमि के प्रति प्यार जागृत करने के लिए विशेष महत्त्व रखता है । इस प्रकार का जीवित विश्वास यदि जनता के मन में बैठ जाय तो निश्चित ही राष्ट्र के प्रति उनके अन्दर प्यार जागृत होगा । भारतीयों के अन्दर यह भावना वैदिक काल से चली आ रही है । यहाँ के नगरों का ही नहीं बल्कि, सरोवर, पर्वतशृंग, गुफा, नदी आदि स्थानों का सम्बन्ध देवताओं तथा पुण्यात्मा पुरुषों के साथ रहा है । पुराणकाल में तो यह भावना इतनी व्यापक हुई कि देश का हर स्थान तीर्थ बन गया । यही भावना आज भी हिमालय से रामेश्वर तक द्वारिका से गंगासागर तक सभी लोगों में देखी जा सकती है ।

इस राष्ट्र को बनाने में तथा इस उच्च स्थिति तक पहुँचाने में हमारे पूर्वजों ने क्या-क्या कार्य किये हैं उन कार्यों के प्रति गर्व की भावना राष्ट्रीय एकता के लिए आवश्यक है । इसी तथ्य को भूमिसूक्त का ऋषि—

यस्यां पूर्वे भूतकृत ऋषयो गा उदानृचुः ।
सप्त सत्रेण वेधसो यज्ञेन तपसा सह ।।—यजु० १२/१/३९

आदि मन्त्रों में उद्घाटित करता है ।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि वेद में जो राष्ट्र का, राष्ट्रीयता का तथा राष्ट्रीय एकता का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है वह एक आदर्श रूप है । उसका शाश्वत महत्त्व है । वैदिक राष्ट्रवाद के तत्त्वों का ज्ञान यदि लोगों को कराया जाय तो आज राष्ट्र अलगाववाद, पृथकतावाद, उग्रवाद आदि कई रोगों से बच सकता है । विशाल हित के लिए अल्पहित का परित्याग यही वैदिक राष्ट्रवाद का सन्देश है ।

सन्दर्भ

१. ऋवे० ४।४२।१, ७।८४।२, १०।१०४।३, १२४।४, १७३।१, २, ५
शु०य० १०।२[४]. ३[६], ४[१६], १२।११, २०।८
तै० सं० १।६।१० ३, ८।११।१[२], २।१।२।६, ४।७, ३।१।४[३], ५।१।१, ३।४।६।२[४], ८।१[११], २, ३[३], ५।७।३[२], ४।२।१।४, ५।२।१।४[७], ४।७।७[२], ६।३, ७।४।४[४]
मै० सं० २।१।४, ५।४, ६।७, ३।१।६[२], ३।७[३], ४।३[३], ७।४, ८।६, ११।८, ४।३।८[४], ६. ४।१, २[२], ६[२], ६।३[२]
काठ० सं० १५।६[५], १६।८, १६।११, २१।१०[३], १२[४], २७।८, ३७।११[६], १२[२], ३।८।४
अथर्वं० ३।४।१, ८।१, १६।२, ५, ५।१७।३, ४, १६।६ ७, ८[२], ६।३६।२, ८७।१, २; ८८।२, १२८।१, १३४।१, ७।३६।१ ८।६।१३, १०।३।१२, १०।८, ११।७।७. १८, १२।३।१०, ५।२, १३।१।१, ४, ५, ८, २०, ३४, ३५, १६।४९।१

२. तै० सं० २।२।७।४
मै० सं० १।६।१, २।७।८
काठं० सं० ७।१२
अथर्वं० १६।३०।३

३. तै० सं० ३।४।८।१

४. ऋवे० १०।१७४।१

५. तै० सं० ३।४।६।२

६. ऋवे० १०।१२४।५
मै० सं० २।१।११, ४।३।८
ऋ० खिल ४।६।४
काठ० सं० ३७।११
अथर्वं० ३।४-५।२, ५।१६।४, ६।५४।२।२

७. ऋवे० ७।३।४।१

८. ऋ० खिल २।६।७, ५।१०।३, ४
शु० य० ६।२३, २०।१०, २२।२२
तै० सं० १।७।१०।१, ८ १८।२, ३।४।८।३, ५।४।७।७, ७।५।१८।११
मै० सं० १।११।४, २ १।११, ३।१२।६, ४।४।१

काठ० सं० १४।२, ३८।४, ४०।६, ४५।१४
अथर्व० ५।१७।१२-१७, १६।१०, १२।१।८, १३।१।६, २०।१२७'६, १०

९ तै० सं० ३।४।८।१

१०. शु०य० १०।२[४], ३[६], ४[१६]
तै० सं० १।१८।१।१।१[२]
मै० सं० २।६।७[३]
काठ० सं० १५।६

११. अथर्व० १०।३।१६

१२. तै० सं० ३।४।८।१, २।४, ७, ५।४।६।३, ७।७।४, ५।७।४।६
अथर्व० ६।११८।२, ७।११४।६, १०।८।१५, १३।१।३५
तै० सं० ३।४।६।२

१३. अथर्व० १६।३७।३

१४. ऋवे० ६।४।५, ८।१००।१०, १०।१२४।३
ऋ०खिल० ३।२२।२
अथर्व० ४।१।२, ३०।२

१५. मै० सं० ३।३।७, २।१।१२[२]

१६. शु०य० १०।३।४

१७ ऋवे० १०।१७३।१
अथर्व० ३।४।१-२

१८. 'A Nation is an extensive aggregate of persons so closely associated with each other by common descent, language, or history as to form a distinct race or people, usually organised as a separate political state and occupying a definite territory.'

—Oxford Dict. Under 'Nation'

१९. ऋवें० में भरतों का उल्लेख मिलता है। विश्वामित्र ने भरतों के साथ विपाट् और शुतुद्री के संगम को पार किया था। भरतों का सम्बन्ध तृत्सु राजा सुदास के साथ था। यही तृत्सु-भरत कुरु पांचाल के नाम से प्रसिद्ध हुए।

द्रष्टव्य—पार्जिटर, एंशिएण्ट इण्डियन हिस्टारिकल ट्रेडिशन; मैकडानल और कीथ, 'वैदिक इण्डेक्स', भरत के अन्तर्गत।

२०. तस्या अग्निभरितः शर्म यंसज्ज्योक् पश्यात्सूर्यमुच्चरन्तम् ।

—ऋवे० ४।२५ ४

अग्निरगामि भारतः वृत्रहा पुरुचेतनः ।

दिवोदासस्य सत्पतिः ।।—ऋवे० ६।१६।१९

२१. वुः विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेदं भारतं जनम् ।—ऋवे० ३।५३।१२

२२. भारतीडे सरस्वति या वः सर्वा उपब्रुवे ।
ता नश्चोदयत श्रिये ।—ऋवे० १।१८८।८
सरस्वती साधयन्ती धियं न इडा देवी भारती विश्वतूर्ति ।
तिस्रो देवीः स्वधया बर्हिरेदमच्छिद्रं पान्तु शरणं निषद्य ।। —ऋवे० २।३।८
आ भारती भारतीभिः सजोषा इडा देवैर्मनुष्येभिरग्निः ।
सरस्वती सारस्वतेभिरर्वाक् तिस्रो देवी बर्हिरिदं सदन्तु ।।

—ऋवे० ३।४।८, ७।२।८

भारती पवमानस्य सरस्वती सा मही ।
इमं नो यज्ञमागमन् तिस्रो देवीः सुपेशसः ।।—ऋवे० ९।५।८
आ नो यज्ञं भारती तूयमेत्विका मनुष्वदिह चेतयन्ती ।
तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं स्योनं सरस्वती स्वपसः सदन्तु ।।

—ऋवे० १०।११०।८

२३. मम द्विता राष्ट्रं क्षत्रियस्य विश्वायोर्विश्वे अमृता यथा नः ।

—ऋवे० ४।४२।१

२४. युवो राष्ट्रं बृहदिन्वति द्यौर्यौ सेतृभिररज्जुभिः सिनीथः । —ऋवे० ७।८४।२

२५. आ यातु मित्र ऋतुभिः कल्पमानः संवेशयन्पृथिवीमुस्रियाभिः ।
अथास्मभ्यं वरुणो वायुरग्निर्बृहद्राष्ट्रं संवेश्यं दधातु ।। —ऋवे० ३।८।१

२६. राजा राष्ट्रानां देशो नदीनामनुत्तमस्मै क्षत्रं विश्वायुः । —ऋवे० ७।३४।११

□

राष्ट्र के ऐकात्म्य में संस्कृत भाषा का योगदान

डॉ० लक्ष्मी नारायण दुबे

पाँच सहस्र वर्षों से अनवरत रूप में, संस्कृत के माध्यम से राष्ट्र के ऐकात्म्य को प्रौढ़ स्थिति तथा परिपक्व मूलभित्ति प्राप्त हुई है। राष्ट्र के ऐकात्म्य में संस्कृत तथा अन्य भारतीय भाषाओं ने ऐतिहासिक एवं अविस्मरणीय योगदान दिया है।

संस्कृत भाषा भारतीयों की प्राणभूत भाषा है संस्कृत भाषा में ही उनका मनन, चिंतन, गवेषण और अनुभूति समन्वित है। इसमें विश्व का सबसे प्राचीनतम साहित्य, प्राचीन संस्कृति तथा सभ्यता—उपलब्ध है। भारत का समस्त प्राचीन ज्ञान-भण्डार संस्कृत में ही है। संस्कृत ने एशिया महाद्वीप तथा यूरोप एवं अमेरिका की भाषाओं तथा संस्कृतियों को प्रभावित किया है।

संस्कृत प्राचीन भारत की राष्ट्रभाषा थी। इसमें राष्ट्रीयता के तत्त्वों का प्राचुर्य है। प्राचीन ही नहीं अपितु विश्व के समस्त देशों में संस्कृत के प्रति सम्मान की भावना रही है। यह विश्व की प्राचीनतम भाषा है।

कीथ तथा ग्रियर्सन के अभिमतों के अनुसार रामायण, महाभारत काल में संस्कृत बोलचाल की भाषा थी। बोलचाल के रूप में व्यवहृत होने के कारण, इसने समूचे राष्ट्र में ऐकात्म्य की अवधारणा को सम्पुष्ट करने में अहम् भूमिका का सफल निर्वाह किया। 'रामायण' में उल्लेख है कि हनुमान ने बहुत विचार करके, अशोक वाटिका में सीता से संस्कृत में ही बोलने का निश्चय किया था। गौरीनाथ शास्त्री-कृत 'ए कंसाइज हिस्ट्री आफ क्लासिकल लिटरेचर' (आक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, १९६०) में यह लिखा है कि रामायण के सुन्दरकाण्ड से यह पता चलता है कि द्विजों की बोलचाल की भाषा संस्कृत थी।

निरुक्तकार यास्क (७०० ई० पू०), पाणिनि (५वीं शती ई० पू०) कात्यायन (चौथी शती ई० पू०) वार्तिक और पतंजलि (१५० ई० पू०), महाभाष्य ने संस्कृत को जनभाषा माना था। अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त डच मनीषी बैरेण्ड फैडेगन

के कथन से सर्वथा सुस्पष्ट है कि भारत की आत्मा की खोज और उसके ऐकात्म्य के दर्शन संस्कृत के महान् वैयाकरण पाणिनि में किये जा सकते हैं। मैं पाणिनि की उपासना करता हूँ क्योंकि वह भारत की आस्था को प्रकाशित करता है और मैं भारत की उपासना करता हूँ क्योंकि यह देश आत्मा को प्रकाशित करता है।

पंचतंत्र के अध्ययन से यह निष्कर्ष मिलता है कि राजकुमारों एवं प्रशासकों की शिक्षा का माध्यम संस्कृत थी। विष्णु शर्मा ने संस्कृत के ही माध्यम से अपनी संरक्षकता में आए राजकुमारों को शिक्षा प्रदान की थी। एफ० डब्ल्यू० टामस की यह मान्यता है कि ब्राह्मणकाल एवं उसके पश्चात् संस्कृत सामान्य जनता के धार्मिक कृत्यों, पारिवारिक संस्कारों तथा शिक्षा और विज्ञान की भाषा थी। कालिदास तथा भवभूति के नाटकों से भी यह विदित होता है कि शिक्षा का माध्यम उस समय संस्कृत थी।

किसी देश की राष्ट्रभाषा वह भाषा होती है जो उस देश की संस्कृति कीप्रतीक हो। प्राचीन भारत की संस्कृति की प्रतीक संस्कृत है। किसी देश की राष्ट्रभाषा में उस देश की आत्मा विद्यमान रहती है। राष्ट्रभाषा के माध्यम से उस देश की उपलब्धियों का पता चलता है। राष्ट्र की आत्मा तक पहुँचने के लिए राष्ट्रभाषा का आश्रय लिया जाता है। हिन्दी के राष्ट्रभाषा पर विवाद है परन्तु संस्कृत को तमिलनाडु भी सहर्ष स्वीकार करता है।

वैद्यराज चरक (प्रथम शताब्दी) ने चरक-संहिता में वैद्यों के वार्तालाप में संस्कृत के प्रयोग का उल्लेख किया है। चीनी यात्री ह्वेनसांग (सप्तम शताब्दी) के मतानुसार, बौद्ध लोग शास्त्रार्थ में संस्कृत का ही व्यवहार करते थे। हमारे आधुनिक काल में महर्षि दयानन्द सरस्वती ने भी देश भर में संस्कृत में ही शास्त्रार्थ किये थे।

राजा भोज के समय में (एकादश शताब्दी) धारा नगरी का एक जुलाहा भी सुन्दर श्लोक बना सकता था। तेरहवीं-चौदहवीं शती तक हिन्द-चीन में संस्कृत राजभाषा थी।

इस प्रकार सर्वथा सुस्पष्ट है कि संस्कृत ने प्राचीन भारत में देश को एकात्मता के सूत्र में बाँधने में प्रमुख भूमिका निबाही। वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, गीता, भागवत् आदि ग्रन्थों का देश के सभी भाषाओं मे अनुवाद हुए। कालिदास तथा कम्पन को समूचे देश ने अंगीकार किया।

भाषा, साहित्य तथा संस्कृति राष्ट्रीय अस्मिता की उद्घाटिका है। अनुवाद के द्वारा भाषायी सौहार्द्र तथा सद्भाव विकसित होते हैं और देश में सांस्कृतिक समन्वय की स्थितियाँ सुदृढ़ होती हैं। हमारे देश की भाषाओं में संस्कृत की रच-

नाएँ सर्वाधिक लोकप्रिय रहीं। तेरहवें उपनिषद् गीता को अलबरूनी ने अपने यात्रा-संस्मरण में विशेष महत्त्व दिया। फैंजी ने इसका फारसी में अनुवाद किया और दाराशिकोह ने इसका 'सरे अकबर' नाम रखा। बंगाल के सूबेदार हुसैनशाह ने भागवत का बंगला में अनुवाद कराया। दशमेश गुरु गोविन्द सिंह ने भी पंचम वेद महाभारत का अनुवाद कराया था।

भक्ति ने देश को जोड़ने में अग्रणी कार्य किया। भागवत् तथा पद्मपुराण में भक्ति कहती है—मैं द्राविण देश में जन्मी, कर्नाटक में विकसित हुई, कुछ समय तक महाराष्ट्र में रही और गुजरात में पहुँचकर जीर्ण हो गयी।

संस्कृत की लिपि देवनागरी को हिन्दी, मराठी तथा नेपाली ने अपनाया। संस्कृत के तीन लिंगों को मराठी तथा गुजराती ने स्वाकार किया परन्तु हिन्दी में दो लिंग हैं। भोजपुरी के अनेक शब्दों का सीधा सम्बन्ध वैदिक संस्कृत के साथ है।

वर्तमान प्रायः समस्त भारतीय भाषाएँ संस्कृत से प्रभावित हैं। आर्य परिवार की भाषा का तो संस्कृत से सीधा सम्बन्ध है ही परन्तु द्राविण परिवार की तमिल, तेलुगु, मलयालम एवं कन्नड़ भाषाओं पर भी संस्कृत की पर्याप्त प्रतिछाया है।

हिन्दी संस्कृत की उत्तराधिकारिणी है। हिन्दी में लगभग पांच लाख शब्द हैं जिनमें अस्सी प्रतिशत तत्सम अर्थात् संस्कृतनिष्ठ हैं। सम्पूर्ण विश्व में लगभग २८०० भाषाएँ बोली जाती हैं जिनमें चीनी, अंग्रेजी के बाद हिन्दी का तृतीय स्थान है। सम्पूर्ण भारत में १७६ भाषाएँ हैं। हमारे देश में ५४ बोलियाँ या उपभाषाएँ हैं। भारत में नागरी लिपि तथा हिन्दी जानने, बोलने, पढ़ने और लिखने वालों की संख्या ४२ करोड़ है। संस्कृत की उत्तराधिकारिणी के रूप में आज हिन्दी देश को संयुक्त करने वाली सबसे बड़ी कड़ी, सम्पर्क भाषा और सुदृढ़ सेतुबन्ध है। हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाएँ संस्कृत की ऋणी हैं और राष्ट्र के ऐकात्म्य में संवेदनशीलता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण एवं अपरिहार्य हैं।

आधुनिक ज्ञान प्राय. छः सौ शाखाओं में विभक्त है। इन सभी शाखाओं में प्रयुक्त शब्दों की संख्या लगभग बीस लाख मानी जाती है। इसके लिए हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के लिए सिर्फ तीन ही मार्ग हैं—ग्रहण, अनुकूलन और निर्माण। संसार में संस्कृत, चीनी, ग्रीक और लैटिन ये चार ही भाषाएँ ऐसी हैं जिनमें शब्द-निर्माण की अपरिमित क्षमता तथा पूर्ण योग्यता है और इनमें भी संस्कृत का स्थान सर्वोच्च है। उपसर्ग और प्रत्यय का भेद कर, एक मूल से शताधिक शब्द बनाये जा सकते हैं। यूरोप की अनेक भाषाएँ जैसे अंग्रेजी, फ्रेंच,

जर्मन, रूसी आदि जो अन्यथा पर्याप्त समृद्ध हैं, अपनी पारिभाषिक शब्दावली के निमित्त ग्रीक, लैटिन का आश्रय ग्रहण करती हैं। यदि इस परिप्रेक्ष्य में हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाएं संस्कृत पर अवलम्बित हों—तो इसमें पूर्ण औचित्य है।

इस सन्दर्भ में, संस्कृत के आधार पर तकनीकी, पारिभाषिक एवं वैज्ञानिक शब्दावली के निर्माण का परिवृत्त, सारे देश की भाषाओं को एकसूत्रता में आबद्ध करने का साधु प्रयास है जिससे राष्ट्र के ऐकात्म्य में विशेष शक्ति मिलती है।

हमारे राष्ट्र में, स्वाधीनता के पश्चात्, जब शिक्षा एवं ज्ञान के प्रचार-प्रसार भारतीय भाषाओं के माध्यम से होने का पुरजोर उपक्रम शुरू हुआ तो सबसे बड़ी कठिनाई वैज्ञानिक एवं तकनीकी क्षेत्र में पारिभाषिक शब्दों के अभाव के कारण उत्पन्न हुई। हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के लिए समान पारिभाषिक शब्दावली बनाने का कार्य वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग कर रहा है। आयोग ने संस्कृत के आधार पर विज्ञान तथा मानविकी के विभिन्न विषयों में लगभग चार लाख हिन्दी पर्याय बना लिये हैं और उन्हें विभिन्न बृहद् पारिभाषिक शब्द संग्रह के रूप में प्रकाशित किया है। इस प्रक्रिया में आधुनिक संकल्पनाओं को सही-सही व्यक्त करने के लिए जहाँ कहीं उपयुक्त भारतीय शब्द मिले हैं, वहाँ आयोग ने उन्हीं पर्यायों को प्राथमिकता दी है, नये शब्द स्थिर नहीं किये हैं। आयोग द्वारा निर्मित अधिकांश पर्याय संस्कृत शब्दों पर आधृत हैं जो कि समस्त भारतीय भाषाओं में मिलते हैं। इस दिशा में अभी तक मूलभूत विज्ञानों के लगभग एक लाख तीस हजार हिन्दी पर्याय, मानविकी विषयों के लगभग अस्सी हजार पर्याय, इंजीनियरी के पचास हजार पर्याय, आयुर्विज्ञान के लगभग पचास हजार पर्याय तथा कृषि से सम्बन्धित लगभग सत्रह हजार पाँच सौ हिन्दी पर्यायों को समंकित किया जा चुका है।

अब विज्ञान तथा तकनीकी विषयों में अखिल भारतीय शब्दावली के निर्माण की योजना भी क्रियान्वित हो चुकी है। अखिल भारतीय शब्दावली से तात्पर्य यहाँ उन पर्यायों से है जिनका प्रयोग एक ही अर्थ और सन्दर्भ में हिन्दी सहित अन्य सभी भारतीय भाषाओं में किया जा सकता है। इसका आधार भी संस्कृत ही निर्धारित किया गया है। गम्भीरता से विचार करने पर यह सारभूत तथ्य हमारे समक्ष प्रस्तुत होता है कि इस योजना से हमारी राष्ट्रीय एकता और भी अधिक सुदृढ़ होगी। इस परिप्रेक्ष्य में, विभिन्न विज्ञानों तथा समाज विज्ञान के विषयों में लगभग बीस हजार अखिल भारतीय पर्यायों का निर्माण कर लिया गया है। इस महती राष्ट्रीय योजना की क्रियान्विति में हिन्दी तथा संस्कृत के अतिरिक्त, हिन्दीतर भाषी क्षेत्रों यथा

मराठी, उड़िया, तमिल, तेलुगु; कन्नड़, मलयालम आदि के भाषाविदों की सक्रिय हिस्सेदारी रही। इन पर्यायों में से लगभग अस्सी प्रतिशत वही पर्याय हैं जिन्हें आयोग विभिन्न शब्दकोशों में अलग-अलग विषयों के अन्तर्गत प्रकाशित कर रहा है। इस प्रकार यह बात स्वतः प्रमाणित है कि आयोग द्वारा तैयार की गयी शब्दावली अधिकांशतः सभी भाषाओं में प्रयोग की जा सकती है।

इससे यह प्रमाणित होता है कि राष्ट्रीय महत्त्व के इस कार्य से संस्कृत की अखिल भारतीय भूमिका ही रेखांकित नहीं होती है प्रत्युत उसके द्वारा राष्ट्र के सांस्कृतिक, बौद्धिक, अकादमिक, शैक्षिक एवं भाषायी ऐकात्म्य में महार्घ अवदान मिल रहा है। राष्ट्रीय एकता तथा अखण्डता के ये अधुनातन कार्य-कलाप हमारी ठोस, नींव का निर्माण करते हैं। इस प्रकार राष्ट्र के ऐकात्म्य के संस्कृत तथा अन्य भारतीय भाषाओं के विशद आयामों को आकलित किया जाना प्रासंगिक एवं सन्दर्भानुकूल पग है। राजनीति देश को तोड़ती है परन्तु संस्कृति देश को जोड़ती है। ये जोड़ने के घटक जितने हमारे परिवेश में भाषा, संस्कृति एवं साहित्य के माध्यम से मुखर होते हैं—उनमें उतना ही शाश्वत तथा प्रेरणादायी स्वरूप होता है।

□

Values of life and Indian Identity as reflected in Sanskrit Literature

Dr, Mrs. Chitra P. Shukla,

Culture is an outcome of the habits owned by a society. Indian culture reflects the ideals accepted by the people of India. Quest for Dharma, perception of unity in diversity, belief in the immortality of soul, an attempt to establish harmony between life and religion, subtle optimism and a tendency to rise above wordly joys may be considered as the characteristics of Indian Culture.

These ideals were accepted from generation to generation. Supreme importance is attached to Dharma. The *Mahābhārata* and *Rāmayāna* depict the struggles for Dharma. Thus, it is said in the Mahābhārata :

धारणाद् धर्ममित्याहुः धर्मेण विधृताः प्रजाः ।
यः स्याद् धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥—महाभारत १२।१०९।१९

Again, in the Swargārohaṇaparva we find :

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति माम् ।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यताम् ॥

—महाभारत (स्वर्गारोहणपर्व) ५।७५

Vālmīki, in Rāmāyaṇa says :

धर्मादर्थः प्रभवति धर्मात्प्रभवते सुखम् ।
धर्मेण लभते सर्वं धर्मसारमिदं जगत् ॥

The *Rāmāyana* and the *Mahābhārata* have a profound influence on the life and literatures of Indians, and have become the sources of many beautiful plays and epics. Bhāsa's plays and

Venīsamhāra are too well known. Bhavabhūti's Mahāvīracarita and Uttararāmacarita, Diṅnaga's Kundamālā, Rājas'ekhara's Bālarāmāyana, Somadeva's Ullagharāghava, Jayadeva's Prasannarāghava, Murārı's Anargharāghava, śaktıbhadra's Āścaryacūdāmaṇi, Mahādeva's Adbhutadarpaṇa are based on Rāmāyaṇa.

The Upaniṣads have sung the songs of unity in diversity. सर्वं खलु इदं ब्रह्म preaches that all the objects of the world are the modifications of the conscious principle. In the Chhāndogya Upaniṣad it is preached :

यथा सौम्य एकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात् ।
वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ॥
—छान्दोग्योपनिषत् पृ० ५३३

This perception has a very powerful influence on our principles of arts and literary criticism. In the Nāṭyasāstra it is said :

भावा: विकारा: रत्याद्या: शान्तस्तु प्रकृतिर्मत: ।
विकार: प्रकृतेर्जात: पुनस्तत्रैव लीयते ॥—नाट्यशास्त्र, पृ० ३३४

Theorists emphasize that there should be only one principal *Rasa* in a Drama or Epic, to which all the other *Rasas* should be subordinate :

प्रसिद्धेऽपि प्रबन्धानां नानारसनिबन्धने ।
एको रसोऽङ्गीकर्त्तव्यस्तेषामुत्कर्षमिच्छता ॥—ध्वन्यालोक पृ० ६२३

In literature this perception is reflected in many ways. Kālidāsa says : नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्

Bhavabhūti describes speech as : अमृतामात्मन: कलाम्

He again says :

एको रस: करुण एव निमित्तभेदात्
भिन्न: पृथक्पृथगिवाश्रयते विवर्तान् ।
आवर्तबुद्बुद तरङ्गमयान्विकारा-
नम्भो यथा सलिलमेव तु तत्समग्रम् ॥—उत्तररामचरित पृ० १७२

Allegorical plays like the *Samkalpasūryodaya* of Vedāntadeśika, *Prabodhacandrodaya* of Kṛṣṇamiśra, *Mohaparājaya* of Yaśaḥpāla and *Dharmavijayanāṭaka* of Bhūdevashukla also hint at the same point. Innumerable *stotras*, *Subhasitas* and *Muktakas* have beautifully brought out this unity e. g.

त्वमर्कस्त्वं सोमस्त्वमसि पवनस्त्वं हुतवहः
त्वमापस्त्वं व्योम त्वमु धरणिरात्मा त्वमिति च ।
परिच्छिन्नामेवं त्वयि परिणता बिभ्रतु गिरं
न विद्मस्तत्तत्त्वं वयमिह तु यत्त्वं न भवसि ।। —शिवमहिम्नस्तोत्र

The spirit of harmonizing life with religion, and of harmonizing the good and the beautiful is a remarkable characteristic of our culture. This spirit has given us an optimistic outlook. There is no dissatisfaction, no grudge towards life because sufferings are to be borne as consequences of *Karma*. Hence the horror and terror, which characterize the Western tragedy are conspicuous by their absence in Sanskrit Drama. This optimism is reflected in the rule that the drama should always have a happy end. This spirit of harmonizing and the quest for the good and the beautiful lead to Delight. The concept of *Rasa* comprises the ideas of the good, the beautiful and the delightful, and hence the experience of Rasa is considered to be equivalent to the realisation of self. Drama or poetry should elevate the life and arouse the experience of *Rasa*. Mammaṭa; mentions the objects of Kāvya. He says :

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासंमिततयोपदेशयुजे ।।— काव्यप्रकाश, पृ० ७१

The faith in the good and the beautiful and the consequent optimism have taught the Indians to tolerate and to remain balanced in happiness or misery. Bhāsa in Svapnavāsavadattam says :

पूर्वं त्वयाप्यभिमतं गतमेवमासीत्
श्लाघ्यं गमिष्यसि पुनर्विजयेन भर्तुः ।

कालक्रमेण जगतः परिवर्तमाना
चक्रारपङ्क्तिरिव गच्छति भाग्यपङ्क्तिः ।।—स्वप्नवासवदत्तम्, पृ० ६

Kālidāsa, in Meghadūta says :

कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा ।
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ।। —मेघदूत, पृ० ४६

The tendeney to tolerate is reflected in the acceptance of the cultures of the people who have invaded India. Many literary works from English are adapted in Sanskrit. Acharya Rewaprasad Dwiwedi has given us a play named 'Yūthikā', based on Shakespearès Romeo and Juliet. Twelfth night is translated as 'Dwādas'ī Rātrih' Parodies and comedies of English literature have influenced Sanskrit Literature. Dr. V. Raghavan has given us Vidyānāthavidaṃbanā which is a play parodizing Prataparudrayas'obhūṣaṇa of Vidyānātha. The traditional one Act *Prahasana* now is extended to more Acts. It gives up its coarse and grotesque *Hāsyarasa* and gives rise to healthy and decent humour Plays by S'ri Jīva Nyāyatīrtha, Gajendrashankar Pandya and Mahālingas'āstrī may be cited as examples. The hitherto neglected middle class now finds representation in Modern Sanskrit Drama. *Saṃkarvivāham* of Viswanātha Kulakarni, Ubhayarupakam of Mahālingasāstri, may be cited as instances. Modern Sanskrit language has coined out words which are relevant to modern life and scientific inventions, which proves beyond doubt that Sanskrit is a living language.

Recognition of all the objects—be they sentient or insentient —as parts and parcels of the cosmos is also a remarkable trait of Indian Culture. Trees, mountains, rivers and oceans are sacred to all the Indians. Love for nature is reflected everywhere in Sanskrit Literature. The Ṛtusaṃhāra is well know. Kālidāsa, Bhavabhūti, Harṣa and many other Sanskrit poets have described Nature, in her delicate and grand aspects. The As'oka, Bakula and Tilaka trees are pampered by our Sanskrit poets, because they will not blossom without a kick or a mouthful of a beautifully dressed maiden.

The tendency to rise above wordly joys has imparted depth and dignity to our thoughts. Even to-day fasts are observed and vows are taken by the Indians in order to cultivate self-control. Bhartrhari's Nītiśataka and Vairagyaśataka, and many good muktakas from Jagannātha's Prāstāvikavilāsa praise the good persons for their self control. The ever-hungry Vidūsaka is laughed at in Sanskrit Drama. The Bhānas and the Prahasanas describe very sarcastically the showy Brahmins. Ghanas'yāma, in his Candānurañjana says :

पुरीषस्य च रोगस्य हिंसायाः तस्करस्य च ।
आद्याक्षराणि संगृह्य विधिश्चक्रे पुरोहितम् ।।—चण्डानुरञ्जन अनुवाद पृ० ४१

In *Madanasañjīvana Bhāna*, an ascetic is ridiculed because he canvasses his sect and offers money to those who are ready to get converted to his own sect.

Prahasanas satirize hypocrite mendicants. *Prahasanas* like Hāsyacūdamaṇi, Dhūrtasamāgama, Dhūrtanartaka point out the hypocracy of the Ācāryas of different sects, who, though outwardly talk of knowledge and renunciation, are involved with some courtezan. Even the Prahasanas of modern period satirize the malpractices prevalent in society and politics *Kasya Dosah* of Gajendrashankar Pandya, *Swargiya hasana* and *Atha kim* of Siddheswara Cakravarty, *Vestanavyāyoga* and *Śārdūlaśakaṭa* of Virendra Bhattacarya satirize strikes, gherao, and malpractices prevalent in elections. The stream of *Prahasana* and the number of *Prahasanas* (which exceeds sixty) show the typical Indian attitude of looking down upon malpractices.

Indian Culture is reflected in the Vedas and Upanisads, Purānas and Epics, in Literature and Arts. Times have changed, forms of Sanskrit literature have changed and ways of living have changed. But this love for spirituality, this quest for rising above the material world has not changed and finds its expression even now.

□

अभिजात संस्कृत-काव्य-परम्परा : प्रासंगिकता और राष्ट्रीय एकता में उसका विनियोग

डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी

आज सर्वाधिक प्रासंगिक विन्दु है—राष्ट्रीय एकता—जिसके विघटनोन्मुख परिवेश में हम अपने संविधान-सम्मत-स्वरूप लोकतांत्रिक समाजवाद को प्राप्त नहीं कर सकते। हमारा लक्ष्य है समाज में व्याप्त सर्वविध विषमता का समापन, फलतः सभी व्यक्तियों में सम्भावित ऊर्ध्वगामी मानवीय सम्भावनाओं की चरितार्थता। हम अपनी 'स्वता' की चरितार्थता चाहते हैं—सामूहिक रूप में। सामूहिक रूप में व्यष्टि-व्यष्टि की स्वता की चरितार्थता की परिणति होगी—संकुचित राष्ट्रवाद नहीं—! अपितु विश्वबन्धुत्ववाद। आज विश्व पूंजीवादी और साम्यवादी–दो परस्पर विरोधी खेमों में विभक्त है—जिससे विश्वबन्धुता खण्डित होती है। इसीलिए विश्वबन्धुता का शीर्षस्थ पक्षधर भारत एक तीसरी ही दुनिया का नेतृत्व करना चाहता है। नेतृत्व एक शक्त राष्ट्र ही कर सकता है और यह शक्ति भीतरी एकता से आती है। यह भीतरी एकता जातीय या सांस्कृतिक एकता है। इसे कभी-कभी भावनात्मक एकता भी कहा जाता है। पर भावना विवेकशून्य होकर मोह है और विवेकयुक्त होकर शक्ति। हमें शक्ति के रूप में भावनात्मक एकता की अपेक्षा है।

भारत की अपनी राष्ट्रीय, जातीय या सांस्कृतिक पहचान है—विरोध में सामंजस्य की तलाश। पं० नेहरू का कहना है—

"Some inner urge towards synthesis is the dominent feature of our Indian cultural development"—Discovery of India

हमारे भारतीय सांस्कृतिक विकास का सर्वप्रमुख लक्षण है—सामंजस्य या समन्वय की आन्तरिक बेचैनी। हमारा इतिहास इसका साक्षी है। म० म० पं० गोपीनाथ कविराज का इस सन्दर्भ में स्मरण आवश्यक है। उनका कहना है कि

प्रत्येक राष्ट्र या जाति की एक आत्मा होती है और उसी का नाम संस्कृति है। जाति की आत्मा क्या है ? इस विषय के विशेषज्ञ आचार्य कहते हैं कि यह विशिष्ट संस्कारों का अयुतसिद्ध संघात मात्र है। प्रत्येक देश में जल, वायु, भूमि तथा सूक्ष्म वातावरण आदि कारणों से एक विशिष्ट प्रकृति का विकास होता है। उस (राष्ट्र) देश में दीर्घ-काल अवस्थान करने के प्रभाव से उस पर देश-प्रकृति की छाप लग जाती है। 'भारतीय संस्कृति' शब्द का तात्पर्य यह है कि वह पूर्वोक्त प्रणाली से भारतीय प्रकृति की छाप से अंकित है। इसीलिए इसमें आर्य, द्रविड़, दस्यु, किरात, शक, पल्लव प्रभृति बहुभावापन्न विभिन्न धाराओं का योग रहने पर भी सभी अल्पाधिक भारतीय प्रकृति सम्पन्न होने के कारण भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत माने जाते हैं। इसके अतिरिक्त देश प्रकृति के अनुरूप कालभेद से भी एक नैमित्तिक परिवर्तन होता है, उसे युग प्रकृति कह सकते हैं। पं० नेहरू ने इसकी भी चर्चा की है और कहा है कि युग-प्रकृति का युग-सत्य भी होता है जो आपातत: खण्ड सत्य लग सकता है—पर होता है वह पूर्ण सत्य का ही अंश। आज युग सत्य है—ईश्वर **स्थाना-पन्न** मानवता और युग धर्म है—समाजसेवा।

Now humanity is our God and social services is our Religion. (D. of. I.)

आज मानवता की सम्प्रभुता सर्वोपरि है—वही ईश्वरस्थानीय है और समाज-सेवा उसको पाने का मार्ग या धर्म है। कविराज जी ने आगे कहा है कि इन सब देश-प्रकृति और काल-प्रकृति या युग-प्रकृतियों के भीतर से राष्ट्र की आत्मा या संस्कृति या बीज का स्वरूप विकास होता है। इसी प्रकार सूक्ष्म प्रणाली से आलोचना करने पर समझ में आ सकता है कि भारतीय समाज-विज्ञान भेद के भीतर अभेद का दर्शन और अभेद की प्रतिष्ठा के विषय में एक प्रशंसनीय उद्यम है परन्तु परिश्रम करके इसका आविष्कार करना पड़ेगा। गीताकार श्रीकृष्ण ने जैसे क्षर-पुरुष तथा अक्षर-पुरुष—इन दो परस्पर विरुद्ध तत्वों के समन्वय के लिए पुरुषोत्तम तत्त्व का प्रतिपादन किया था और जैसे कामना तथा निष्क्रियता के एकाधार में समाधान के लिए निष्काम कर्मरूप महायोग का अवतारण किया था, भारतीय संस्कृति का रहस्य भी उसी समन्वय मार्ग से उद्घाटित होगा—इसमें कोई सन्देह नहीं। भारतीय संस्कृति को अखण्ड सत्य का पता है, इसी से वह खण्ड सत्य का भी आदर कर सकती है। इस देश की प्रत्येक विद्या, प्रत्येक कला और प्रत्येक शास्त्र एक ही महान् उद्देश्य से अनुप्राणित है।' (भारतीय संस्कृति और साहित्य, भाग १, पृष्ठ २१२-३) विद्या के अनन्त होने पर भी यह अखण्डनीय सत्य है कि मूल में विद्या एक ही है। विद्या वही है जिससे सत्य या तत्त्व की प्राप्ति होती है। हमारे यहाँ का कामशास्त्र 'सेक्सुअल साइंस' या 'इरोटिक्स' नहीं है—वह भी परम्परागत उसी अखण्ड सत्य की

प्राप्ति की ओर उन्मुख है। जो समंजस विन्दु का अखण्ड सत्य जितने ही विरोधों को आत्मसात् करता है वह उतना ही महान् होता है। भारतीय संस्कृति की प्रकृति की यह अपनी पहचान है। क्या यह अकारण है कि जब विश्व 'लोकतांत्रिक' और 'समाजवादी' खेमों में विभक्त हो—तब वह 'लोकतांत्रिक समाजवाद' का संकल्प ले? पूंजीवादी देश लोकतांत्रिक होने का दम्भ भरते हैं और समाजवादी—मार्क्सवादी समाजवादी-तानाशाह हैं—वस्तुतः व्यक्ति-व्यक्ति की ऊर्ध्वगामी संभावनाएँ उभयत्र कुण्ठित और अवरुद्ध हैं। व्यक्ति-व्यक्ति की 'स्वता' के चरितार्थ होने का अविरोधी परिवेश समन्वयी-संस्कृति के उपासक भारत को निर्मित करना है। उसकी इस आन्तरिक सात्विक चेतना का संघर्ष अपने ऊपर लदी हुई विघटनकारी संकीर्ण तामसी वृत्ति से है। यह हमारा संघर्ष काल है। इस संघर्ष को और प्रगाढ़ कर रही हैं—विरोधी विदेशी शक्तियाँ। आज हमें भीतर और बाहर दोनों से लड़ना है—पर लड़ने का बल कहाँ से मिलेगा? चैन्तनिक शक्ति या पार्थिव शक्ति से? विश्व के विरोधी गुट—पार्थिव शक्ति अर्थात् अस्त्र-शस्त्रों की शक्ति से निपटना चाहते हैं—पर अब वे भी इसे केवल विध्वंसक ही समझ रहे हैं—रचनात्मक नहीं। फलतः हमें विरुद्धों में सामंजस्य लाने के लिए स्वस्थ चिन्तन की दिशा उद्घाटित करनी चाहिए। एक वर्ग समाज का हित तानाशाही पद्धति के चलाने के लिए जड़वादी चिन्तन में आस्था रखता है जबकि दूसरा अपने पक्ष की पुष्टि के लिए व्यक्ति-स्वातंत्र्यवादी चिन्तन की बात करता है—एक समष्टि चेतना को महत्त्व देता है—दूसरा व्यक्ति चेतना को। समता, बन्धुता और स्वतंत्रता—सभी का लक्ष्य है—पर विचारधारा के भेद से उनके अर्थों में अन्तर है। साम्यवादी और पूंजीवादी की 'स्वतंत्रता' एक नहीं होगी। अपनी-अपनी विचारधारा के अनुसार हम इन गंतव्य विन्दुओं को अर्थ देंगे। 'स्वता' की चरितार्थता सभी चाहते हैं—पर 'स्वता' की व्याख्या तो स्पष्ट हो—यह स्पष्टता विचारधारा से ही आ सकती है। हमारी संविधान-सम्मत विचारधारा क्या है? यह एक अहम् सवाल है—जिसके बिना हम अपना लक्ष्य नहीं प्राप्त कर सकते। विचारधारा विरुद्धों में सामंजस्य ला सकती है। यह जड़वादी हो या चेतनावादी अथवा ऐसी हो जो एक से दूसरे का विरोध न करती हो? जो आत्म-अनात्म तथा भीतर और बाहर में अविरोध लाने वाली हो—जो व्यक्ति के साथ समाज की भी मुक्ति चाहती हो—जो समाज की मुक्ति में व्यक्ति की मुक्ति चाहती हो—जो इसी लोक में परलोक को उतार देती हो—मतलब जो हर विरोध में अविरोध ला सकती हो।

प्रासंगिक समस्या के इस विन्दु पर जब हमारी दृष्टि जाती है—तब हमारा ध्यान अपने देश के संस्कृत भाषाबद्ध उस राष्ट्रीय चिन्तन पर केन्द्रित होता है—आशा बांधता है—जिनका मुँह अविरोधी सत्य तक पहुँचने का है।

हमारा साहित्य या काव्य या अभिजात काव्य इन्हीं शास्त्रों का मधुर निःष्यंद माना जाता है—"चतसृणामपि विधानाम निःष्यन्दः साहित्यमिति पंचमी विद्या"—हमारी अभिजात-काव्य-परम्परा में सभी चिन्तनों का मधुमय प्रवाह संचित है। इसके मंथन-मनन से ऐसी चिन्तन धारा का उन्मेष सम्भव है जिससे जुड़कर 'भारतीय' होने का अनुभव करना सम्भव होगा। मानव संसाधन विकास मंत्रालय से प्रकाशित 'राष्ट्रीय शिक्षा नीति' में स्पष्ट कहा गया है—"हमारे राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में सबके लिए शिक्षा हमारे भौतिक और आध्यात्मिक विकास की बुनियादी आवश्यकता है।" (पृष्ठ-२) उसी पुस्तिका में यह भी लिखा है—"इस समय शिक्षा की औपचारिक पद्धति और देश की समृद्ध और विविध सांस्कृतिक परम्पराओं के बीच एक खाई है जिसे पाटना आवश्यक है। आधुनिक टेक्नालाजी की धुन में यह नहीं होना चाहिए कि नई पीढ़ी भारतीय इतिहास और संस्कृति के मूल से ही कट जाये। संस्कृति-विहीनता अमानवीयता और अजनबीकरण (एलिएनेशन) के भाव से हर कीमत पर बचना होगा। परिवर्तनपरक टैक्नालाजी और सतत चली आ रही देश की सांस्कृतिक परम्परा में एक सुन्दरसमन्वय की आवश्यकता है। (पृष्ठ १६) 'भारत संसाधन विकास मंत्रालय' की यह चिन्ता भारतीय प्रकृति की छाप से संवलित है। इस भारतीय संस्कृति के स्वरूप की बात पहले की जा चुकी है।

इस चिन्ता का समाधान संस्कृत भाषाबद्ध शास्त्र के मधुमय प्रवाह रूप अभिजात काव्य परम्परा में निहित है। रामायण और महाभारत से लेकर राजाश्रय या राजाश्रय से बाहर भारत के विभिन्न अंचलों में निर्मित होने वाले अभिजात काव्यों की परम्परा में प्रवहमान एक ऐसी जीवन दृष्टि मिलती है, जिससे परिचालित जीवन की प्रयोगशाला में मूल्यों के उत्तम रत्न उपलब्ध होते रहे हैं। इन काव्यों में असत् पर सत् की विजय दिखाने वाले मूल्यों से देदीप्यमान पात्र पाठक पर एक गहरा प्रभाव छोड़ जाते हैं। भारतीय संस्कृति जिन मूल्यों की समष्टि है—वे चेतनवादी दृष्टि से जिये गए जीवन की प्रयोगशाला से प्राप्त हैं। उनसे हमें अपने चिन्तन को जोड़ना होगा।

'रामायण' में वाल्मीकि ने नारद से ऐसे व्यकि को अपने महाकाव्य का नायक बनाने के लिये पूछा है जो सभी मानवीय गुणों से विभूषित हो। अन्ततः नारद ने कहा—ऐसा व्यक्ति राम—दाशरथि राम है। 'रामो विग्रहवान् धर्मः"—मानो धर्म ही राम के रूप में शरीरी हो गया हो। धर्म वह सब कर्त्तव्य है जिससे जगत् का रक्षण, रंजन और पालन होता है। रामायण में राम और महाभारत में कृष्ण लोकहित के लिए तामस पक्ष से संघर्ष करते हैं और दोनों के आचरण से लोकमंगलोपयोगी सूत्र निकाले गये हैं। महाभारत के लिए तो कहा ही गया है—"यन्न भारतेतन्न भारते।" आचार्यों ने व्यास और वाल्मीकि के साथ महाकवि कालिदास का भी

नाम लिया है—जिनकी कृतियों में व्याप्त चिन्तन के ऐसे सूत्र मिलते हैं जिसके प्रति किसी को विरोध नहीं हो सकता। पं० विद्यानिवास जी ने ठीक ही कहा है—'अतीत से जुड़ने के पीछे पलायन का भाव चाहे किसी दूसरी मानव जाति में मिलता हो, पर भारत में अतीत से जुड़ने का अर्थ वर्तमान की सम्भावना का विस्तार होता है—वर्तमान से पलायन नहीं।" उनकी बहुत ही सही उक्ति है कि भारत की विश्वदृष्टि जो यहाँ की काव्य परम्परा में निहित है—अद्भुत है—"प्राचीन भूमध्य-सागरीय लोगों की विश्वदृष्टि से भारतीय विश्व-दृष्टि में एक मौलिक भेद है। पश्चिम दृष्टि में प्रकृति या प्रकृति की शक्तियाँ मनुष्य से अलग हैं और इसीलिए उनमें स्पर्धा है। मनुष्य के मन में प्रकृति को जीतने की बात आती है और प्रकृति की शक्तियों के प्रतिरूप देवता विजय यात्रा में इसीलिए बाधा पहुँचाते हैं। इसके ठीक विपरीत भारतीय विश्वदृष्टि मनुष्य और प्रकृति दोनों को अविलग देखती है।" कालिदास हिमालय को देवात्मा कहते हैं। वह देवता और मानव में परस्पर सहयोग का समर्थन करते हैं :

दुदोह गां स यज्ञाय सस्याय मघवा दिवम्।
सम्पद्विनिमयेनोभौ दधतुर्भुवनद्वयम्॥ रघुवंश-१/२६

कालिदास कुमारसम्भव के माध्यम से बताते हैं कि जड़ चेतन की ही स्तिमित अवस्था है—उनमें कोई तात्त्विक विरोध नहीं है। अश्वघोष कह सकता है—

रिरंसा यदि ते तस्मादध्यात्मे ऽवधीयतां मनः।
प्रशान्ता चानवद्याच नास्त्यध्यात्मसमा रतिः।

अर्थात् यदि कहीं रमणेच्छा है और उसे चरितार्थ करना है—तो एक मात्र अध्यात्म ही वह क्षेत्र है जहाँ यह चरितार्थ हो सकती है। नन्द की सुन्दरी के प्रति आकर्षण दुःखपर्यवसायी है। नन्द की इस विरक्ति को तीव्र करने के लिए स्वर्ग की अप्सराएँ दिखाई जाती हैं और अन्ततः वह विषय की ओर से पूर्णतः अपनी रिरंसा का क्षय कर डालता है। कालिदास भारत की मूल विश्वदृष्टि से जुड़ा है—उसके यहाँ 'भौतिक' और 'आध्यात्मिक' में एक रूपता है—दोनों रमणीय हैं—उभयत्र रिरंसा पूर्ति सम्भव है। शिव और पार्वती समाधि-सुख में तो रमते ही हैं—पार्थिव स्तर पर भी उद्दामरति करते हैं—पर यह उद्दामरति काम का ध्वंस करके चरितार्थ होती है। काम उत्तेजित होकर 'भौतिकता' और 'आध्यात्मिकता' के सन्तुलन को नष्ट करता है—इस रहस्य से दोनों अवगत हैं। ऐसा नहीं है कि शिवपार्वती के और पार्वती शिव के भौतिक सौन्दर्य से विरक्त हैं—नन्द और सुन्दरी की तरह-परन्तु अपनी तपस्या और संयम से 'भूत' और 'अध्यात्म' का अविरोध स्थापित

करे। उनका 'राग' नन्द और सुन्दरी का राग नहीं है। पार्वती उस 'राग' के लिए—

समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः।

और शिव—

केनापि कामेन तपश्चचार:।

इसीलिए—

तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः।

इस प्रक्रिया से दोनों जिस भूमि पर आरूढ़ होते हैं—वह भूमि ऐसी रमण-भूमि है जो एक साथ आत्महित और लोकहित सम्पन्न करती है। आज इस समग्र दृष्टि की अपेक्षा है—एकांगी और उत्तेजित भौतिक दृष्टि की नहीं। समन्वय और सामंजस्य की इस दिशा या दृष्टि से यदि आज विश्वचेतना अपने को जोड़ सके तो ही ध्वंसोन्मुख विरोधी शक्तियों में सामंजस्य सम्भव होगा। जिस राग या स्नेह-दान से ये ध्रुवान्त विरोधी तत्त्व अविरुद्ध होकर प्रकाशमय परिणति प्राप्त करेंगे—वह कैसे प्राप्त हो—यह भारतीय काव्य की प्रातिभ-चक्षु के समक्ष स्पष्ट है। इस अपार कवि परम्परावादी संसार में जो दो-तीन या पाँच-छह महाकवि हैं—कालिदास उनमें इसीलिए प्रथम परिगणित हैं। हम उसके विस्तार में न भी जायँ तब भी एक चावल से (हाँड़ी) स्थाली के और चावलों का जायजा लिया जा सकता है। इस विश्वदृष्टि में 'व्यक्ति चेतना' में सम्भावित 'विश्वचेतना' का उन्मीलन होता है—दोनों का सामंजस्य हो जाता है। भारत की अपनी प्रकृतिगत विशेषता को पाने की बेचैनी भविष्य में सार्थक होकर रहेगी, तो परम्परा में निहित इसी विचारधारा से जुड़कर। यही विचारधारा एकतोपयोगी भावना को हमारी शक्ति बनाएगी। इसी प्रक्रिया से हमारी अभिजात-काव्य-परम्परा में निहित विचार-धारा राष्ट्रीय भावनात्मक एकता को सुदृढ़ आधार देकर प्रासंगिक बनेगी।

□

रामायण में राष्ट्रीय एकता

कु० नमिता अग्रवाल

किसी भी विकसित या विकासशील राष्ट्र में कुछ ऐसे साहित्यिक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं जिनमें उस राष्ट्र की संस्कृति, धर्म, दार्शनिक विचारधारा आदि सभी कुछ पूर्णरूपेण पल्लवित और पुष्पित हुआ करती है। ऐसे ही ग्रन्थ राष्ट्र के अक्षय जीवन स्रोत और परिचालक हैं, जिनका रसास्वादन करके अपने राष्ट्र के प्रति आत्मीयता, अनुराग और कर्त्तव्य की क्रियाशील भावना का प्रस्फुटन होता है जो कि राष्ट्र की सार्वभौम प्रतिष्ठा के लिए अत्यावश्यक होता है। ऐसे ग्रन्थों से आगामी साहित्यकारों को स्व-स्व काव्यों के लिए साहित्य सम्पदा प्राप्त होती है, शक्ति और प्रेरणा प्राप्त होती है। अतः इस कोटि में आने वाले ग्रन्थों को "उपजीव्य काव्य" की भी संज्ञा दी जाती है। संस्कृत साहित्य में तीन विशालकाय उपजीव्य काव्य हैं—रामायण, महाभारत और श्रीमद्भागवत। चूंकि विश्व के साहित्याकाश में अद्यावधि अधिकांश भाग इन्हीं ग्रन्थों से उपजीवित होकर ही प्रकाशित हो रहे हैं, अतः ये तीनों ग्रन्थ उपजीव्य काव्य बनकर रह गये हैं। इन तीन ग्रन्थों में ही भारत की आत्मा निहित है। ये सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक विचारधारा के अक्षय उत्स हैं, भारत तथा भारतीयता के प्रबल सम्बल हैं। इनमें भारत की प्रतिष्ठा, रक्षा, समृद्धि और शालीनता के प्रति जनचेतना को जागृत किया गया है और यहाँ की संस्कृति, सभ्यता तथा ज्ञान विज्ञान की महनीय राशि को महत्त्व प्रदान करके विश्व के समक्ष अपनी भारतीयता के प्रति आत्म गौरव प्रकट किया गया है। इन उपजीव्य ग्रन्थों में भारतभूमि की सीमा का निर्धारण करने, उसकी पवित्रता, महत्ता, समृद्धता तथा रम्यता पर प्रकाश डालने, उसके पर्वतों, वनों, नदियों, सरोवरों, समुद्रों, तीर्थों तथा नगरों का महत्त्वपूर्ण लेखा-जोखा प्रस्तुत करने, उसकी रक्षा सुरक्षा करने वाले अनेक राजवंशों का वर्णन करने, मनुष्यों के वर्णाश्रम धर्मों की व्याख्या करने तथा उसकी सामाजिक उपयोगिता बताने आदि के प्रसंग निश्चय ही जनता में भारतीयता या राष्ट्रीयता का बीजाकुंरन्यास करने की दृष्टि से प्रस्तुत किये गये हैं।

अब प्रश्न उठता है कि राष्ट्रीयता या राष्ट्रीय एकता क्या है? राष्ट्रीयता एक

भावात्मक राजनैतिक धारणा है, ज़ो सत्ता हेतु संघर्ष से सीधा सम्बन्ध रखती है, राज्य की वैयक्तिकता का सम्मान करती है, कानून और शासन की विविधता को मान्यता प्रदान करती है और सामान्य आदर्शों एवं विश्वासों के आधार पर एक समूह को दूसरे समूह से पृथक् करती है।

Lord Robert Bryce के अनुसार—

"A Nationality is a population held together by certain ties, as for example, language and literature, ideals, customs and traditions, in such wise as to feel itself a coherent unity distinct from other populations similarly held together by like ties of their own."[1]

राष्ट्रीयता का तात्पर्य एक ऐसी आबादी से है जो भाषा साहित्य, आदर्शों, रीतियों, पौराणिक परम्पराओं आदि की निश्चितताओं के कारण परस्पर इस प्रकार आबद्ध रहती हैं किं आपस में एक आन्तरिक एकता का अनुमत करती हैं और उन दूसरी आबादियों से, जो ठीक उसी की तरह अपनी निजी समानताओं से आबद्ध होती हैं, पृथक् होती हैं।

"Nationality to me is not a political question at all. It is primarily and essentially a spiritual question. Nationality like religion is subjective, psychological, a condition of mind, a spiritual possession, a way of feeling, thinking and living."[2]

अर्थात् मेरे विचार से राष्ट्रीयता एक राजनैतिक प्रश्न बिलकुल नहीं है। यह मुख्य रूप से तथा अनिवार्य रूप से एक आध्यात्मिक प्रश्न है। राष्ट्रीयता, धर्म की भाँति ही, आत्मचेतनानिष्ठ है, मनोवैज्ञानिक है, एक मनोदशा है, एक आध्यात्मिक सम्पदा है; और अनुभव करने, चिन्तन करने तथा जीवन-यापन करने की पद्धति है।

"राष्ट्रीयता या Nationality शब्द राष्ट्र शब्द की भाववाचक संज्ञा है, जिसका अर्थ है—जनसमुदाय की समूह चेतना। इसके अन्तर्गत कई तत्त्व सम्मिलित हैं, यथा एक जनसमूह का होना, उस जनसमूह के मध्य, भौगोलिक एकता तथा सामूहिक सुरक्षा की भावना का होना तथा समूह के सब व्यक्तियों में विचार साम्य होना। इस प्रकार की एकता की भावना से युक्त जनसमुदाय की सामूहिक चेतना राष्ट्रीयता कहलाती है।"[३]

अपने राष्ट्र की भूमि, जनसमूह, संस्कृति, सभ्यता, धर्म, कला, साहित्य, नदी, सरोवर, पर्वतों, जीवनदर्शन आदि के प्रति मनुष्यों के मन में जो स्वाभाविक स्वाभिमान विद्यमान रहता है, उसे ही हम राष्ट्रीय भावना कहते हैं। वह न तो

किसी का अपमान करती है और न अपने ही राष्ट्र का अपमान या किसी भी प्रकार से क्षतिग्रस्त होना स्वीकार करती है। इस प्रकार की ही "शुद्ध राष्ट्रीय भावना" "अन्तर्राष्ट्रीय भावना की भी पृष्ठभूमि प्रस्तुत कर देती है।

महर्षि वाल्मीकि प्रणीत "रामायण" से प्रत्येक मनीषी पूर्णतया परिचित है। इस उपजीव्य काव्य में राम-रावण युद्ध में, राम की रावण पर विजय की प्रमुख घटना ही चौबीस हजार श्लोकों में श्लोकबद्ध की गयी है। उसमें एक ओर तो अपने महान् निर्माता की अनुपम पाण्डित्य-प्रतिभा का समावेश है और दूसरी ओर जिस देश एवं जिस धरती में उसका निर्माण हुआ, वहाँ के सामाजिक, धार्मिक, आध्यात्मिक और आदर्शमय जीवन की समग्रताओं का एक साथ समावेश है। "रामायण" अपने मूलरूप में संस्कृत साहित्य का आदि महाकाव्य और कतिपय परवर्त्ती महाकाव्यों, काव्यों का प्रेरणास्रोत है, वह भारतीय परिवारों की धर्मपोथी, भारतीय आचार-विचार, संस्कार सम्बन्धों का आदर्श ग्रन्थ और भारत की चिरंतन भक्ति-भावना, ज्ञान-भावना तथा मैत्री-भावना की प्रतिनिधि पुस्तक है।

आदिकवि वाल्मीकि की लेखनी राष्ट्र की समृद्धि के प्रति पर्याप्तरूपेण जागरूक है। "रामायण" में आदि से अन्त तक बराबर ही राष्ट्रीय भावों के भी दर्शन होते हैं। उनकी धारणा है कि राष्ट्र का चतुर्मुखी विकास और कल्याण तभी सम्भव है, जब वहाँ की प्रजा सर्वगुण सम्पन्न, सुशिक्षित, संयत, पराक्रमी, नीति-अनीति का विचार करने में समर्थ हो तथा राष्ट्र के नायक को भी राष्ट्र के हित के लिए सदैव प्रयत्नशील बने रहने की भी प्रेरणा दी गयी है। बालकाण्ड तथा अयोध्याकाण्ड में सम्राट दशरथ तथा सम्राट श्री राम के राज्यकाल में प्रजाजनों की स्थिति वर्णन के माध्यम से उन्होंने समृद्धिशाली राष्ट्र के स्वरूप के विषयोन्मुख होकर अपने हृदयंगम भावों को वाणी दी है। यथा—

कामी वा न कदर्यो वा नृशंसः पुरुषः क्वचित् ।
द्रष्टुं शक्यमयोध्यायां नाविद्वान्न च नास्तिकः ॥
सर्वे नराश्च नार्यश्च धर्मशीला सुसंयताः ।
उदिताः शीलवृत्ताभ्यां महर्षय इवामलाः ॥[४]

राष्ट्र की प्रजा तन-मन-धन से सुसमृद्ध होनी चाहिए। उसमें सभी धर्मात्मा, सुशिक्षित, पराक्रमी, प्रसन्नचित्त, सत्यवादी, शूरवीर, सम्पत्तिमान, स्त्री-पुत्र-पौत्रों से युक्त, स्वच्छ वेश-भूषा वाले, राजा के हितैषी, जागरूक, अकामी, अकायर, आस्तिक, सज्जन, अचोर, कर्त्तव्यनिष्ठ, वैदिक विधि-विधानों को करने वाले, हृष्ट-पुष्ट निर्भीक सज्जन हो तथा राजद्रोही न हों तभी राष्ट्र उन्नति के चरमोत्कर्ष पर पहुँच सकता है।

आदिकवि की यह भी भावना रही है कि राजा को अपने राष्ट्र की सुरक्षा

हेतु सैन्यादि की सदैव उत्तम व्यवस्था रखनी चाहिए। राष्ट्रीय संस्कृति का प्रचार-प्रसार करते रहना चाहिए। प्रशासन एवं न्याय की मान्य एवं पर्याप्त व्यवस्था रखनी चाहिए; यथा—

"सन्धिविग्रहतत्त्वज्ञाः प्रकृत्या संपदान्विताः।
मन्त्रसंवरणेयुक्ताः श्लक्षणाः सूक्ष्मासुबुद्धिसु ॥
नीतिशास्त्रविशेषज्ञाः सततं प्रियवादिनः।
ईदृशैस्तैरमात्यैश्च राजा दशरथोऽनघः ॥
उपपन्नो गुणोपेतैश्चशासद्वसुंधराम्।
अवेक्षमाणश्चारेज्ञा प्रजा धर्मेण रंजयन् ॥[१]

अर्थात् मन्त्रणा की गोपनीयता पर ध्यान देना चाहिए, सेनापति भी ऐसे ही व्यक्ति को बनाना चाहिए जो सन्तुष्ट रहने वाला, पराक्रमशाली, धैर्यशाली, बुद्धिमान, श्रद्धा रखने वाला, रणविद्यापारंगत हो, राजदूत के पद पर भी देशानुरागी मनीषी एवं वाग्मी व्यक्ति की नियुक्ति करनी चाहिए। वन सम्पदा, पशु-सम्पदा और अन्न-सम्पदा सदैव विकास करते रहना चाहिए। जनता से परमोचित आयकर ही ग्रहण करना चाहिए। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, पुरुषार्थ-चतुष्टय के पालन में विसंगति नहीं होने देनी चाहिए। राष्ट्रीय धन का दुरुपयोग भी नहीं करना चाहिए। राजा को प्रजा के अनुरंजन में तन-मन-से लीन होना चाहिए।

महर्षि वाल्मीकि राष्ट्रीय संस्कृति के प्रति भी विचारशील रहे हैं। राजा दशरथ द्वारा सम्पन्न कराये गए पुत्रेष्टि यज्ञ में, राम-लक्ष्मण के जन्म में, राम-लक्ष्मण के विवाह के समय, विश्वामित्र के यज्ञानुष्ठानों में, राम-राज्याभिषेक के समय में, और तो और यहाँ तक कि दशरथ के अन्त्येष्टि संस्कार के समय में भी पुराकवि वाल्मीकि ने राष्ट्रीय संस्कृति को यथार्थ रूप में चित्रित करने में भी किसी भी प्रकार की कमी नहीं छोड़ी है।

"रामायण" में हम देखते हैं कि भारतीय संस्कृति और सभ्यता के प्रति भी लोगों को आकृष्ट किया गया है। राम और रावण का संग्राम दो देशों का संग्राम ही नहीं, बल्कि दो संस्कृतियों का संघर्ष है जिन्हें आर्य संस्कृति, और अनार्य संस्कृति कह सकते हैं। इस संघर्ष में राम एवं लक्ष्मण आर्य संस्कृति, मानवप्रजाति तथा आर्यदेश का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसी प्रकार रावण, कुम्भकर्ण, मेघनाद, खर, दूषण, त्रिशिरा, सुबाहु, मारीच, कबन्ध, विराध, शूर्पणखा, ताटका आदि अनार्य संस्कृति, राक्षस प्रजाति तथा अनार्यदेश का प्रतिनिधित्व करते हैं। सुग्रीव, हनुमान, अंगद, आदि यद्यपि मानव प्रजाति के नहीं हैं, किन्तु ये सभी आर्यदेश के निवासी हैं और इन्हें अपने देश पर गर्व है। आर्यदेशीय वानप्रस्थ मुनियों के साथ अनार्यदेशीय राक्षसों

के निर्मम प्राणघातक अत्याचारों के परिणाम को जब श्रीराम ने अपने वनवासकाल में प्रत्यक्ष देखा तभी उन्होंने आर्यदेश से अनार्यों का समूलोन्मूलन करने की प्रतिज्ञा की थी।[६]

दूसरी ओर राक्षसराज रावण अपनी राक्षस एवं राक्षस संस्कृति की मान-मर्यादा को ऊँचा करने के लिए सीताहरण की योजना बनाकर मारीच से मिलता है और इस योजना में सक्रिय सहायता देने के लिए उसे स्वर्ण का मृग बनने को बाध्य करता है[७]—रावण ने मनुष्यों की सदैव उपेक्षा की है, उन्हें तृणवत् मानकर उनका विनाश कराया है और विकास रोका है। वह मनुष्यों से किंचिन्मात्र भी नहीं डरता। केवल विभीषण को छोड़कर उसके पक्षधर अन्य राक्षसों की भी ऐसी ही धारणा है। श्रीरामचन्द्र अंगद को रावण के पास दूत बनाकर यह कहने के लिए ही भेजते हैं कि आर्षसंस्कृति जो आर्यसंस्कृति का ही दूसरा नाम है और जिसे देव, गन्धर्व, यक्ष आदि सभी मानते हैं, का विरोध करने वाले सभी राक्षसों को सन्धि न करने पर समूल विनष्ट कर दिया जायेगा।

महाकवि ने राम-रावण युद्ध को दो देशों के युद्ध के रूप में भी यत्र-तत्र संकेतित किया है। हम देखते हैं कि समुद्र लाँघते समय हनुमान अपने लक्ष्य में विघ्न डालने वाली सुरसा को समझाते हैं कि "सुरसे मैं श्रीराम का दूत हूँ, माता सीता की खोज के लिए जा रहा हूँ। उन्हीं के राज्य में रहते हुए तुम्हें अपने राजा श्रीराम का विरोध नहीं करना चाहिए, वरन् अपने देश के राजा श्रीराम की सहायता ही करनी चाहिए। इस प्रसंग में भी राष्ट्रीयतावच्छिन्न भावना ही दृष्टिगत होती है कि राजा को प्रजा के और प्रजा को राजा के कल्याण और अपने देश की रक्षा के लिए सतत प्रयत्नशील रहना चाहिए।

इस प्रकार राम-रावण के संग्राम को दो संस्कृतियों, दो सभ्यताओं और दो देशों का संग्राम बतलाया गया है, जिसमें राम की रावण पर विजय दिखाकर राम के पक्षधर भारतीयों के मन में उत्साह का संचार करके तन्निष्ठ राष्ट्रीय भावना को ही प्रज्ज्वलित और प्रोद्दीप्त किया गया है।

सन्दर्भ

१. Lord Robert Brycc : Impressions of South Africa, P. 33.
२. Zimmern : Nationality and government, P. 59.
३. डॉ० जी० डी० तिवारी : "आधुनिक राजनैतिक विचारधाराएँ", पृ० २४५.
४. वाल्मीकि रामायण—बालकाण्ड, ६/८-९.
५. बालकाण्ड ७/१७-१९.
६. अरण्यकाण्ड ६/१-२५.
७. अरण्यकाण्ड ३६/१-२४.

रामायण में राष्ट्री - भावनाप्रधान सूक्तियाँ

१ विरोधं नाधिगच्छन्ति सज्जनाः शान्तचेतसः ।
—वाल्मीकि रामायण माहात्म्य ४।१९

२ सहोपजीव्यं राष्ट्रं च पुरं च सपरिच्छदम् । —अयोध्याकाण्ड ३७।२६

३. अरक्षितारं राजानं हनन्ति दोषा नरेश्वर । —बालकाण्ड ६१।७

४. रक्षितव्याः क्रिया ब्रह्मन् मयावध्याश्च राक्षसाः । —वही २८।२२

५. अपि ते कुशलं राष्ट्रे मित्रेषु च वनेषु च ? —अयोध्याकाण्ड ५०।४३

६. नाराजके जनपदे यज्ञशीला द्विजातयः । —वही ७६।१७

७. नाराजके जनपदे चरत्येकचरोवशी । —वही ६७।२३

८. नाराजके जनपदे स्वकं भवति कस्यचित् । —वही ६७।३१

९. नाराजके जनपदे नराः शास्त्रविशारदाः । —वही ६७।२६

१०. नृपं विना राष्ट्रमखय्भूतम् । —वही ६७।३८

११. अगोत्रा यथा गावस्तथा राष्ट्रमराजकम् । —अयोध्याकाण्ड ६७।२९

१२. राज्यं च तव रक्षेयमहं वेतेव सागरम् । —वही २३।२९

१३. नाराजके जनपदे माल्यमोदकदक्षिणाः । —वही ६७।२७

१४. नाराजके जनपदे धनवन्तः सुरक्षिताः । —वही ६७।१८

१५. नाराजके जनपदे यागक्षेमः प्रवर्त्तते । —वही ६७।२४

१६. मन्त्रितो मन्त्रो राष्ट्रं न परिधावति । —वही १००।१८

१७. राज्यं पालयितुं शक्यं न तीक्ष्णेन् । —अरण्यकाण्ड ४१।११

१८. न शूरपत्न्यः परिदेवयन्ति । —किष्किन्धाकाण्ड २४।४३

१९. इक्ष्वाकूणामियं भूमिः सशैलवनकानना । —वही १८।६

२०. धिगस्तु परवश्यताम् । —सुन्दरकाण्ड २५।२०

२१. वाचं चोदाहरिष्यामि मानुषीमिह संस्कृताम् । —वही ३०।१७

२२. एतं दोषो महानत्र प्रपन्नानामरक्षणे ।
अस्वर्ग्यं चायशस्यं च बलवीर्यविनाशनम् ।। —युद्धकाण्ड १८।३१

२३. यो हि शत्रुमवज्ञाय आत्मानं नाभिरक्षति ।
अवाप्नोति हि सोऽनर्थान् स्थानाच्च व्यवरोप्यते ।। —वही ६३।२०

२४. सर्वत्रोत्सृष्टदण्डं च लोकः सत्कुरते नरम् । —वही २१।१६

२५. धर्माद् राज्यं धनं सौख्यमधर्माद् दुःखमेव ।
तस्माद् धर्मं सुखार्थाय कुर्यात्पापं विसर्जयेत् ।। —उत्तरकाण्ड १५।२३

२६. नावज्ञा हि परे कार्या, य इच्छेच्छ्रेय मात्मनः । —वही ३३।२२

२७. धिक् क्षमामकृतज्ञेषु सान्त्वं दानमथामपि वा ।। —युद्धकाण्ड २२।४९

२८. यदा न पालयेत् राजा क्षिप्रं नश्यन्ति वै प्रजाः । —उत्तरकाण्ड, प्रक्षिप्तसर्ग २।५

२९. प्रजा च परिपाल्या हि क्षात्रधर्मेण राघव । —वही ७२।१४

□

राष्ट्रकवि रघुकार

डॉ० राजेन्द्र नानावटी

कालिदास भारत के राष्ट्रकवि हैं। इस विशाल उपखंड के विशाल भूभागों का उन्होंने एक बार नहीं, चार बार वर्णन किया है—रघुवंश में तीन बार, मेघदूत में एक बार और प्रत्येक वर्णन अपनी एक निजी विशेषता लिये हुए है।

(१)

रघु के दिग्विजय को ही लीजिये। भारत के अनेक राज्यों के निर्देश इसमें मिलते हैं ? अयोध्या से जो रघु का सैन्य चला तो पूर्व दिशा में उसने सुह्म, बंग, उत्कल और कलिङ्ग राज्यों पर विजय पाई, फिर कपिशा नदी तथा महेन्द्र पर्वत को पार किया; फिर दक्षिण में कावेरी नदी को पार कर पाण्ड्यों के राज्य को जीता, तत्पश्चात् मलय और दर्दुर पर्वतों को पारकर केरल राज्य को वश में किया; वहाँ से पश्चिम में मुरला नदी के पार, सह्य पर्वत और समुद्र के बीच के अपरान्त राज्य और पारसीकों को जीता, तब उत्तर में चलकर यवनों, हूणों, कम्बोजियों, किरातों और अन्य पर्वतीय जातियों को हराकर कैलास पर्वत के चरण में पहुँचा और वहाँ से एकदम पूर्व में जाकर ब्रह्मपुत्र को पारकर प्राग्जयोतिष के कामरूप राज्य पर विजय पाई। इस प्रकार रघु का सैन्य चतुर्दिक् दिग्विजय सिद्ध करने के बाद अयोध्या लौटा।

रघु के इस दिग्विजय का कालिदास ने नामसूचीरूप कोरे स्थल निर्देश के स्वरूप में वर्णन नहीं किया। वे इन जगहों की विशिष्ट पैदाइशों का तथा अन्य सांस्कृतिक विशेषताओं का भी निर्देश करते चलते हैं। समुद्र तट स्थित सुह्मों के शरणागमन की तुलना वैतसी वृत्ति से की गई है। बङ्गों के लिए शालिविशेष कलम का उपमान प्रयुक्त हुआ है, कलिङ्ग में रघु के योद्धा ताम्बूली के पान में नारिकेल का आसव पीते हैं, महेन्द्र पर्वत से दक्षिण की ओर का समुद्र तट पूगमालिन् है, मलय पर्वत पर चन्दन वृक्षों और सर्पों का होना तो प्रसिद्ध है, ताम्रपर्णी नदी के मुख में उत्पन्न होते हुए, अपने यश के समान उज्ज्वल मौक्तिक भी रघु ने पाये, सह्य पर्वत और समुद्र के बीच छोटी सी भूपट्टी को भी रघु के सैन्य ने भर दिया, केरल

की स्त्रियाँ अपने बालों में सौभाग्यचूर्ण का शृंगार करती थीं, वहाँ राजताली के तथा खजूरी के पेड़ों की भी बहुतायत थी, पाश्चात्य शत्रुओं के सिर गाढ़ी श्मश्रू से भरे होते थे, वह प्रदेश द्राक्षा भूमि था, कश्मीर में नदी तट के खेतों में केसर की खेती होती थी, हिमालय में भूर्जपत्र और कीचक-बांस तथा नमेरु वृक्ष मिलते हैं, कामरूप देश में काला गुरु के वृक्षों की बहुलता है—इत्यादि।

थोड़ा गौर से देखने पर स्पष्ट होगा कि जिन राज्यों का रघु के दिग्विजय में निर्देश हुआ है वे सबके सब भारतवर्ष के इस विशाल भूखंड की चतुर्दिक सीमाओं पर स्थित हैं। अयोध्या से सैन्य चलने के बाद प्रथम निर्देश सुह्म का है। मध्य के किसी भी देश का नाम निर्देश तक नहीं। जैसा कि श्री एच० सी० चकलादार कहते हैं······It is so because the full powers (sic) of the Guptas under whom he (i.e. Kalidasa) lived was felt in these regions and almost the whole of northern India they ruled over, not merely as an Emperor holding the powers of a suzerain over subordinate kings, but that it was governed directly by them from thier capitals at Pataliputra, Ayodha and Ujjain (sic.). For this reason he does not mention Malwa in the course of Raghu's expedition, nor any of the countries in northern India except those on the borders where there were rulers enjoying more or less independence. This is also apparent from the fact that he does make a mention of such princes in other connections – Chakladar H. C. *The geography of Kalidasa*, Calcutta, 1963, P. 43.

मेरे खयाल से, इस दिग्विजय वर्णन से और ही दो बातें प्रमुखतया प्रकट होती हैं।

एक में कालिदास के चित्त भारतवर्ष को धारण करने वाले इस भूखंड की इकाई का एक स्पष्ट दर्शन स्थिर रूप से निहित है। विश्व का मानचित्र देखने से स्पष्ट दिखाई देता है कि उत्तर में विश्व की प्रायः उन्नततम पर्वतमालाओं तथा दक्षिण में विशाल समुद्रों की नैसर्गिक सीमाओं से बद्ध इस भूभाग की पूरे विश्व से अलग अपनी एक स्वतन्त्र भौगोलिक इकाई है। इस उपखंड की विशालता के कारण प्राकृतिक वैविध्य इसमें अपार भरा पड़ा है, और सहस्राब्दियों के अरसे में इसकी एक सांस्कृतिक इकाई भी विकसित हुई है। इस भूखंड की विशालता के कारण कोई लम्बे अरसे तक राजकीय इकाई का अनुभव होना संभव न था, फिर भी, सांस्कृतिक एकता ने इस विशाल भारतवर्ष की एकात्मकता का अनुभव सहस्राब्दियों तक बनाये

रखा है। रघु दिग्विजय में भी यही बातें प्रकट होती हैं। कालिदास ने जिन राज्यों का स्पष्ट निर्देश किया है वे सब सीमावर्ती राज्य है। इससे कालिदास का भारतवर्ष की नैसर्गिक सीमाओं का ज्ञान प्रकट होता है। छोटे-छोटे राज्यों में भारत की राजकीय अनेकता प्रतिबिम्बित है तब भी, यही नहीं, प्रादेशिक भूगोल संस्कृति की विविधताओं के निर्देशों के रहते हुए भी, रघु के चक्रवर्तिपथ के वर्णन में भारत की एकता का दर्शन हो सकता है।

दूसरे : रघु दिग्विजय का वर्णन कालिदास की भारत-प्रदक्षिणा है। क्योंकि रघु की विजययात्रा न केवल भारत के सीमावर्ती राज्यों से गुजरती है, अपितु उस यात्रा का दिशाक्रम भी प्रदक्षिणा की ही तरह रहा है। अर्थात् रघु को सेना भारत-माता की समग्र भूमि को मध्य में रखते हुए भारत के सभी तटवर्ती प्रदेशों में क्रमशः घड़ी की सुइयों की दिशा में—clock wise संचरित होती है, और पूर्व में सुह्म से आरम्भ करके अन्त में उत्तर पूर्व में कामरूप देश तक यात्रा करती है। इससे सीमा-वर्ती कोई भी प्रदेश छूट नहीं जाता और भारतवर्ष की नीराजना सम्पूर्ण रूप से सम्पन्न होती है।

इस यात्रारूपी प्रदक्षिणा या नीराजना के पीछे कालिदास की भारत-भक्ति के सिवा और क्या हो सकता है ?

(२)

दूसरी बार इन्दुमती स्वयंवर के अवसर पर कालिदास भारत के कुछ राज्यों के राजाओं की समृद्धि का, उनके वंश गौरव का, उनकी प्राकृतिक सम्पदा का, उनके शौर्य का वर्णन करते हैं और इन स्वयंवरागत राजाओं के वर्णन में भारतीय संस्कृति का एक और चित्र उभरता है।

राजकुमारी इन्दुमती की सखी सुनन्दा इन राज वर्णनों का आरम्भ **मगधराज परन्तप** से करती है। प्रजारञ्जन लक्ष्यवर्ण इस राजा के सतत होते हुए यज्ञों के कारण इन्द्र को शची का अलंकार रचने का अवकाश ही नहीं मिल पाता। दूसरा **अङ्गराज**, श्री और सरस्वती दोनों का भाजन, गजशास्त्र निष्णात, शत्रु-स्त्रियों को अश्रुमाला पहनाने वाला वीर है। **अवन्तिराज**, सुदृढ़ देहयष्टिवाले और महाकाल के भक्त हैं। सिप्रा नदी के तीर पर इनकी उद्यान शोभा प्रसिद्ध है। **अनूपराज** पुराण प्रसिद्ध हैहयकार्तवीर्य सहस्रार्जुन के वंशज हैं, माहिष्मती में रेवा तट पर (या प्रवाह में ?) इनका सुन्दर प्रासाद है। ये प्रकाम प्रियदर्शन हैं। **शूरसेन के सुषेण** नामक नीपवंशी राजा के पास आकर गुणों ने अपने नैसर्गिक विरोध का त्याग कर दिया है इनके अन्तःपुर की स्त्रियों के स्तन प्रक्षालन से चन्दन धुलने पर यमुना में गंगा का प्रवाह मिला लगता है, चैत्ररथ जैसे सुन्दर वृन्दावन और मयूरों से भरे गोवर्धन

की प्राकृतिक सम्पदा के ये स्वामी हैं। **कलिङ्गराज** महेन्द्र पर्वत और महोदधि के स्वामी हैं। रोज इन्हें अपने प्रासाद से दिखाई देने वाला समुद्र ही जगाता है और अन्य द्वीपों से आती हुई लवङ्ग पुष्प की सौंधवाली वायु इनका सेवन करती है। श्यामवर्ण **पाण्ड्यराज** की राजधानी उरगपुर है, अगस्त्य स्नेहवश इनके गुरु बने हुए हैं, राजकुमारी इन्दुमती को ये एलालता और चन्दन वृक्षों से सुगंधित तमाल वृक्ष और ताम्बूल वल्लियों के उद्यान विहार का ऐश्वर्य और मेघ-तडित् का सौन्दर्य दे सकते हैं। और अन्त में **कोसल राजकुमार अज** का गौरव गान सुनन्दा करती है। इक्ष्वाकुवंशी, उन्नतेच्छादर्शक काकुत्स्थ लक्षण नाम धारण करने वाला, इन्द्रयोधा और विश्वजित् यज्ञ करने वाले महाराज रघु का वंशज, यह राजकुमार अज रूप, गुण, कुल, कान्ति, वय इत्यादि में इन्दुमती का तुल्य है। रत्नं समागच्छतु काञ्चनेन।

इन्दुमती-स्वयम्बर में किया गया भारत वर्णन भी अपनी कुछ विशेषताओं को लिये हुए है। रघु दिग्विजय में जहाँ कवि बहुत सारे प्रदेशों का केवल स्पर्श निर्देश करते चले जाते हैं, वहाँ इस स्वयम्वर वर्णन में वे कुछ धीरता से प्रादेशिक विशेषताओं को वर्णित करते हैं। भारत की प्राकृतिक और भौगोलिक विशेषताओं का तथा उनके साथ जुड़ी हुई पौराणिक स्मृतियों का यह चित्र विशेष विगतपूर्ण है और इसलिये विशेष रूप से रंगदर्शी (Colourful) और कुछ हद तक इन्द्रिय संतर्पक (Sensuous) भी बन गया है। जैसा कि सुनन्दा का अवन्तिराज के सन्दर्भ में यह कहना कि—

> **अनेन यूना सह पार्थिवेन, रम्भोरु कच्चिन्मनसो रुचिस्ते।**
> **सिप्रातरङ्गानिलकम्पितासु विहर्तुमुद्यानपरम्परासु ॥**

या अनूपराज के गुण वर्णन में यह कहना—

> **अस्याङ्कलक्ष्मीर्भव दीर्घबाहोर्माहिष्मती वप्रनितम्बकाञ्चीम्।**
> **प्रासादजालैर्जलवेणिरम्यां रेवां यदि प्रेक्षितुमस्ति कामः ॥**

या शूर सेनाधिपति के गौरवगान में यह कहना—

> **अध्यास्य चाम्भः पृषतोक्षितानि शैलेयगन्धानि शिलातलानि।**
> **कलापिनां प्रावृषि पश्य नृत्यं कान्तासु गोवर्धनकन्दरासु ॥**

या कलिङ्गराज के लिए यह कहना—

> **अनेन सार्धं विहराम्बुराशेस्तीरेषु तालीवनमर्मरेषु।**
> **द्वीपान्तरानीतलवङ्गपुष्पैरपाकृतस्वेदलवा मरुद्भिः ॥**

या पाण्डवराज के समृद्धि वर्णन में—

> **ताम्बूल-वल्ली-परिणद्धपूगास्वेला लतालिङ्गितचान्दनासु।**
> **तमालपत्रास्तरणासु रन्तुं प्रसीद शश्वन्मलयस्थलीषु ॥**

भारत की प्रकृति के अंशों का—नदी, समुद्र, पर्वत, वृक्ष समूह, प्राणि जगत् (flora & fauna) का—इन्दुमती के चित्त में वरणीय राजा के प्रति आकर्षण जगाने हेतु ऐन्द्रिय समृद्धि के रूप में वर्णन एक विशिष्ट कलात्मक प्रयोग है।

दूसरे : जहाँ तक आर्यावर्त के राज्यों का सम्बन्ध है, कालिदास ने उन राज्यों का वर्णन किया है, जिनका निर्देश रघुदिग्विजय में न किया जा सका। आप यह कह सकते हैं कि रघु ने भारत के छोर पर स्थित राज्यों पर विजय प्राप्त की, अज ने भारत के मध्य में स्थित शेष राज्यों को इन्दुमती के माध्यम से जीता। कोसल राजकुमार का निर्देश अन्त में होना स्वाभाविक है, इसलिए इसे छोड़कर आर्यावर्त के शेष राज्य हैं—मगध, अङ्ग, अवन्ति, अनूप और शूरसेन। राजकुमारी इन्दुमती का विदर्भ देश मगध और अवन्ति से दक्षिण में पड़ेगा। अत: इस वर्णन में भी राज्यों का निर्देश-क्रम प्रदक्षिणा के समान ही है। इस दृष्टि से इसे भारतवर्ष के अन्दर आर्यावर्त की प्रदक्षिणा कहें या रघु की भारत-प्रदक्षिणा के सन्दर्भ में इसे भारत की लघु-प्रदक्षिणा या आंतर्-प्रदक्षिणा कहनी चाहिए।

इन पाँच के उपरान्त कालिदास ने आर्यावर्त्त-बाह्य दो राज्य कलिङ्ग और पाण्ड्य का भी यहाँ वर्णन किया है। इसकी संगति यों बैठती है कि ये दोनों विदर्भ के पड़ोसी राज्य हैं।

इससे कालिदास के इस दूसरे भारत वर्णन में यह योजना दिखाई पड़ती है। रघु दिग्विजय में अनिर्दिष्ट राज्यों का वर्णन करने के लिए कवि को भारतवर्ष के प्राय: मध्य में स्थित विदर्भ राजकुमारी के स्वयंवर का निमित्त कथानक में मिल गया है और इस निमित्त से पहले वे भारतवर्ष के शेष राज्यों का वर्णन आर्यावर्त की प्रदक्षिणा के क्रम में करते हैं। फिर औचित्य दृष्टि से विदर्भ के पड़ोसी राज्य कलिङ्ग-पाण्ड्य के वर्णन भी सम्मिलित करते हैं। रघुवंशी राजकुमार अज का वर्णन सबसे अन्त में हो इसी में औचित्य है।

(३)

इन दो वर्णनों में कालिदास ने भारतवर्ष के सभी प्रदेशों या राज्यों का प्राय: नि:शेष रूप से निर्देश-वर्णन कर दिया है। प्रदेशों-राज्यों के नाम पर तो कोई भू-भाग इस विशाल उपखंड का अवर्णित नहीं छूटा। फिर भी कालिदास भारत के तीसरे वर्णन का अवकाश अपने लिये निर्मित कर ही लेते हैं। हालाँकि इस तीसरे वर्णन में भी कालिदास पुनरुक्ति दोष नहीं करते। प्रथम वर्णन स्थल वर्त्मना हुआ है, दूसरा वर्णन भी एक तरह से तो भूतल स्थिति से ही किया गया है। तीसरी बार कालिदास भारत का—प्राय: पूरे भारत का—अन्तरिक्ष मार्ग से वर्णन करवाते हैं। एक तरह से यह वर्णन भी उनके लिए तो प्रसंग प्राप्त ही है। कथानक का अंश है राम का

पुष्पकारोहण करके वायुमार्ग से लंका से अयोध्या लौटना और कालिदास जैसा कवि स्वतः प्राप्त ऐसे अवसर को कैसे छोड़ दे ?

इसलिये, तेरहवाँ सर्ग इस प्रकार आरम्भ होता है ।

अथात्मनः शब्दगुणं गुणज्ञः पदं विमानेन विगाहमानः ।
रत्नाकरं वीक्ष्य मिथः स जायां रामाभिधानो हरिरित्युवाच ।।

"राम कहलाने वाले हरि ने विमान में बैठकर अपने शब्द गुणात्मक स्थान—आकाश में प्रवेश किया और रत्नाकर को देख अपनी जाया से कहा ।"

इस प्रास्ताविक पद्य से एक विशिष्ट वातावरण की रचना आरंभ हो जाती है । राम लौकिक हैं, विष्णु अलौकिक । रामाभिधानो हरिः कहने से राम के अवतारी पुरुष होने का निर्देश मिल गया । लौकिक अलौकिक का अभेद सिद्ध होने लगा । शब्द गुण आकाश विष्णु का मध्यम पद है, समुद्र उनका निवास । राम रूप विष्णु अपने मध्यम पद आकाश में प्रवेश करते हैं, और अपने निवास समुद्र को देखते हैं । वैसे भी आकाश में रहकर समुद्र या भूमि का वर्णन करना—यह स्थिति ही रोमांचक है ।

अब सोलह पद्यों में कवि ने समुद्र का सुयोजित वर्णन किया है ।

हे वैदेही, मेरे रचे सेतु से विभक्त, छाया पथ से विभक्त निर्मल आकाश के समान, इस फेनिल जलराशि को देखो । हमारे ही पूर्वजों ने इसे खोदकर बढ़ाया था । रूप और विस्तार इसके विष्णु की तरह अकल्प्य हैं । आदि पुरुष इसमें सोते हैं । इन्द्र से डरकर सैकड़ों पर्वतों ने इसमें आश्रय लिया था । एक साथ उनके नदियों को तरंगरूपी अधरदान करने में यह दक्ष है । सरिताओं के ससत्त्व मुख जल को पीकर ये तिमि मत्स्य अपने शिरोरन्ध्र से जल धाराओं को ऊपर फेंकते हैं । तुम्हारे ओष्ठों से स्पर्धा करने वालों प्रवालों पर यह शंख समूह समुद्र-तरङ्गों में लुढ़कता है और यह देखो, समुद्र के विशाल आवर्त पर जल पीने के लिए उतरा यह बादल फँस गया और घूमने लगा—जैसे समुद्र-मन्थन फिर से शुरू हो गया । वह दूर से तमाल-ताल की बनराजि के कारण गहरे रंग की तट रेखा दिखाई पड़ने लगी । अब तट से आती यह हवा, केतकी की रज से तुम्हारी मुख शोभा रच रही है । लो, हम जरा सी देर में पूग वृक्ष की माला वाले समुद्र तट पर भी आ गये ।

इस वर्णन की योजना स्पष्ट और सुयोजित है । समुद्र दर्शन में प्रथम अनुभूति विशालता की होती है, और जल तत्त्व महाभूत की इस विशालता के वर्णन के लिए आकाश तत्त्व महाभूत से बढ़कर कोई उपमान हो नहीं सकता । दूसरी अनुभूति वैयक्तिक संबंध की होगी । इस समुद्र को राम के ही पूर्वजों ने खोदा था और राम ने इसके ऊपर सेतुबन्ध किया । इससे पूरे रघुवंश के साथ, काव्य के साथ, राजवंश

के साथ और विशेषत: राम के साथ—सागर का एक मौन और अटूट आत्मीय संबंध स्थापित होता है। तब कुछ पौराणिक निर्देशों की सहायता से समुद्र की विशालता और गहनता को कवि अनुभूति क्षम बनाते हैं। फिर समुद्र और नदियों के दाम्पत्य भाव के निरूपण द्वारा वे वास्तविक की ओर संक्रमण करते हैं और पिछले अंश में कुछ समुद्री जलचरों के वर्णन से समुद्र का प्रत्यक्षवत् वर्णन करते हैं। अन्त में समुद्र तट का दूर से दर्शन, तट वायु का स्पर्श और तट पर पहुँचना निरूपित है। कुल मिलाकर समुद्र की विशालता, गहनता और वैविध्य का यह चित्र दिव्य और प्रत्यक्ष दोनों प्रकार के उपकरणों की सहायता से प्रतीतिक्षम बन पाया है।

ऐसा ही सुयोजित वर्णन आगे की विमान यात्रा में भारत भूमि का भी है। राम सीता से कह रहे हैं—

"हे मृगनयनी, पीछे तो दृष्टिपात करो। दूर खिसकते हुए समुद्र से यह सकानना भूमि जैसे बाहर आ रही है। यह विमान भी मेरी इच्छानुसार संचार करता है—कभी देव मार्ग में, कभी विहग मार्ग में। तुम्हारे वातायन से हाथ निकालने पर यह घन चमकती हुई विद्युत् का जैसे दूसरा आभूषण तुम्हारे हाथ में पहनाता है।"

विमान की अन्तरिक्ष गति को प्रतीत, अनुभवक्षम बनाने के लिए यह वर्णन आवश्यक था। विमान गति के साथ अब कवि की प्रतिभा भी कल्पना की उड़ान भरती हुई भू प्रदेशों का वर्णन करती है।

"इस जनस्थान को अब निर्विघ्न जानकर तपस्वीगण यहाँ पुनर्निवास के लिए फिर से कुटिया बना रहे हैं।"

"यह वह स्थान है जहाँ तुम्हें ढूँढ़ते हुए मुझे तुम्हारा एक नूपुर मिल गया था—तुम्हारे चरणों से भ्रष्ट, तुम्हारे वियोग दुःख से मौन। राक्षस जहाँ से तुम्हें ले गया उस मार्ग को इन लताओं ने शाखाओं के द्वारा मुझे बता दिया था।"

"यह माल्यवान् पर्वत का गगन भेदी शृङ्ग, जहाँ बादल के नये जल के साथ मैंने तुम्हारे वियोग में आंसू बहाये थे, जहाँ नई वर्षा के सिंचन से, उठती धरती की भाप और नई कन्दली की कलियों ने, विवाह के समय धुँए से लाल तुम्हारी नेत्र शोभा की स्पर्धा करते हुए मेरे हृदय को बाँध दिया था।"

"अब दूर तक उतरी हुई दृष्टि थककर जैसे पम्पा का जल पी रही है। यहाँ मैं तुमसे विरहित था और मैंने बड़ी स्पृहा से एक दूसरे की चोंच में कमल केसर देते हुए चक्रवाक युगलों को देखा था।"

"यह विमानलम्बिनी स्वर किंकिणियों के स्वर से आकृष्ट गोदावरी की सारस पंक्तियाँ तुम्हारे सत्कार के लिए ऊपर उड़ती आ रही हैं।"

"यह पञ्चवटी। यहाँ गोदावरी के तट पर वानीर कुञ्ज के एकान्त में तुम्हारे अङ्क में सर रखकर मैं सोता था और लहरों पर से बहती वायु मेरा श्रम दूर करती थी।"

"पञ्चवटी तक के वर्णन में विरह स्मरण का रंग मिला हुआ है। इससे आगे ऋषियों के आश्रमों के वर्णन की प्रमुखता है।"

"यह अगस्त्य ऋषि का आश्रम। इन्होंने भ्रूभेद मात्र से नहुष को इन्द्रासन से पद भ्रष्ट किया। मटियाले जल की शुद्धि हेतु इन्होंने पृथ्वी पर यहाँ आश्रम बनाया।"

"यह शातकर्णि मुनि का पञ्चाप्सर नाम का विहार-सरोवर। इन्द्र ने पाँच अप्सराओं से इसे बाँध लिया था। उन्हीं के जलान्तर्गत प्रासाद से उठती हुई संगीत ध्वनि से क्षणमात्र यह पुष्पक मुखरित हो उठा।"

"यह सुतीक्ष्ण नाम के अन्य तपस्वी चार समिद्ध अग्नि के मध्य में, सर पर तपते हुए सूर्य में तप कर रहे हैं। मेरे प्रणाम को मौन व्रत के कारण केवल कुछ सर हिलाकर स्वीकार करते हैं।"

"यह शरभङ्ग ऋषि का आश्रम। इन्होंने यज्ञ में अपनी मन्त्र पूत देह की भी आहुति दे दी। इनके अतिथि धर्म का भार अब इनके सुपुत्र जैसे आश्रम के वृक्षों पर पड़ा है।"

"यह चित्रकूट। इसकी गुफाएँ निर्झरों की गूंज से भरी हुई हैं। इसके पास दूर से पतली पृथ्वी के कंठ में पड़ी मुक्तावली जैसी दीखती हुई मन्दाकिनी और पास ही में यह तमाल, जिसकी सुगंधित कोंपल से मैंने तुम्हारा कर्णाभरण रचा था।"

"यह अत्रि ऋषि का आश्रम। ऋषियों के स्नान के लिए अनसूया ने स्वर्गंगा को यहाँ से प्रवाहित किया।"

ऋषियों के आश्रमों का यह वर्णन तप और आध्यात्मिकता का अपना विशिष्ट वातावरण लिये हुए है। शेष वर्णन में प्रायः राम-सीता के वैयक्तिक परि-वेश का प्रभाव है।

"यह श्याम वट। तुमने पहले इससे कामना की थी।

"और यह यमुना और गंगा का संगम। कहीं इन्द्रनील और मोतियों की लड़ियों जैसा और कहीं काले साँप और श्वेत भभूत वाली शिवजी की काया के समान। इसमें स्नान करने से तत्त्व ज्ञान के बिना ही देहधारियों का मोक्ष हो जाता है।

"यह निषाद राज की नगरी। यहाँ मैंने जब मुकुटमणि छोड़ कर जटा बाँधी तब रोते हुए सुमन्त्र ने कहा था—हे कैकेयि, अब तुम्हारे मनोरथ पूर्ण हुए।"

"और यह सरयू नदी। उस माननीय राजा से बिछड़ी हुई मेरी माता के समान, दूर से भी शीतल वायु लहरियों से मुझे आलिङ्गन दे रही है।"

"यह भरत सेना के साथ सामने आ रहा है। लगता है हनुमान ने समाचार दे दिये हैं।"

इसके साथ भारत वर्णन समाप्त होता है। कथानक आगे बढ़ता है।

इस भारत वर्णन से स्पष्ट है कि इस विमान यात्रा का मार्ग लंका से अयोध्या तक गया होने पर भी यह भारत का भौगोलिक वर्णन नहीं है। राज्यों, नगरों आदि का इसमें नाम मात्र का भी निर्देश नहीं है। न ही यह भारत का, शब्द के स्वीकृत अर्थ में, सांस्कृतिक वर्णन है। भारत की भूगोल और संस्कृति दोनों का सम्मिलित वर्णन मेघदूत में इतना सुन्दर हुआ है कि केवल मेघदूत की रचना से भी कालिदास को भारत का राष्ट्र कवि कह सकते थे। फिर इस वर्णन की विशेषता क्या हो सकती है?

एक तो यह वर्णन राम कथा के अंतर्गत आया है, राम कथा का अंश है। राम कथा को कहने वाले किसी भी कवि की वाल्मीकि से सीधी स्पर्धा होना अनिवार्य है और कैसा ही अच्छा कवि क्यों न हो, वह वाल्मीकि से क्या स्पर्धा कर पायेगा? या, सामान्यत: हमारे प्रशिष्ट कवियों के मन में वाल्मीकि के प्रति ऐसा आदर होना स्वाभाविक है। फिर, कालिदास तो विशेष रूप से अपने उपमादि अलंकार वैभव, अपने प्रकृति वर्णन और विशिष्ट सहज शैली के लिए उनके ऋणी हैं। वाल्मीकि से स्पर्धा की बात वे सोच भी नहीं सकते। दूसरी ओर, रघुवंश में राम कथा का होना भी तो अनिवार्य है। इस परिस्थिति में कालिदास ने जिस उपाय का आश्रय लिया है वह उनके जागरूक कवि कर्म का द्योतक है।

प्राय: ऐसा देखा गया है कि कालिदास जहाँ कथानक पर जोर देना चाहते हैं वहाँ वे अनुष्टुप् छंद का प्रयोग करते हैं। रघुदिग्विजय वाला चतुर्थ सर्ग अनुष्टुपात्मक ही है। पर जहाँ वे भाव पक्ष को कुछ विशेष रूप से आलोकित करना चाहते हैं वहाँ उन्हें त्रिष्टुभ् छन्द का प्रयोग अधिक उपयुक्त लगता है। इन्दुमती-स्वयंवर का वर्णन त्रिष्टुबात्मक है।

इस दृष्टि से देखने पर रामायण कथा का एक विशिष्ट रूप हमें रघुवंश में दिखाई पड़ता है। रामायण के मुख्य कथानक का—अयोध्या प्रसंग से लंका विजय तक का—कवि कालिदास केवल बारहवे सर्ग में, प्राय: सौ श्लोकों में, अत्यंत संक्षेप में, कुछ तो पुराणों की शैली में, केवल कथन ही कर डालते हैं, अनुष्टुप् छंद में। और कथानक का जो कुटुम्ब स्नेह, ऋषियों के प्रति आदर, सीता के प्रति अद्वितीय

स्नेह इत्यादि भावात्मक अंश है उसका निरूपण कवि तेरहवें सर्ग में तत्तत् स्थानों को देखकर राम के चित्त में उठती हुई उन स्थानों से संकलित मधुर स्मृतियों के स्मरणों के रुप में करते हैं। अर्थात् वाल्मीकि से स्पर्धा न करने के लिए कवि ने कथानक के निरूपण का ऐसा प्रकार सोच निकाला कि पहले वे मूल कथानक के कथन पक्ष का निरूपण बारहवें सर्ग में कर लेते हैं, तत्पश्चात् तेरहवें सर्ग में उसी कथा के भाव पक्ष का निरूपण करते हैं।

इस दुहरे निरूपण के लिए कथानक में अवकाश भी था। राम अयोध्या से लंका तक भूमि मार्ग से गये थे पर लंका से अयोध्या पुष्पक विमान द्वारा आकाश मार्ग से लौटे थे। रामायण के कवि ने राम की दक्षिणाभिमुख यात्रा का आलेखन किया, और कथानक का मुख्य कार्य सम्पन्न हो जाने पर वहीं कथा को समाप्त कर दिया। 'रघुवंश' के कवि ने, एक तरह से कहा जाय तो, कथानक में निहित काव्यात्मक शक्यता का लाभ उठाकर, राम की उसी यात्रा का उत्तराभिमुख निरूपण भी किया और व्यञ्जित किया कि राम की मूल यात्रा भले ही दक्षिणाभिमुख रही हो, उस कथानक की सूक्ष्म भाव यात्रा तो उत्तराभिमुख-ऊर्ध्वमुखी ही है।

भारतवर्ष के दो छोर पर दो प्राकृतिक सीमा रक्षक हैं हिमालय और समुद्र। भारतीय प्रजा के लिए इन दोनों का आकर्षण भी सनातन रहा है। हिमालय शिव का निवास है, सागर विष्णु का। हिमालय का वर्णन कालिदास ने 'कुमार संभव' के आरम्भ में पर्याप्त मात्रा में किया है। वहाँ उसका पूरे काव्य की पश्चाद्भू के रूप में तथा पार्वती के पिता के रूप में दुहरा सम्बन्ध होने से औचित्य भी है। यहाँ भी राम विष्णु के अवतार हैं और विष्णु का निवास है समुद्र। इस समुद्र को राम के पूर्वजों ने खोदा है और राम ने इस पर सेतुबन्ध किया है। ऐसा त्रिविध सम्बन्ध होने के कारण कवि समुद्र का ऐसा विस्तृत वर्णन करते हैं। इसमें पूरा औचित्य भी है।

और यहीं से, भारत के चरणों में लहरा रहे समुद्र तट के स्थान से ही यह तीसरा भारत दर्शन आरम्भ होता है। पहला भारत दर्शन अयोध्या से अर्थात् भारत के उत्तर भाग में रहे किसी स्थान से आरम्भ होकर वहीं सम्पन्न हुआ था। दूसरा भारत दर्शन भारत के मध्य भाग में रहे विदर्भ की राजनगरी से हुआ था। यह तीसरा दर्शन दक्षिण तट से आरम्भ होता है। वैसे भारत के विहंगम दर्शन के लिए यह तीसरा दृष्टिकोण ही सर्वाधिक उपयुक्त है। भारतवर्ष के चरणों में खड़े होकर हम, जैसे, भक्तिभाव से समर्पित होकर पूरे राष्ट्र की ओर दृष्टिक्षेप कर रहे हैं। देवताओं और पूजनीय व्यक्तियों के वर्णन आपाद मस्तक किये जाते हैं। भारतवर्ष का वर्णन भी आसेतु-हिमाचल किया जाय इसमें पूजा भाव का सूक्ष्म औचित्य भी अन्तर्निहित है।

पर सेतु से आरम्भ होते हुए भी यह विमान यात्रा हिमालय तक नहीं गई। पञ्चवटी से थोड़ी मुड़कर वह हिमालय से कुछ नीचे अयोध्या तक ही जाकर रुक गई। इससे पहले एक यक्ष ने मेघ को यहीं से हिमालय भेजा था। वह यक्ष विरही कामी था, इसलिये उसके द्वारा किया गया पूरे उत्तर भारत का दर्शन शृङ्गार मग्न था। यह वर्णन अवतारी पुरुष रामचन्द्र द्वारा किया गया है इसलिए इनके वर्णनों में उदात्त दाम्पत्य भाव तथा ऋषियों के आश्रमों तथा पवित्र नदियों-संगमों का महत्त्व विशेष रूप से प्रकट हो रहा है।

राम के अयोध्या तक ही जाने में कथानक के औचित्य के साथ एक अन्य सूक्ष्म औचित्य भी है। जैसा कि हमने देखा है, हिमालय शिव का निवास है। रामावतारी विष्णु का विश्वविजेता के रूप में शिव के स्थान में या उनके प्रभाव क्षेत्र में प्रवेश करना उचित नहीं होगा। इसलिए राम का केवल अयोध्या तक ही जाना समीचीन होगा।

हमने देखा है कि राम की इस वैमानिक भारत यात्रा का वर्णन भौगोलिक नहीं है। वैसा वर्णन तो इससे पूर्व कवि कर चुके हैं अतः फिर से वैसा वर्णन पुनरुक्ति ही होता। यहाँ तो औचित्यपूर्वक केवल उन स्थानों का निर्देश-वर्णन हुआ है जिनका सम्बन्ध प्रायः रामायण के कथानक से है। दूसरे, ये सब राज्यादि सीमाएँ मनुष्यकृत और कृत्रिम हैं, कल्पित हैं। अन्तरिक्ष से देखने पर ये कृत्रिम सीमाएँ कहाँ दिखाई देंगी? पूरा भूतल एक-सा दिखाई देगा, और कुछ दिखेंगे तो केवल पर्वत, नदियाँ, जंगल, कृषि, जन स्थान इत्यादि। इसमें भी ऐसे प्राकृतिक स्थानों की ओर ध्यान सविशेष आकृष्ट होगा जिनके साथ व्यक्ति की निजी संस्मृतियाँ जुड़ी हों। इस वैमानिक वर्णन में भी ऐसा ही हुआ है। तीसरे, सभी राज्यादि सीमाएँ मनुष्य की क्षुद्र सत्ताप्रियता, कलह शीलता आदि की द्योतक हैं और पार्थिव धरातल से इतना ऊपर उठकर भारत भूमि को देखने वाला क्या इन क्षुद्र राज्यों का लेखा-जोखा करेगा? वह भी राम जैसा लोकोत्तर अवतारी पुरुष? यह अपेक्षा ही स्वयं में कितनी सीमित है? कवि ने तो पूरे दक्षिणावर्त में राम के निरतिशय अविचल सीता प्रेम का रंग भर दिया है, क्योंकि पञ्चवटी निवास के बाद विरह व्यथा ही राम का एकमात्र स्थायीभाव था और पञ्चवटी निवास से पूर्व अत्रि से लेकर अगस्त्य तक के मुनियों के आश्रमों के दर्शन राम ने इस पितृदत्त वनवास के निमित्त से कर लिये थे। सो आर्यावर्त का वर्णन कवि ने तपोज्ज्वल चित्रित किया है।

ध्यान से देखने पर इस वर्णन में चार विभाग दिखाई देंगे। वर्णन के प्रारम्भ में समुद्र का विस्तृत वर्णन है, जिसमें उसकी विशालता और वैविध्य का भव्य चित्र उभरता है। फिर दक्षिण तट से लेकर पञ्चवटी तक, माल्यवान् पर्वत,

पम्पा सरोवर, गोदावरी, पञ्चवटी इत्यादि स्थानों के वर्णन में राम का प्रगाढ़ विरह-भाव व्यक्त हुआ है, अर्थात् पूरे दक्षिणावर्त में कवि ने दाम्पत्य स्नेह का निरूपण किया है। पञ्चवटी के बाद अगस्त्य, शातकर्णि, सुतीक्ष्ण, शरभंग, अत्रि इत्यादि ऋषियों के आश्रमों के वर्णन में इनके महत्त्व, प्रभाव, तप, परम्परा आदि का—तपः प्रधान संस्कृति वाले आर्यावर्त देश का चित्र आलोकित हुआ है और अन्तिम अंश में चित्रकूट, श्याम वट, संगम तीर्थ, निषादराज की नगरी, सरयू नदी आदि के वर्णन से कुछ प्रकृति-सौन्दर्य के, कुछ कुटुम्ब स्नेह के रंगों वाला चित्र रचता है। भारतवर्ष का यह चित्र क्षुद्र प्रादेशिक सीमाओं से अछूता और भव्यता, स्थिर प्रणय, तप और कुटुम्ब स्नेह के चातुर्वर्ण्य से रससिक्त है। अवतारी पुरुष राम ने स्वर्ग और पृथ्वी के मध्य में अन्तरिक्ष में रहकर, भारतवर्ष की मानुषी मर्यादाओं को पोंछकर इसके दो प्रमुख भावमूल्य दाम्पत्य स्नेह और आध्यात्मिकता की स्थापना की है।

समग्र रूप से देखते हुए इस वर्णन में वर्णनकार श्री राम का स्वयं विष्णु के अवतार स्वरूप होना, उनका दिव्य विमान में अन्तरिक्ष गमन करते हुए भारत वर्णन करना, भूतल स्थित स्थानों के प्रणय स्मृति सिक्त रूप में निर्देश, उनके मानवीय प्रणय विरह का इतना मधुर-गाढ़ संस्मरणात्मक निरूपण, ऋषियों के आश्रमों के वर्णन, उनके तप के, तपःप्रभाव के, प्रत्यक्ष तपः सिद्धियों के वर्णन, पौराणिक कथा-निर्देश, इन सब उपकरणों से महाकवि ने करुण, मधुर, भव्य, दिव्य, उन्नत भावों का एक ऐसा वितान रचा है, वास्तविक-पौराणिक, मौलिक-दिव्य, लौकिक-अलौकिक अंशों का एक ऐसा अद्भुत रसायन कवि ने सिद्ध किया है कि भारतवर्ष का एक अपूर्व सुन्दर भावचित्र इसमें बन आया है। आधिभौतिक, पौराणिक, दिव्य, आध्यात्मिक सभी स्तरों के वास्तवों को प्रामाणिक मानने वाली, उनकी सत्यता श्रद्धा से स्वीकार करने वाली भारतीय प्रजा की मानसिकता का एक ऐसा सुभग दर्शन इसमें मिलता है कि, एक तरह से तो यह कहना भी अनुचित न होगा, कि इस भारत वर्णन में प्राचीन भारत का आदर्श सत्त्व प्रकट हुआ है, भारत की आत्मा प्रकट हुई है।

□

नाट्यशास्त्र और भारतीय अस्मिता

राधावल्लभ त्रिपाठी

(१) नाट्यशास्त्र (नाशा०) की रचना जिस युग में हुई, उसमें यह देश विभिन्न जातियों, जनसमुदायों में पारस्परिक समन्वय की खोज के साथ अपने सामाजिक, भौगोलिक और सांस्कृतिक स्वरूप की पहचान कर रहा था। आश्चर्य नहीं कि नाट्य के उद्भव और विकास के क्रम को बतलाते हुए नाशा० कार आचार्य भरत आर्यों के साथ अनेक आर्येतर जातियों और विभिन्न आदिम समुदायों के नाट्य में योगदान की चर्चा करते हैं। इसके साथ ही नाशा० की रचना के समय आसेतु हिमाचल सारे देश का रूप अपनी समग्रता में उनके सम्मुख था—यह नाट्य के और वृत्तियों, प्रवृत्तियों आदि की परिकल्पना से स्पष्ट है।

(२) भरत के अनुसार नाट्य लोक का अनुकरण, अनुकीर्त्तन या अनुदर्शन है।[1] समाज के लोगों या लोक के सुख, दुःख, शील, स्वप्न और आकांक्षाओं को आंशिक आदि चतुर्विध अभिनयों के द्वारा जिस कला में मूर्त्त किया जाता है, वह नाट्य है—

योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःखसमन्वितः।
सोऽङ्गाद्यभिनयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते॥

—नाशा० १।११९

यह लोक क्या है? आचार्य अभिनव गुप्त कहते हैं कि इस देश के गाँवों, जनपदों में बसे हुए विभिन्न वर्णों, विभिन्न धर्मों, प्रवृत्तियों और वृत्तियों के लोगों का समाज ही लोक है—

लोको नाम जनपदवासी जनः,
स च प्रवृत्तिक्रमेण प्रपञ्चितः।
तत्प्रसङ्गेनेव तावद् धर्मो आयाता।
सा चाङ्गिकशेषतया वक्तव्या।

—अभिनव भारती-अ० १३, पृ० २१२

(३) इस लोक के आधार पर ही नाट्य में वृत्तियों और प्रवृत्तियों की परिकल्पना की गई और वृत्तियों को तो नाट्य की जननी बताया गया।[२] वृत्तियों को नाट्य का जनक कहना यह स्पष्ट करता है कि नाशा० के आचार्यों और प्रयोक्ताओं की दृष्टि में नाट्य जैसी सभी कलाओं का आधार लोक है, जो उनके देश के निवासियों का समुच्चय है। नाट्य इस लोक का चित्रण ही नहीं करता, उसकी सर्जना और प्रयोग का उद्देश्य भी इस लोक को संस्कारित करना, विश्रान्ति देना या इसका अनुरंजन करना है—

दुःखार्त्तानां श्रमार्त्तानां शोकार्त्तानां तपस्विनाम्।
विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतद् भविष्यति॥
धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति॥

—नाशा० १।११४-१५

सारांश यह कि नाट्य की रचना देश के लोगों के बीच, उनके द्वारा और उन्हीं के लिए की जाती है। इसीलिए नाशा० अपने शास्त्र को **सार्ववर्णिक पंचमवेद**[३] कहता है—ऐसा शास्त्र जो देश की जनता के प्रत्येक वर्ग के लिए समान रूप से उपलब्ध है और किसी एक वर्ग, जाति या वर्ण से प्रतिबद्ध नहीं है।

(४) इस दृष्टि से नाट्य की **वृत्तियों** और **प्रवृत्तियों** की जिस व्यापक रूप में परिकल्पना और विभाजन किया गया है, वह अपने राष्ट्र के प्रति चेतना का कला के क्षेत्र में अद्वितीय उदाहरण है। कदाचित् विश्व में कला चिन्तन के क्षेत्र में राष्ट्र को दृष्टि में रख कर चिन्तनप्रस्थान निर्मित करने का ऐसा उदाहरण, कम से कम ईसापूर्व की उन शताब्दियों में, जब नाशा० रचा जा रहा था, नहीं मिलता।

(४.१) **प्रवृत्ति** का अर्थ निवेदन या प्राख्यापन है। पृथिवी पर के विभिन्न देशों के लोगों की वृत्ति, आचार आदि का प्राख्यापन करने की दृष्टि से इसे **प्रवृत्ति** कहा गया। भरत ने चार प्रवृत्तियाँ बतायीं—**आवन्ती**, दाक्षिणात्या, पाञ्चाली तथा ओड्रमागधी। स्पष्ट ही देश को चार भूगोलिक खण्डों में बाँट कर उनके आधार पर चार प्रवृत्तियों का नामकरण किया गया है। भरत इस चतुर्विध विभाजन पर यह प्रश्न उठाते हैं कि पृथ्वी पर असंख्य देश हैं, उनमें से चार के आधार पर ही नामकरण क्यों? इसका उत्तर यह है कि नाट्य में चित्रित होने वाली चार वृत्तियाँ —भारती, आरभटी, कैशिकी और सात्वती—इन चार प्रवृत्तियों से जन्म लेती हैं।[४] आशय यह कि ये चार प्रवृत्तियाँ सारे राष्ट्र के लोगों की वृत्तियों के चित्रण के लिए **आधार प्रदान करती हैं**। इसलिए भरत ने सारे देश के विभिन्न प्रान्तों

का उल्लेख करते हुए इन चार प्रवृत्तियों में हिमालय से कन्याकुमारी और गान्धार से प्राग्ज्योतिष तक सम्पूर्ण भारत के भूगोलिक क्षेत्र को समाहित किया है।[५]

(५) पुराणों ने भारतवर्ष को कर्मभूमि तथा उसकी तुलना में इतर भूमियों को भोगभूमि कहकर भारत देश की महिमा का गायन किया था। पौराणिक भूगोल से नाशा० की भूगोलिक अवधारणाओं मे साम्य है। यही नहीं, नाशा० भी पुराणों के ही समान भारत देश को कर्म भूमि के रूप में महिमान्वित करता है, क्योकि मनुष्य भारत में ही निवास करते हैं। भारतेतर प्रदेश नाटक में चित्रण की दृष्टि से उतने ग्राह्य नहीं, क्योकि वे दिव्य भूमियाँ हैं। मनुष्यों की भूमि यही है। अतः नाट्य में भारतवर्ष सर्वाधिक इष्ट है।[६]

यद्यपि दिव्ययोनि के पात्रों का भी आगमन कारणवश भारत में हो सकता है, पर यह भूमि विशेषतः तो मनुष्यों के संचार के ही कारण नाट्य प्रयोग में प्रथित है। कक्ष्याविभाग निरूपण में भरत ने इस तथ्य को रेखांकित किया है--

भारते मानुषाणाञ्च गमनं संविधीयते।। १३/२२

नाटक में मनुष्य का जीवन ही प्रमुखता से चित्रित होता है, अतः कक्ष्याविभाग भारत की भूगोलिक प्रतिच्छवि को ही रंगमंच पर उभारता है—

एवन्तु भारते वर्षे कक्ष्या कार्याः प्रयोगतः।। १३/२७

इसी भारतीय भूगोल से अनुषक्त अवधारणा जम्बूद्वीप के भूगोल की है, नाशा० ने हिमालय के आगे के देशों का कक्ष्याविभाग बनाते हुए इस पर तेरहवें अध्याय में विचार किया है।

नाशा० भारतवर्ष में रहने वाली विभिन्न जातियों, प्रजातियों की चर्चा भी करता है और भारत के भाषिक भूगोल की भी। संस्कृत इस देश की परिनिष्ठित भाषा है। नाटक के संस्कारवान् पात्र संस्कृत बोलते हैं—स्त्रियाँ भी।[७] नाशा० शिल्पकारों के लिए भी कलाओं के परिज्ञान या राजा के साथ विनोद के प्रसंग में संस्कृत में ही बातचीत करने का विधान देता है।[८] संस्कृत के अतिरिक्त पूरे देश में प्रचलित सात भाषाओं का विभिन्न पात्रों द्वारा नाटक में प्रयोग निश्चित किया गया है—मागधी, अवन्तिजा, प्राच्या, शौरसेनी, अर्धमागधी, वाह्लीका तथा दाक्षिणात्या।[९] स्पष्ट ही भाषा विधान के सन्दर्भ में भी नाट्यशास्त्रकार के आगे पूरे देश का भूगोल था। इन सात भाषाओं के अतिरिक्त कुछ विभाषाओं का भी उल्लेख नाशा० में है, जो शकार, आभीर, चंडाल, शबर, द्रमिल (द्रविड) तथा आन्ध्र के निवासियों और वनेचरों के द्वारा बोली जाती हैं।[१०] भारत के विभिन्न

भूभागों में प्रचलित उच्चारणपद्धति, स्वर या व्यंजन के विशिष्ट प्रयोग का आग्रह— इसका भी रोचक अध्ययन नाशा० प्रस्तुत करता है।[११]

आहार्याभिनय के प्रकरण में भारत के विभिन्न प्रान्तों में प्रचलित वेशभूषा, विशेषतः स्त्रियों के अलंकरणों पर नाशा० ने सविस्तार विचार किया है। आवन्ती, गौडी, आभीर युवतियों तथा दाक्षिणात्य महिलाओं के परिधान तथा अलंकारों का यहाँ सटीक विवरण है।[१२]

पुराणों में भारत-भूमि को त्रिलोकी में सर्वश्रेष्ठ माना था, क्योंकि यह कर्म-भूमि है। नाशा० की परम्परा ने भी भारत देश को सर्जना की दृष्टि से अद्वितीय और सर्वोत्कृष्ट माना। यदि लोक की सुख-दुःख-समन्वित विभिन्न अवस्थाओं की अनुकृति नाट्य है, तो उसके समुन्मेष और समुल्लास की सर्जना भूमि भारत की वसुन्धरा ही हो सकती है, जहाँ ऐसी अवस्थाओं के वैविध्य अपने प्रकर्ष पर देखने को मिलते हैं। काव्यशास्त्र के आचार्य रुद्रट ने तो इस वैविध्य का दूसरा पक्ष बताते हुए कवि के लिए कहा कि दारिद्र्य, व्याधि, जरा आदि से होने वाले दुःख या जीवन में जो कुछ बीभत्स हैं, उनका चित्रण करना हो तो भारत भूमि के प्रसंग में करे—

दारिद्र्य-व्याधि-जरा-शीतोष्ण-समुद्भवानि दुःखानि।
बीभत्सं च विदध्यान्नान्यत्र भारताद् वर्षात्॥

जबकि नाशा० की परम्परा में शारदातनय ने शंकुक को उद्धृत करते हुए स्वीकार किया कि रचनाकारों के लिए सारे वर्षों में भारतवर्ष सबसे इष्ट इसलिए है कि यह कर्मभूमि है, कला के साधक को अपनी अभिव्यक्ति के लिए सर्वाधिक अवकाश यहीं रह कर मिल सकता है—

यद्दिव्यनायककृतं कार्यं सङ्ग्रामबन्धुवधयुक्तम्।
तद् भारते तु वर्षे कर्त्तव्यं काव्यबन्धेषु।
कस्माद् भारतमिष्टं वर्षेभ्यस्तस्य कर्मभूमित्वात्।
इत्याहुर्भारते वर्षं इति शङ्कुकभाषितम्।
देशेष्वन्येषु कविभिर्न वधादिः प्रकल्प्यते॥

—भावप्रकाश ८, पृ० २५२

सन्दर्भ

१. (क) तदन्तेऽनुकृतिर्बद्धा यथा दैत्याः सुरैर्जिताः। नाशा० १/५७
(ख) नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम्॥ वही १/११२

(ग) सप्तद्वीपानुकरणं नाट्यमेतद् भविष्यति । वही १/११७

(घ) येनानुकरणं ह्येतन्नाट्यमेतत्पयाकृतम् । वही १/११८

(ङ) त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्त्तनम् । वही १/१०७

(च) भविष्यतश्च लोकस्य सर्वकर्मानुदर्शकम् । वही १/१४

(छ) तस्मिन् समवकारे तु प्रयुक्ते देवदानवाः ।
हृष्टाः समभवन् सर्वे कर्मभावानुदर्शनात् ।। वही ४/४

(ज) ततो भूतगणा हृष्टाः कर्मभावानुदर्शनात् । वही ४/११

२. सर्वेषामेव काव्यानां मातृकावृत्तयः स्मृताः ।
आभ्यो विनिःसृतं ह्येतद् दशरूपं प्रयोगतः ।। वही १८/४

३. तस्मात् सृजापरं वेदं पञ्चमं सार्ववर्णिकम् । वही

४. अत्राह—प्रवृत्तिरिति कस्मात् ? उच्यते पृथिव्यां नानादेशवेषभाषाचारवार्ताः प्रख्यापयतीति वृत्तिः, प्रवृत्तिश्च निवेदने । अत्राह—यथा पृथिव्यां बहवो देशाः सन्ति, कथमासां चतुर्विधत्वमुपपन्नम्, समानलक्षणश्चासां प्रयोग उच्यते ? सत्यमेतत् । समानलक्षण आसां प्रयोगः । किन्तु नानादेश-वेष-भाषाचारो लोक इति कृत्वा लोकानुमतेन वृत्तिसंश्रितस्य नाट्यस्य वृत्तिनां मया चतुर्विधत्वमभिहितम्—भारती, सात्त्वती, कैशिक्यारभटी चेति । नाशा०, अ० १३

५. द्रष्टव्य—नाशा० १३/३९-५७

६. वही १८/९८-१००

७. वही १३/२८-३४

८. वही १७/४३

९. वही १७/४८

१०. वही १७/४९

११. वही १७/५८-६२

१२. वही २१/१२-७६

□

प्राचीन भारत में राष्ट्रिय चेतना : संस्कृत वाङ्मय के आलोक में

डॉ० महराजदीन पाण्डेय

प्राध्यापक, संस्कृत विभाग

आ० न० किसान स्नातकोत्तर महाविद्यालय बभनान, गोण्डा, उ० प्र०

जब हम राष्ट्रियता के आधुनिक मान्य सिद्धांतों के आधार पर प्राचीन भारत की राष्ट्रियता की परख करने चलते हैं, तो आपाततः हमें निराश होना पड़ता है। पहले—"राष्ट्र की वह धारणा, जहाँ राजा एक होता है, जो हर राष्ट्र के पृथक और प्रतिस्पर्धी होता है, भारत के पास न थी। न उसकी धर्म धारणा ही ऐसी एकांत थी। धर्म अक्सर अमुक व्यक्ति और सिद्धांतवाद को लेकर गठित होता है, उसी प्रकार राष्ट्र एक राजा और एक केन्द्रस्थ शासन तंत्र को लेकर रूप पाता है। ये दोनों धारणाएँ भारतीय स्वत्व के लिए आवश्यक नहीं हुई। धर्म भी यहाँ जीवन्त रहा, इसी तरह देश भी गरिमामय बना।"[1] एक शासन से शासित न होने, एक धर्म के नियन्त्रण में न होने और एक जाति से सम्बद्ध न होने पर भी यहाँ के लोगों में एक राष्ट्र-भारत का राष्ट्रिक होने की सामान्य धारणा सदैव रही है।" कोट्यावधि मानव राष्ट्र के रूप में किसी कृत्रिम उपाय से एकत्र नहीं हो सकते। उनके जीवन की एक सूत्रता, मातृ-भूमि के प्रति समान प्रेम, समान शत्रु-मित्र भाव तथा उन सबसे बढ़कर जीवन की इति कर्त्तव्यता के सम्बन्ध में समान-भाव किसी बाह्य प्रचार तंत्र के द्वारा उत्पन्न नहीं किये जा सकते। राष्ट्र जीवन में दिखने वाली समानताएँ किसी अन्तर्निहित चेतनतत्त्व की अभिव्यक्तिमात्र हैं।[2] प्राचीन युग की भारतीय जन-जीवन की यह सरसता इतिहास सिद्ध है। हमारे देश की मौलिक एकता यहाँ के सांस्कृतिक जीवन में पूर्णतः व्यक्त होती है। यहाँ के धार्मिक जीवन में विभिन्न धर्म सम्प्रदाय और मत मतान्तर मिलते हैं। पर वे यहाँ के मूल आध्यात्मिक तत्त्वों और सिद्धांतों से ही निकले हैं। ईश्वर, जीव, आत्मा, लोक-परलोक, भाग्य-कर्म, पाप-पुण्य, स्वर्ग-

नरक, प्रवृत्ति-निवृत्ति, ज्ञानभक्ति, मुक्ति, पुनर्जन्म, अद्वैत-द्वैत आदि विभिन्न दार्शनिक विषयों पर मनुष्य के व्यक्तिगत चिन्तन और धारणा के प्रति यहाँ सहिष्णु मानसिकता का विकास हुआ है। इसीलिए यहाँ आस्तिक दर्शनों के साथ घोर नास्तिक दर्शनों का भी विकास हो सका। इस प्रकार उत्पन्न अनेक मतों और सम्प्रदायों को भारतीय मनीषियों ने एक लक्ष्य की ओर अभिमुख किया है।'' और अनेक के बीच एक को निःसंशय भाव से अन्तरतम रूप में प्राप्त किया है। भारतवर्ष ने बाहर के समस्त प्रतीयमान पार्थक्य को नष्ट किये बगैर उसके अन्दर के निगूढ़ योग पर अधिकार किया है।''[३]

वैदिक काल से सूत्रों के युग तक संस्कृत साहित्यिक और धार्मिक भाषा थी। बौद्धों का त्रिपिटक साहित्य पाली में और जैनों का अंग-साहित्य अर्ध-मागधी-प्राकृत्त में लिखा गया। ईशवी प्रथम शताब्दी के लगभग साहित्यिक क्षेत्र में बौद्धों ने संस्कृत भाषा को पुनः अपना लिया। आगे अपभ्रंश और हिन्दी आदि विभिन्न भाषाओं का युग आता है किन्तु उपर्युक्त समस्त भाषाओं के साहित्य भाषिक और सांस्कृतिक दृष्टि से संस्कृत साहित्य के स्रोत वेद और तदुपजीवी धार्मिक-दार्शनिक साहित्य पर निर्भर रहे हैं। ''सुदूर मलैबार के शंकराचार्य, तमिल के कम्बन, महाराष्ट्र केज्ञानेश्वर, असम-बंगाल के चैतन्य, उत्तरापथ के वाल्मीकि और तुलसीदास, बिहार के बुद्ध और महावीर, राजस्थान की मीराँबाई, कश्मीर की लल्लेश्वरी, गुजरात के नरसी मेहता, पंजाब के गुरुनानक—इन सबकी सांस्कृतिक भाषा एक है।''[४]

समय के साथ इस देश में अनेक जातियों का समागम होता रहा, किन्तु राष्ट्रिय संस्कृति की कोई अनिर्वचनीय क्षेमवती शक्ति उन जातियों को यथावत् सुरक्षित रखते हुए भी उनमें अन्तरैक्य सम्बन्ध का सर्जन करती रही। इस प्रक्रिया में ''वर्ण व्यवस्था'' की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। मुस्लिम काल तक आते-आते जब वर्ण व्यवस्था चरमरा उठी तब इस्लामी तसव्वुफ और हिन्दू भक्ति आन्दोलन के माध्यम से एकता बनाने के प्रयत्न हुए। इस समय भारतीयकरण की आवश्यकता निवृत्तिवादी विचारधारा के अन्वेषण से पूरी की गयी।''[५]

सभ्यता के उषा काल से ही नानात्व में एकत्व के अन्तर्यामी-सूत्र को ढूंढने का यहाँ प्रयास रहा है। हमारे राष्ट्रिय जीवन का एक बहुत बडा सत्य पृथिवी सूक्त के इस मन्त्र में सचाई के साथ स्वीकार किया गया है कि भाषा, जन और धर्म की दृष्टि से हमारा देश विभिन्नताओं का देश है।

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं
नानाधर्माणं पृथ्वी यथौकसम्।[६]

राष्ट्र-गत यह विभिन्नता उसकी अन्तर्गूढ़ एकता को देखते हुए भूषणभूत ही

है, दूषण नहीं। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार "यह मन्त्र भारत की राष्ट्रिय संस्कृति का संविधान-पत्र है। यह तथ्य केवल पुस्तकों का विषय नहीं रहा, अपितु लोक-जीवन के रोम-रोम में बिंध गया है।"[७]

वैदिक ऋषि साथ-साथ सोचने-विचारने और आचरण करने की जो बात करता है, जिस प्रकार पारिवारिक सौमनस्य का आशीर्वचन करता है, वह वास्तव में सम्पूर्ण राष्ट्र की दृढ़ता और अभ्युदय का मन्त्र है।

यद्यपि व्यावहारिक रूप में राजनीतिक एकता वहाँ सदैव से व्याप्त नहीं रही, परन्तु सैद्धान्तिक रूप में इसे विद्यमान देखा जा सकता है। प्राचीन भारत में राजनीतिक एकता और केन्द्रीकरण के आदर्श एवं संस्थाओं से लोग भली-भाँति परिचित थे। प्राचीन साहित्य में ऐसे शब्द प्राप्त हैं, जो समुन्द्रपर्यन्त सार्वभौम साम्राज्य की ओर संकेत करते हैं। यथा एकराष्ट्र, सम्राट्, सार्वभौम, राजाधिराज आदि। व्यावहारिक रूप में अनेक ऐसे सम्राटों के नाम मिलते हैं जिन्होंने सार्वभौम सम्राट बनने का प्रयास किया था। इनमें पौराणिक सम्राटों में नन्दों, मौर्यों, गुप्तों आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। धर्म ग्रन्थों में उल्लखित तीन यज्ञों—वाजपेय, राजसूय और अश्वमेध—को करने का अधिकार उस राजा को था, जो सब राजाओं को जीतकर राजाधिराज बन जाय। समुन्द्रपर्यन्त सारे भारत पर एकछत्र सर्वोच्चता के वैध क्षत्रिय आदर्श को पूरा करने के विषय में प्राचीन भारत की एक वास्तविक परम्परा इन यज्ञों के साथ संलग्न है। वैदिकोत्तर भारतीय इतिहास में अश्वमेध करने वालों की सूची में पुष्यमित्र, समुद्रगुप्त, कुमारगुप्त आदित्यसेन और पुलकेशी द्वितीय के नाम हैं। इससे विदित होता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य से पहले प्राचीन भारत के शासकों में सम्पूर्ण भारत किंवा बृहत्तर-भारत के एकछत्र शासन का आदर्श अवश्य ही था।

अशोक ने तो दक्षिण भारत के एक छोटे से प्रदेश को छोड़कर समूचे भारत को अपने झण्डे के नीचे करके राष्ट्र की अखण्डता को रेखांकित किया था। अशोक के पश्चात् समुद्रगुप्त और हर्षवर्धन ने भी बहुत कुछ वही किया जो अशोक ने किया था। गुप्त प्रशस्तियों में उल्लिखित "धरणिवध", "कृत्स्नपृथ्वीजय" शब्द समग्र राष्ट्र को एक शासन में करने के साक्षी हैं। "समग्रपृथ्वी विजय" अथवा "समत्य-शून्य उर्वी-उपयोग" का उद्देश्य आगे के नरेश सन्तत करते रहे हैं।[८] सम्पूर्ण भारत को एक सूत्र में बाँधने का प्रयास आगे मुगलों, मराठों और अंग्रेजों ने भी किया।

किसी भी राष्ट्र के लिए अनिवार्य राजनीतिक एकता के रहस्य को भारत राष्ट्र के सन्दर्भ में खोलते हुए डॉ० रामजी उपाध्याय कहते हैं कि अनेक शासकों से शासित होते हुए भी भारत पहले एक राष्ट्र था क्योंकि सभी शासकों द्वारा स्वीकृत

एक ही आर्य शासन पद्धति थी—"प्राचीन भारते राजा तु मनोः प्रतीक मात्र-मेवाऽऽसीत्। कस्मिंश्चिदपि काले भारतस्य विभिन्नभागेषु राजमाना बहवो राजान एकस्य मनोरनेकरूपाण्येवासन्। अस्मिन्प्रसंगे राज्ञो महत्त्वं न वर्तते। महत्त्वपूर्णं तदासीन् मनुमार्गेण प्रणिहिता राजनीतियाँ समस्ते भारते एकैवाभवत्।[९]

राष्ट्रों के इतिहास पर चिन्तन करने से स्पष्ट होता है कि धर्म की राष्ट्रियता के रूप-निर्धारण में प्रमुख-भूमिका रही है। भारतीय राष्ट्रवाद के सन्दर्भ में धर्म का यह कर्तृत्व अधिक सटीक लगता है। स्वामी विवेकानन्द के अनुसार—"प्राचीन भारत में बौद्धिकता एवं आध्यात्मिकता ही राष्ट्रिय जीवन की केन्द्र बिन्दु थी, राज-नीतिक गतिविधियाँ नहीं"। आज की भाँति अतीत में भी बौद्धिकता तथा आध्यात्मि-कता की तुलना में सामाजिक और राजनीतिक शक्तियाँ गौण रहीं। ऋषियों एवं आध्यात्मिक उपदेशकों के आश्रमों के इर्दगिर्द राष्ट्रिय-जीवन का प्रस्फुटन हुआ। इसलिए उपनिषदों में भी हमें—पांचालों, काश्यों (बनारसियों) मैथिलों एवं मगधियों आदि की समितियों का वर्णन अध्यात्म दर्शन तथा संस्कृति केन्द्र के रूप मे मिलता है। फिर ये ही केन्द्र क्रमशः आर्यों की विभिन्न शाखाओं की राजनीतिक महत्त्वा-कांक्षाओं के संगम बन गये।[१०] पहले ऐसी मान्यता थी कि राष्ट्र की रक्षा देश, धर्म कुल-धर्म और जाति-धर्म की रक्षा से ही होती है और राष्ट्र की सुरक्षा से ही धर्म की स्थापना भी सम्भव है।[११]

इस प्रकार हम देखते हैं कि "दो हजार से भी अधिक वर्ष पूर्व भारत में आज के किसी पाश्चात्यदेश जैसी राष्ट्रिय एकता का अस्तित्व तो नहीं था, परन्तु इसमें कोई शक नहीं कि भाषा, जाति और कुछ हद तक संस्कृति का अन्तर रहते हुए भी सामान्य धार्मिक एवं सांस्कृतिक एकता ने और एक ही सम्राट की प्रजा होने की चेतना ने एकता की ऐसी भावना को उद्‌बुद्ध किया होगा जिसे "राष्ट्रियता" शब्द से व्यक्त किया जा सकता है।[१२] भारत के एक देश होने की चेतना यहाँ के राष्ट्रिकों में आरम्भ से ही थी, और ऐसी चेतना ही राष्ट्रवाद का प्राथमिक आधार है। इसमें सन्देह नहीं कि आरम्भ में आर्य जाति का परिचय समस्त देश के साथ एक साथ नहीं हो गया था, तथापि मातृ-भूमि के साथ आत्मीयता की सामूहिक चेतना उनमें बहुत ठोस और सच्ची थी। जन्मभूमि में मातृ-भाव का सर्वप्रथम दर्शन ऋग्वेद के ऋषि को होता है और वह पृथ्वी-पुत्रों से कहता है—"उपसर्ग मातरं भूमिम्।"[१३] समय के साथ अनेक प्रकार से यह भावना निरन्तर बढ़ती गयी। मातृभूमि के प्रति असीम प्रेम की पहली झाँकी ऋग्वेद के नदी-सूक्त में मिलती है—

इमे मे गंगे यमुने सरस्वति शुतुद्रिस्तामें सचता परुष्ण्या
असिक्न्या मरुद्वृधे वितरस्तयार्जीकीये वृणुह्या सुवो मया॥[१४]

इस मंत्र को लेकर डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी का कहना है—"निश्चय ही पितृ-भूमि को एक अविभाज्य इकाई के रूप मे देखने के लिए इससे अधिक अच्छा और सरल, अधिक प्रभावोत्पादक और हृदय को प्रेरणा देने वाला सूत्र नहीं बनाया जा सकता। इससे मनश्चक्षु के सामने तुरन्त वैदिक भारत का सारा चित्र आ जाता है और इसके पीछे लोगों में अपने देश की आधारभूत एकता की भावना जगाने का कवि का जो प्रयोजन है, वह एक निराली रीति से पूरा हो जाता है।[१५]

उक्त वैदिक मंत्र की शैली में परवर्ती पौराणिक काल का राष्ट्र-चेता राष्ट्र के रस-स्रोतों का जिस भक्तिभाव से स्मरण करता है, उससे स्पृहणीय राष्ट्रिय चेतना का बोध होता है—

गंगे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।
नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु ॥[१६]

कुछ ऐसा ही भाव निम्नलिखित श्लोक से भी प्रकट होता है, जिसमें भारत के विभिन्न दिग्देशों में अवस्थित पर्वतों के समवेत स्मरण से एक सामान्य देश की धारणा पुष्ट होती है—

महेन्द्रोमलयः सह्यः शक्तिमानृक्षपर्वतः।
विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तात्र कुलपर्वताः ॥[१७]

इसी प्रकार निम्नलिखित श्लोक भी एक राष्ट्रिय एकक का बोध स्पष्ट करता है, जिसके सब भाग समान रूप से पवित्र और श्रद्धास्पद हैं—

अयोध्या मथुरा माया काशी कांची अवन्तिका।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायकाः ॥[१८]

वैदिक देव मण्डल में "पृथ्वी देवता" के लिए अलग से सूक्त है, जो तत्कालीन जनमानस की जन्मभूमि के प्रति अगाध श्रद्धा का प्रमाण है। पृथ्वी का स्तवमान पूर्णतः भारतीय गरिमा के अनुकूल है। यह भारतीय आर्य मनीषा ही सोच सकती है कि पृथ्वी को सत्य, तप, ब्रह्म और यज्ञादि धारण करते हैं।"[१९] हमारे पूर्व पुरुषों के मातृ-भूमि के प्रति अनुराग तरु का मूल बहुत गहराई में है। मातृ-भूमि के कण-कण में उनके पुरखों की तपश्चर्या की महक घुली हुई है, इसका उन्हें पूर्ण ज्ञान है।"[२०] उनकी वास-भूमि आर्य श्रेष्ठों से रक्षित है।[२१] पृथ्वी से राष्ट्र की कान्ति और बल की कामना की गई है,[२२] वह समृद्धिशालिनी जो है।[२३] उस पर प्राणिमात्र की जीवित-भूत कृषि की जाती है।[२४] वैदिक काल के ऋषि ने भूमि में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में मातृत्व की प्रतिष्ठा की है—"माताभूमिः पुत्रो हं पृथिव्याः"[२५] और स्वयं को उसके पुत्र के रूप में प्रस्तुत करते हुए अननुमेय रागानुबद्धता का परिचय दिया है—

सानो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः।[२६]

ऐसा शासन, जिसमें जनता की अधिक से अधिक सहभागिता होती है, राष्ट्रभाव की उर्वरभूमि प्रदान करता है। स्वाभाविक रूप से वहाँ के नागरिकों में अपने राष्ट्र के प्रति समर्पण भाव और हित-चिन्ता के भाव होते हैं। "भारत में सर्वप्रथम राज्य का जनतन्त्रीय रूप ही प्रचलित हुआ था। कालान्तर में जनतन्त्र में ही कुछ परिवर्तनों के साथ राजतन्त्र की उत्पत्ति हुई।"[२७] भारतीय "राजा" शब्द से ही जनतन्त्रीय भावना का अर्थस्फुरण होता है—जो प्रजा का रंजन करे वह राजा होता है। वैदिक वाङ्मय से लेकर महाभारत, पुराणों, बौद्धसाहित्य और कौटिलीय अर्थशास्त्र आदि में उल्लिखित "जनराज्य", "स्वराज्य" और "संघराज्य" आदि शब्दों से इतना तो विदित ही होता है कि प्राचीन भारतीय विद्वानों को जनतंत्र शासन के विभिन्न रूपों का ज्ञान था।

अथर्ववेद में कहा गया है कि ऋषियों ने जगत् के प्रारम्भ में समस्त जनता के कल्याण के लिए तप किया और उससे राष्ट्र का उद्भव हुआ।[२८] ऋषि लोग न केवल अपनी क्षेम-कामना से प्रत्युत सारे राष्ट्र के मंगल के लिए देवता का स्तवन करते हैं।[२९] जनता से निर्वाचित राजा का आधार भी जनता ही थी।[३०] राजा को भी जनता का पालन अपने शरीर के अंग-अवयवों की भाँति ही करना पड़ता था।[३१] प्रजानुरंजन राजा का इसलिए भी कर्त्तव्य था, जिससे वह राजपदच्युत न हो जाए।[३२] निम्नलिखित श्रुति संकल्प से तत्कालीन राष्ट्रिय भावना का स्पष्ट ज्ञान होता है—

"......वयं च सूरयः व्यचिष्ठे बहुपाय्ये, यतेमहि स्वराज्ये।[३३]"

राजा तो राष्ट्र की सुरक्षा और समृद्धि की देखभाल का धुर वहन करता ही था, वैदिक काल के बुद्धिजीवी का राजा पर अंकुश था। उसे "राष्ट्रगोपः" कहा गया है।[३४] वह निस्तन्द्र होकर राष्ट्र की समृद्धि में योग देता था।[३५] ब्रह्म, राजन्य और विश सबकी उन्नति में राष्ट्र की उन्नति है, इस सत्य से तत्कालीन भारतीय अवगत थे।[३६] आर्यों का जीवन आरम्भ से ही संघर्ष का जीवन रहा है। दाशराज्ञ-युद्ध, देवासुर-संग्राम, महाभारत जैसे समरों की भारत भूमि रहा है। वृत्र आदि अनेक अनार्य नेताओं से अपने गो, कृषि आदि की रक्षा करनी पड़ी है। ऐसी संघर्ष की परिस्थितियों ने आर्यों के भू-भाग के प्रति राग को जीवन्त और विकसित होते रहने की भूमि तैयार रखी है। वैदिक मंत्रों में उदात्त राष्ट्र-प्रेम का निदर्शन अनुपद पाकर कुछ विद्वानों का तो यहाँ तक कहना है कि वैदिक साहित्य में ही अधिक सच्चाई से भारतीय संस्कृति और देश-प्रेम की भावना दिखायी देती है।[३७]

राष्ट्र प्रेम की वैदिक भावना का स्वाभाविक विकास परवर्ती साहित्य में हुआ है। रामायण के चरित नायक "राम" आगे भारतीय राष्ट्रियता के नियामक

पुरुष के रूप में विख्यात हुए। राम और उनकी चरित्र-गाथा भारत के भारतत्व की सुरक्षा अद्यावधि करती रही है।

महाभारत में और स्फुट रूप में राष्ट्र की झाँकी प्रस्तुत की गई है। डॉ० ए० बी० एल० अवस्थी तो भीष्म-पर्व के निम्नलिखित श्लोक को भारत का राष्ट्र-गीत मानते हैं।[३८]

अत्रते कीर्त्तयिष्यामि वर्षं भारत, भारतम्।
प्रियमिन्द्रस्य देवस्य मनोर्वैवस्वतस्य च।।[३९]

महाभारत के इसी भाव को पद्मपुराण में इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

सर्वेषमेव भूतानां प्रियं भारतमुत्तमम्।[४०]

मनुस्मृति में एक श्लोक में पितृ-भूमि के प्रति अनुराग उच्च भावुकता के स्तर पर पहुँच गया है, जिसमें ब्रह्मावर्त देश की सीमाएँ बतायी गयी हैं, और उसे देवताओं द्वारा निर्मित देश बताया गया है।[४१] "मनुस्मृति का यह सन्दर्भ काव्य का एक रूपक मात्र नहीं है, बल्कि सारे देश में व्याप्त और गहराई से अनुभव की जाने वाली राष्ट्रिय भावना की अभिव्यक्ति है। मातृ-भूमि को उसके सन्तान सब जगह स्वर्ग से भी अधिक पवित्र और स्वयं देवताओं के निवास के योग्य समझते हैं।"[४२]

पौराणिक साहित्य तक आते-आते राष्ट्रभाव स्पष्ट से स्पष्टतर होता गया है। पुराणों में भारतवर्ष को एक पूरी इकाई का स्वरूप मिल गया है—

उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।
वर्षं तद्भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः।।[४३]

विष्णुपुराण का यह कथन शब्दान्तर से अनेक पुराणों में दुहराया गया है। इस प्रकार पौनःपुन्येन भारत के सभी सीमान्तों पर दृष्टि चली जाने का अभिप्राय यही है कि तत्कालीन जीवन में भारतभूमि के प्रति प्यार सहज और अतीव गहरा हो चला था। सामान्य जनों में भी अपने निवास क्षेत्र की परिधि से बाहर देश की सीमा का ज्ञान और उसके प्रति ममत्वपूर्ण आदरणीय बुद्धि थी। इसका उदाहरण संध्योपासन आदि के साथ नित्य पाठ में प्रयुज्यमान संकल्प मंत्र है।[४४] इसमें देश की भौगोलिक और सांस्कृतिक एकता की राष्ट्र-व्यापी स्वीकृति पायी जाती है।[४५]

विष्णु पुराण में कहा गया है कि भारत-भूमि पर जन्म सहस्रों जीवनों में संचित आत्मिक पुण्य का अन्तिम पुरस्कार है।[४६] क्योंकि इस पवित्र भूमि पर जन्म लेने वाले को जन्म-मरण के अनवरत चक्र से छूटने का अधिक अवसर है। इसीलिए भारत-भूमि पर क्षणिक-वास भी वरेण्य माना गया है —

कल्पायुषां स्थानजयात् पुनर्भवात् क्षणायुषां भारत-भू जयो वरम् ।
क्षणेन मर्त्येन कृतं मनस्विनः संन्यस्य संयान्त्यभयं पदं हरेः ।।[४७]

भारत सर्व कर्म फल प्रद भूमि है ।[४८] इसीलिए देवता भारत की प्रशंसा करते नहीं अघाते[४९] । देवता भी भारत में जन्म पाने के लिए लालायित रहते हैं—

गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारत-भूमिभागे ।
स्वर्गापवर्गास्पदहेतुभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ।।[५०]

श्रीमद्भागवत पुराण की रचना दक्षिण भारत में हुई थी, किन्तु उस पुराण में भी यही भाव और मंजुल रूप में दुहराया गया है—

"अहो अमीषामविकारिशोभनं प्रसन्न एषा स्विदुतस्वयं हरिः ।
यैर्जन्मलब्धं नृषु भारताजिरे मुकुन्द सेवोपयिकं स्पृहा हि नः ।।"[५१]

जाति धर्मों की भिन्नता ने कभी भी भारत की एक राष्ट्रिय अनुभूति को दुष्प्रभावित नहीं किया है, प्रत्युत एक विशिष्टता बनकर रह गयी है । भागवतकार के शब्द इसी नानात्व में एकत्व की ओर संकेत करते हैं—

भारतेषुस्त्रियः पुंसो नाना वर्णाः प्रकीर्तिताः ।
नाना देवार्चने युक्ता नाना कर्माणि कुर्वते ।।[५२]

वैदिक "एक-वाद" की तत्त्व-दृष्टि आज तक साहित्य में समोयी हुई है । राष्ट्र की दार्शनिक एकता निम्नलिखित पंक्तियों से व्यक्त होती है—

यं शैवा समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाण-पटवः कर्त्तेति नैयायिकाः ।
अर्हन्नित्यथ जैन शासनरताः कर्मेति मीमांसकाः
सोऽयं वो विदधातु वांछितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः ।ः[५३]

इस प्रकार यदि प्रसिद्ध इतिहासविद् डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी के शब्दों का आश्रय लिया जाय तो कहना होगा कि प्राचीन भारतीय साहित्य में "जन्म-भूमि को स्वयं मुक्ति का एक महत्त्वपूर्ण कारण माना गया है । हम नहीं कह सकते कि संसार के किसी अन्य साहित्य में देश-प्रेम की ऐसी अभिव्यक्ति मिलती है जिसमें ठोस भौतिक पृथिवी हृदय की उपासना के योग्य आध्यात्मिक तत्त्व का दिव्य रूप ग्रहण कर लेती है क्योंकि ये अभिव्यक्तियाँ हिन्दू मानस की विशेषता है । वह ही मातृभूमि को अपनी विस्तृत देवमाला के देवताओं में एक प्रतिष्ठित स्थान देने की बात सोच सकता है । इस प्रकार देश प्रेम ने हिन्दू-विचार धारा के अनोखे आदर्शमय आध्यात्मिक रूप देने वाले अपने प्रक्रम से एक विशिष्ट रूप ग्रहण करके भारतीय वेश धारण कर लिया है ।[५४]

इस प्रकार प्राचीन भारतीय वाङ्मय के आलोकन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'भारत' प्राचीन समय से ही एक राष्ट्र रहा है और यहाँ के लोगों में एतद्विषयिणी चेतना भी रही है। देश की भौगोलिक सीमाएँ फैलती सिमटती रही हैं और अन्तरंग में नाना राज्य भी बनते-बिगड़ते और उठते-गिरते रहे हैं लेकिन उसकी एकता राजनीतिक अनेकता में होती आयी है। हाँ, यह अवश्य रहा है कि भारत की राष्ट्रिय भावना अपनी प्रकृति में विशिष्ट रही है। यहाँ देश की धारणा राज्य केन्द्रित नहीं रही है। उसके प्रति मातृ-भाव और तीर्थ-भाव जगाया गया है। यहाँ श्रेष्ठता का भाव धर्मोन्मुख है, लोकोन्मुख नहीं है। सन्त-साधु यहाँ आदर और पूजा के केन्द्र रहे हैं, राजा विजेता उतने नहीं। कर्म की प्रखरता और प्रबलता से भिन्न, भाव की पवित्रता और शुद्धता में भारतीय रुचि विशेष रही है। इन उदात्त भावों के रहते, संस्थाएँ जिनके द्वारा लोक-जीवन को व्यवस्थित और संतुलित रखा गया है, सत्ता प्रधान न होकर भाव प्रधान रही हैं।[५५] प्रेम और सार्वभौमिकता की भावना भारतीय विचारधारा का अंश होकर रही है और इस प्रकार भारतीय राष्ट्रीयता का विकास उसकी अन्तर्राष्ट्रिय प्रकृति में हुआ है।

सन्दर्भ

१. श्री जैनेन्द्र कुमार—राष्ट्र और राज्य पृ० ५६
२. पं० दीनदयाल उपाध्याय—राष्ट्र चिन्तन पृ० १२६-१३०
३. डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल—भारत की मौलिक एकता, पृ० १९५
४. वही, पृ० १८
५. श्री रामधारी सिंह दिनकर—संस्कृति के चार अध्याय, पृ० ३३१
६. अथर्ववेद—१२/१/४५
७. डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल—भारत की मौलिक एकता, पृ० १२५
८. श्री उदयनारायण राय—गुप्त सम्राट और उनका काल, आरम्भिका, पृ० १०
९. डॉ० रामजी उपाध्याय—भारतस्य सांस्कृतिक निधिः, आमुखे, पृ० ११
१०. स्वामी विवेकानन्द—भारत का ऐतिहासिक क्रम विकास एवं अन्य निबन्ध, पृ० ८
११. महाभारत—शान्तिपर्व (सम्पूर्ण)
१२. डॉ० एस० आबिद हुसैन,—भारत की राष्ट्रिय संस्कृति, पृ० २५ (अनुवाद—श्री महेन्द्र चतुर्वेदी)
१३. ऋग्वेद—१०/१८/१०, १०/१८/११
१४. वही, १०/७५/५
१५. डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी—हिन्दू संस्कृति में राष्ट्रवाद, पृ० ४९-५०

१६. आहनिक कर्म्मसूत्रावली, संकलयिता पं० शिवदत्त शर्मा, पृ० ३४

१७. विष्णुपुराण २/३/३

१८. द्रष्टव्य—श्री तारानाथ तर्क वाचस्पति भट्टाचार्य—वाचस्पत्यम्, प्रथमो भाग, पृ० ३४७

१६. सत्यं वृहदृतमुग्रं दीक्षातपो ब्रह्मयज्ञः पृथिवीं धारयन्ति । —अथर्ववेद १२/१/१

२०. यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन् :
गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा समं वर्च पृथिवी नो दधातु ।।—अथर्ववेद १२/१/५

२१. यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम् ।
सा नो मधुप्रिय दुहामयो उक्षतुवर्चसा ।। —अथर्ववेद १२/१/७

२२. विश्वम्भरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी ।
वैश्वानरं विभ्रती भूमिरग्निमिद्रशषभा द्रविणे नो दधातु ।। —वही १२/१/६

२३. सानोभूर्मिस्त्विषं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे । —वही १२/१/८

२४. यस्यामन्नं कृष्टयः संवभूवुः । —वही

२५. अथर्ववेद—१२/१/२

२६. वही १२/१/१०

२७. डॉ० देवीदत्त शुक्ल—प्राचीन भारत में जनतंत्र, पृ० २२६

२८. अथर्ववेद १६/४१/१

२६. ऋग्वेद १०/१७३/५

३०. विशि राजा प्रतिष्ठितः ।—यजुर्वेद २०/६

३१. पृष्ठीर्मे राष्ट्रमुदरमसौ ग्रीवाश्च श्रोणी ।—वही २०/८

३२. विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रम् अधिभ्रशत् ।—ऋग्वेद १०/१७३/१

३३. ऋग्वेद ५/६६/६

३४. विद्वन्ब्राह्मणोराष्ट्रगोपः पुरोहितः ।—ऐतरेय ब्राह्मणम् ५/२५/२७

३५. वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः ।—यजुर्वेद ६/२३

३६. यजुर्वेद २२/२२

३७. समरीज ऑफ पेपरस, ट्वेन्टी सिक्स्थ इण्टरनेशनल कांग्रेस ऑफ ओरियण्टलिस्ट्स, न्यू डेलही, १६६४, पृ० १४३

३८. डॉ० ए० बी० एल० अवस्थी—इण्डियन नैशनलिज्म, इन्ट्रोडक्शन, पृ० १११

३६. महाभारत—भीष्मपर्व, ६/५

४०. वही

४१. मनुस्मृति २/१७

४२. डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी—हिन्दू संस्कृति में राष्ट्रवाद, पृ० २६,२८

४३. विष्णुपुराण २।३।१
४४. "हरिः ॐतत्सदद्य भगवतो पुराणपुरुषोत्तमस्य श्री विष्णोराज्ञया प्रवर्तमानस्य श्री ब्रह्मणो द्वितीयपरार्धे श्रीश्वेतवराहकल्पे वैवस्वतमन्वन्तरे अष्टाविंशतितमे कलियुगे कलिप्रथमचरणे जम्बूदीपे भारतवर्षे भरतखण्डे आर्यावर्तेकदेशे पुण्यप्रदेशे···।"—विष्णु पुराण
४५. डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल—भारत की मौलिक एकता, पृ० १८८
४६. अत्र जन्म सहस्राणां सहस्रैरपिसत्तम् ।
कदाचिल्लभते जन्तुर्मानुष्यं पुण्यसंचयात् ॥ —विष्णु पुराण २/३/२५
४७. श्रीमद्भागवत महापुराण ५/१६/२३
४८. ज्ञेयं तद्भारतवर्षं सर्वकर्मफलप्रदम् । —बृहन्नारदीय पुराण ३/४६
४९. महाभारत—अनुशासन पर्व; पृ० ५६६४
इसी प्रकार—अयं देशः पुनः पूतः सर्वतो मुनि सत्तम । —वराहपुराण ७/८
देशोऽयमस्ति परमः पवित्रः । नीलमत्त पुराण, छन्द २४१
५०. विष्णु पुराण २/३/२४
५१. श्रीमद्भागवत पुराण ५/१६/२१
५२. वही ५/६/१३
५३. दामोदर मिश्र—हनुमन्नाटकम् १/३
५४. डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी—हिन्दू संस्कृति में राष्ट्रवाद, पृ० २६/३०.
५५. श्री जैनेन्द्र कुमार—साहित्य और संस्कृति, पृ० १८८-१८६

□

संस्कृत साहित्य व भारतीय समाज—राष्ट्रीय ऐकात्म्य का स्वरूप : मृच्छकटिक व मुद्रा-राक्षस के विशेष सन्दर्भों में

शर्मिला चटर्जी

राष्ट्रीय ऐकात्म्य की खोज तथा संस्कृत साहित्य व उसमें वर्णित समाज से उसे जोड़ने से पहले 'राष्ट्र' के व्यापक स्वरूप की अवधारणा आवश्यक है। 'अर्थशास्त्र' व 'मनुस्मृति' में उल्लिखित राष्ट्र के स्वरूप में पर्याप्त भेद दिखाई देता है। कौटिल्य 'राष्ट्र' शब्द विशेष का प्रयोग विभिन्न करों के लिए करते हैं। समाहर्ता[1] तथा कोष्ठागार-अध्यक्ष[2] के लिए 'राष्ट्र' की जानकारी रखना आवश्यक है। मनुस्मृति में राष्ट्र शब्द को राज्य का पर्यायवाची माना गया है।[3] सप्तम अध्याय में सर्वत्र 'राष्ट्र' राज्य के अर्थ में अपेक्षित है। इसका एक कारण यह हो सकता है कि प्रारम्भ में समाज समुदायों में बँटा था तथा एक समुदाय एक राज्य का प्रतिनिधित्व करता था। आधुनिक सन्दर्भों में राष्ट्र का अँग्रेजी पर्याय 'नेशन' शब्द लेटिन भाषा के 'नेशियो' से निकला है जिससे जन्म अथवा जाति का बोध होता है। उत्पत्ति की दृष्टि से राष्ट्र शब्द का अर्थ एक जैसे जनसमुदाय से है जिसकी उत्पत्ति एक ही जाति से हुई हो, किन्तु राजनीतिशास्त्र में या व्यवहार में समान-जाति से उत्पत्ति ही राष्ट्र का द्योतक नहीं है। फ्रांस के लेखक प्रादियर फोदेरे तथा केल्वो ने भी प्रजाति, रीति-रिवाज तथा धर्म की समानता को राष्ट्र माना है। यदि जाति और भाषा पर ही बल दिया जाय तो विश्व में अनेकों देश हैं, जिनमें सबसे पहला उदाहरण भारत है (बेल्जियम, स्विटजरलैण्ड के अतिरिक्त) जहाँ अनेकों भाषाएँ बोली जाती हैं और इस प्रकार राष्ट्र की परिभाषा पर यह पूरा नहीं उतरेगा। अतः आम तौर से 'राष्ट्र' शब्द का प्रयोग राजनीतिक संगठन की दृष्टि से किया जाता है। तात्पर्य यह है कि राष्ट्र केवल ऐसी संस्था नहीं है जो सांस्कृतिक अथवा आध्यात्मिक बन्धनों से बँधी

हो, वरन् वह राजनीतिक रूप में संगठित समुदाय भी है, अतः राष्ट्र राज्य भी है। राष्ट्र के इसी स्वरूप को लेकर यहाँ नाटकों का अध्ययन किया गया है। राष्ट्र के निर्माण के लिए एकता की भावना का होना अनिवार्य है। यह एकता की भावना ऐतिहासिक एवं अन्य समानताओं के फलस्वरूप भी हो सकती है अथवा किसी एक समानता के कारण भी हो सकती है। वही मानव समाज में राष्ट्र कहलाता है, जो उपर्युक्त समानताओं के कारण एकता के सूत्र में बँधा हो और अन्य राष्ट्रों से पृथकता का अनुभव करता हो।

साहित्य को समाज का दर्पण कहा गया है। विशेष रूप से रूपक-प्रकार नाटक को छोड़कर अन्य नाट्य विधाओं में प्रायः हमें तत्कालीन समाज के दर्शन हो जाते हैं, क्योंकि यहाँ कथा कवि-कल्पित होती है। कुछ नाटक अपवाद स्वरूप भी मिलते हैं जिसमें कथा पारम्परिक (ख्यात) होते हुए भी उनकी प्रासंगिकता सदैव बनी रहती है।

शूद्रक-विरचित 'मृच्छकटिक' में हमें एक ऐसा समाज प्राप्त होता है जो किसी भी समय का हो सकता है; किसी भी स्थान अथवा देश का हो सकता है। इस दृष्टि से हम इसके पात्रों को श्री आर्थर राइड के शब्दों में 'विश्वजनीन' (cosmopolitan) कह सकते हैं। मृच्छकटिक, नाट्य शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार यह दस अंक का प्रकरण है। नायक चारुदत्त तथा वसन्तसेना की प्रेमकथा वर्णित है जिसके समानान्तर आर्यक की राज्यक्रान्ति की कथा चल रही है। प्रकरण के अन्त में वसन्तसेना को कुलवधू पद की प्राप्ति तथा आर्यक को राजसिंहासन की प्राप्ति होती है। यद्यपि राज्य-क्रान्ति की कथा इसमें प्रासंगिक है किन्तु मुख्य कथा इसी पर आश्रित है तथा प्रस्तुत पत्र में समाज और राष्ट्रीय एकता के परिप्रेक्ष्य में हम इसे मुख्य कथा मान कर चलेंगे। यहाँ हम राज्य-व्याप्त क्रान्ति को राष्ट्र-क्रान्ति मान कर चलेंगे, क्योंकि यहाँ राज्य को राष्ट्र का स्वरूप माना गया है। पालक को सिंहासनच्युत करने से सम्बन्धित राज्य-क्रान्ति में समाज के हर वर्ग का व्यक्ति जुड़ा है।

मृच्छकटिक में वर्णित समाज पर हम एक दृष्टिपात करें। राजा पालक अत्याचारी है। उसका श्यालक शकार उसके सम्बन्धों का लाभ उठा कर नागरिकों पर अत्याचार करता है। उसकी दृष्टि मे ब्राह्मण, विद्वान्, स्त्री-पुरुष, भिक्षु, न्यायाधीश किसी का सम्मान नहीं। स्त्री-हत्या में वह नहीं हिचकता, बौद्ध भिक्षुओं को नाक वेध कर छोड़ देता है, न्याय को खरीदने का पक्षधर है तथा झूठ बोलने, चेट आदि पर अत्याचार करने में वह दक्ष है। वेश्या वसन्तसेना पर वह अनुरक्त है तथा चारुदत्त से उसके प्रेम के कारण उन दोनों का शत्रु भी है। समाज में दरिद्रता व्याप्त है, रोजगार के अवसर कम हैं। अतीत का धनी चारुदत्त अपनी दानशीलता के कारण अब निर्धन है। उसके आश्रित परिचारक आदि अब धन के स्रोत के सूख जाने पर

दूसरे व्यवसायों में लग जाते हैं। संवाहक कुछ और न कर पाने पर जुआ ही खेलने लगता है। द्यूतक्रीड़ा के कठोर नियम हैं। पैसा न चुका पाने पर कठोर सजा का प्रावधान है (अंक २, श्लोक १२), किन्तु फिर भी दर्दुरक आदि अपना सर्वस्व लुटा कर भी इसमें आसक्त हैं। पैसे के लिए लोग चोरी भी करते हैं, किन्तु एक विज्ञान के रूप में इसके विषय में ज्ञान रखते हैं। सेना में निम्न जाति के नाई, चर्मकार आदि अधिकारीगण हैं। जातिवाद का बोलबाला है। बौद्धधर्म का प्रसार है, किन्तु प्रतिष्ठा नहीं। न्याय-व्यवस्था शक्ति आश्रित है। साक्ष्य आदि की दृष्टि से निर्णय के हेतु अर्थशास्त्र तथा मनुस्मृति समर्थित है, किन्तु सर्वोपरि निर्णय राजा का है जो शास्त्र-विरोधी निर्णय देता है। शकुन, अपशकुन, पूजा, बलि, भविष्यवाणी आदि पर लोगों का सहज विश्वास है। वेश्या समाज का अभिन्न अंग है। उसकी उपस्थिति गृहस्थ के अन्त:पुर को छोड़ कर सब जगह है। कुलवधू का अत्यन्त सम्मान है। क्रीत-दासत्व की प्रथा है। शकार के रूप में सर्वत्र अव्यवस्था तथा अराजकता फैली है।

ऐसे समाज में अत्याचारों से उत्पीड़ित प्रजा के बीच आशा की किरण है आर्यक जिसके राजा बनने की भविष्यवाणी सिद्धों ने की है। यदि हम "गोपाल-दारक" का अर्थ गोपालक पुत्र (ग्वाले का पुत्र) लें तो राष्ट्र-क्रान्ति के स्वर निम्नवर्ग से फूटते सुनाई देते हैं। राजा पालक भविष्यवाणी से भयभीत हो आर्यक को बन्दी बना कर इस क्रान्ति को उग्र रूप ही प्रदान करता है। समाज का मध्यम वर्ग विशेष रूप से क्रान्ति में महत्त्वपूर्ण योग देता है। एक नये राष्ट्र (राजा) की स्थापना की भावना उन्हें ऐकात्म्य के सूत्र से जोड़े है जो अत्याचारी शासक की स्वेच्छाचारिता के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई। नाटक के पात्रों की राष्ट्रीय-भावना जो क्रान्ति में सहयोग से स्पष्ट है, उसकी ओर हम यहाँ ध्यान देंगे।

मुख्य पात्र चारुदत्त का प्रत्यक्ष रूप से इस क्रान्ति में कोई योगदान नहीं है, किन्तु आर्यक को जीवन-दान देकर उसने इस क्रान्ति को सफल होने में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। यद्यपि राष्ट्रीयता अथवा समाज में व्याप्त अनाचार के प्रति वह विशेष सजग नहीं है। सहज शरणागतवत्सल चित्त शरण में आये आर्यक की प्राण देकर भी रक्षा करना चाहता है—

विधिनैवोपनीतस्त्वं चक्षुर्विषयमागत: ।
अपि प्राणानहं जह्यां न तु त्वां शरणागतम् ।।६।७।।

वह जानता है कि तुरन्त बेड़ी हटने के कारण वह भूमि पर चलने में समर्थ नहीं है, इस कारण उसी गाड़ी में उसे आगे जाने की आज्ञा देता है, क्योंकि मार्ग में भी राजपुरुषों का आवागमन है (अंक ७)। वह इतना जानता है कि यह राजा के विरुद्ध कार्य है अत: बेड़ी आदि को कुएँ में फेंक देता है, ताकि राजा के चर उसे न

देख पायें। इस प्रकार आर्यक को अभयदान देकर अपना जीवन दाँव पर लगा देता है। प्रकरण के अन्त में उसके द्वारा कहे गये भरत-वाक्य में राज्य में सर्वत्र सुख शान्ति की कल्पना की गई है जो धर्मनिष्ठ राजा के शासन करने से ही सम्भव है।

राष्ट्र क्रान्ति का सूत्रधार शर्विलक है। मदनिका तथा उसकी प्रेमकथा नाटक में पताकास्थानक है। शर्विलक के सूत्र से जुड़े नाटक के अन्यान्य पात्र इस क्रान्ति में सहयोग देते हैं। दर्दुरक जो एक पेशेवर जुआरी है, प्रधान-सभिक माथुर से झगड़ा कर अपने मित्र शर्विलक का अनुसरण करता है। राज्य-सेना का अधिकारी चन्दनक आर्यक के रक्षार्थ अपने सहयोगी वीरक से शत्रुता मोल लेता है और अन्त में नौकरी छोड़ कर मित्र शर्विलक की क्रान्ति में सहयोग देने चला जाता है। शर्विलक के चरित्र पर यदि हम दृष्टिपात करें तो कई विरोधाभास दिखाई देते हैं। जाति से वह ब्राह्मण है, वेश्या के प्रेम में पड़ कर वह उसकी प्राप्ति हेतु चोरी करता है। फिर क्रान्ति की सफलता के लिए सद्यःपरिणीता पत्नी को त्याग कर चल देता है। राष्ट्र की मुक्ति के लिए किये गये उसके प्रयास सराहनीय हैं, उसकी राष्ट्र-भावना प्रशंसनीय है।

राष्ट्र क्रान्ति के प्रति लोगों में विरोधभाव भी दिखाई देता है। एक से समाज में रहते हुए भी लोगों की मनोवृत्ति में पर्याप्त अन्तर है, जो हर युग में होता है।[४] वीरक तथा चन्दनक एक ही स्तर के व्यक्ति हैं (निम्न श्रेणी-क्रमशः नाई व चर्मकार)। दोनों राजा की सेना (पुलिस ?) के अधिकारी-गण हैं, किन्तु दोनों में पर्याप्त अन्तर है। चन्दनक मन से राज्य की शासन-व्यवस्था के विरुद्ध है जिसके फलस्वरूप आर्यक को देखते ही उसे बचाने हेतु अपने पद से विद्रोह कर वीरक से झगड़ा (कर्णाटक-कलह) करता है। दूसरी ओर वीरक ज्यादा चौकस और राजा का विश्वस्त बनना चाहता है। अपने अपमान का बदला लेने वह न्यायालय में चारुदत्त के विरुद्ध झूठी गवाही देकर उसका महान् अहित करता है। शकार का विश्वस्त विट उसकी मूर्खताओं एवं दुष्कर्मों को बाध्य होकर सहता रहता है (पेट के लिए ?) किन्तु अपनी सहज मानवता का परिचय वह देता रहता है, विशेष रूप से वसन्तसेना के प्रसंग में। किन्तु जब अपने अथक प्रयासों के बाद भी वह वसन्तसेना की हत्या से उसे विरत नहीं कर पाता तब विद्रोह कर उसे छोड़ कर शर्विलक के पास चला जाता है। दर्दुरक जैसा धन-मानहीन व्यक्ति भी राष्ट्र-क्रान्ति में योगदान देना श्रेयस्कर समझता है जबकि दूसरी ओर संवाहक स्थितियों से पलायन कर बौद्ध भिक्षु बन जाता है।

इस प्रकार ऐसे समाज में जहाँ चारों ओर दारिद्र्य, अनाचार तथा शक्ति के दुरुपयोग का साम्राज्य है, राष्ट्रीय क्रान्ति द्वारा एकता का ऐसा अपूर्व चित्र उभरता

है जो साधारण स्तर के व्यक्तियों के अथक प्रयासों से सम्भव हुआ। ये साधारण व्यक्ति निश्चित रूप से जन-साधारण के प्रतीक हैं।

राष्ट्रीय ऐकात्म्य भाव से सम्बन्धित दूसरा नाटक विशाखदत्त की अनुपम कृति "मुद्राराक्षस" है। राष्ट्रीयता की भावना यहाँ सर्वोपरि है। एक तरफ चाणक्य है जो राष्ट्र को सुदृढ़ व निष्कंटक बनाने में उद्योगी है, दूसरी ओर राक्षस अपने स्वामी के हृतराज्य के पुनरुद्धार हेतु एक सुसंगठित राष्ट्र से निरन्तर विरोध करता रहता है। राक्षस की राष्ट्रीयता की भावना नन्द-वंश के प्रति उसके समर्पण से सिद्ध है जिससे चाणक्य भी अभिभूत है। यहाँ नन्दवंश एक राष्ट्र का प्रतिनिधि है जो नष्ट हो चुका है, किन्तु जिसके पुनरुद्धार के लिए कुछ व्यक्ति बद्ध-परिकर हैं।

मुद्राराक्षस की कथावस्तु में हमें तत्काकीन राजनीति के दाँव-पेचों का विस्तृत परिचय मिलता है। यह एक राजनैतिक नाटक है, अतएव जन-सामान्य के मनोभावों की छवि यहाँ हमें नहीं मिलती। इसमें वर्णित राजनैतिक परिवेश मृच्छकटिक से पूर्णतया भिन्न है। वहाँ जन-साधारण ने एक अत्याचारी राजा को शासनच्युत किया था। यहाँ एक सुप्रतिष्ठित राष्ट्र है जिसे राक्षस अपने सीमित साधनों से ध्वस्त करना चाहता है। यहाँ यदि हम राष्ट्र को और संकीर्ण अर्थों में ग्रहण करें और कौटिल्य की परिभाषा में—"राजा राज्यमिति प्रकृति संक्षेपः" कह कर राजा को राष्ट्र मान लें तो इस सन्दर्भ में राक्षस की राष्ट्रीय एकात्म की भावना को समझना सहज होगा।

चाणक्य, जिसने एक सुप्रतिष्ठित नन्द साम्राज्य का नाश कर चन्द्रगुप्त का राज्याभिषेक कर उसकी राज्यलक्ष्मी को स्थिर किया, राक्षस को वश में लाये बिना नन्दोन्मूलन को पूर्ण नहीं मानता। नन्दवंश के किसी भी अंश के जीवित रहते वह (राक्षस) चन्द्रगुप्त का मन्त्री नहीं बन सकता। इसी कारण तपोवन में भी सर्वार्थसिद्धि की हत्या करवानी पड़ती है (प्रथम अंक)। चाणक्य उसकी स्वामिभक्ति से गद्गद् है—

> ऐश्वर्यादनपेतमीश्वरमयं लोकोऽर्थतः सेवते,
> तं गच्छन्त्यनु ये विपत्तिषु पुनस्ते तत्प्रतिष्ठाशया।
> भर्तुर्ये प्रलयेऽपि पूर्वसुकृतासंगेन निःसंगया,
> भक्त्या कार्यधुरां वहन्ति बहवस्ते दुर्लभास्त्वादृशाः॥

वह राक्षस द्वारा चन्द्रगुप्त का मन्त्रीत्व ग्रहण उसका अनुग्रह मानता है क्योंकि—

> अप्राज्ञेन च कातरेण च गुणः स्यादभक्तियुक्तेन कः,
> प्रज्ञाविक्रमशालिनोऽपि हि भवेत् किं भक्तिहीनात् फलम्।

प्रज्ञाविक्रमभक्तय: समुदिता येषां गुणा भूतये,
ते भृत्या नृपते: कलत्रमितरे सम्पत्सु चापत्सु च ।।१५।।

इस प्रकार की स्वामिभक्ति की भावना मनुष्यों में विरल ही है।

चाणक्य एक सार्वभौम राष्ट्र की कामना करता है। खण्डों में विभाजित राष्ट्र उसे स्वीकार्य नहीं। यही कारण था कि उसने पर्वतेश्वर की हत्या करवा कर चन्द्रगुप्त को एक छत्र राज्य दिया। राक्षस को जीतने का एक यह भी उद्देश्य है कि एक अन्य स्वतन्त्र राष्ट्र अस्तित्व में न आ जाये। राष्ट्र की एकता उसका मूल लक्ष्य है।

राक्षस ने मलयकेतु का आनुगत्य सिर्फ इसलिए स्वीकार किया है ताकि नन्दों के विनाश का बदला ले सके उसकी स्वामिभक्ति अतुलनीय है—

पृथिव्यां स्वामिभक्तिनां प्रमाणे परम स्थित: ।१२।२२।।

नन्दों के प्रति उसका आनुगत्य तथा एकनिष्ठता राष्ट्र के प्रति उसकी एकनिष्ठता की भावना है। उसने जिस प्रकार राज्योद्धार के लिए अपना सर्वस्व दांव पर लगा दिया है, वह सोचता है कि उसके मित्र भी ऐसा ही करें। इसी कारण जब शकटदास द्वारा लिखे पत्र का प्रमाण मिल जाता है तब वह मन में उसे धिक्कारता है कि धन-लाभ तथा पति-पुत्र के रक्षार्थ स्वामिभक्ति को भुला दिया।[1] अन्त में जब चन्दनदास की प्राणरक्षा के बदले में चन्द्रगुप्त के मन्त्रीत्व ग्रहण को स्वीकारने की बात आती है तब वह ऊहापोह में पड़ जाता है, क्योंकि स्वामिभक्ति उसे ऐसा करने से रोकती है—

नन्दस्नेहकणा: स्पृशन्ति हृदयं भृत्योऽस्मि तद्विद्विषां,
ये सिक्ता: स्वकेन पाणिपयसाच्छेद्यास्त एव द्रुमा: ?
शस्त्रं मित्रशरीररक्षणकृते व्यापारणीयं मया,
कार्याणां गतयो विधेरपि न यान्त्यालोचनगोचरम् ।।१६।७।।

राष्ट्रभक्ति का दूसरा सुन्दर उदाहरण चन्दनदास का चरित्र है। राक्षस के स्त्रीपुत्रादि को उसने अपने घर में आश्रय दिया है। चाणक्य द्वारा सब प्रकार का भय दिखाये जाने पर भी वह उसका परिवार राजा को सौंपने को तैयार नहीं होता। चाणक्य भी उसकी प्रशंसा करता है—

साधु चन्दनदास साधु।
सुलभेष्वर्थलाभेषु परिसंवेदने जन: ।
क इदं दुष्करं कुर्यादिदानीं शिविना बिना ।।

राक्षस भी उसे शिवि की उपमा देता है (षष्ठ अंक, श्लोक १८)

राष्ट्रभावना के अतिरिक्त एक अन्य विशेष भाव यहाँ हमें परिलक्षित होता है, वह है मित्रता का। राक्षस नन्दों के विनाश के बाद भी इतने समय तक मात्र मित्रता के कारण ही अपनी नीतियों का संचालन करता रहा। चन्दनदास तथा राक्षस का मित्र-प्रेम अनुपम है। चन्दनदास के परिवार सहित पकड़ लिये जाने की आज्ञा पर भी वह मन ही मन प्रसन्न है क्योंकि "दिष्ट्यामित्रकार्येण मे विनाशो न पुरुषदोषेण" (प्रथम अंक)। अपने वध के समय भी वह अपनी पत्नी को आश्वासन देता है कि मित्र के कारण उसका विनाश हो रहा है, अतएव वह हर्ष मनाये—"अन्यच्च मित्रकार्येण मे विनाशो नायुक्तकार्येण तत्किं हर्षस्थानेऽपि रुद्यते" (सप्तम अंक)। चाणक्य इसी मित्रता के कारण राक्षस को वश में करने का उपाय सोचता है, क्योंकि राक्षस को भी चन्दनदास के प्राण इतने ही प्रिय होंगे जितने चन्दनदास को राक्षस के हैं।[६] राक्षस का हृदय मित्र-स्नेह का पक्षपाती है। यही कारण है कि सब ओर से निष्फल होकर भी वह आत्महत्या का निश्चय त्याग मित्र चन्दनदास को बचाने के लिए चाणक्य के आगे आत्म-समर्पण कर देता है।

एक राष्ट्र की सुस्थिति उसके मन्त्री तथा कर्मचारियों की कर्त्तव्यनिष्ठता पर निर्भर करती है। अहितुण्डिक राष्ट्र की सेवा करने वाले (राज सेवक) की परिभाषा इस प्रकार देता है—

जानन्ति तन्त्रयुक्तिं यथास्थितं मण्डलमभिलिखन्ति।
ये मन्त्ररक्षणपरास्ते सर्पनराधिपावुपचरन्ति ॥१।२॥

साँप की सेवा करना राजा की सेवा करना एक सा ही है।

चन्द्रगुप्त का राज्य इसलिए सुस्थिर है क्योंकि उसका अमात्य चाणक्य निरन्तर राष्ट्र-चिन्तन में लीन रहता है—

विगुणीकृतकार्मुकोऽपि जेतुं
भुवि जेतव्यमसौ समर्थ एव।
स्वपतोऽपि ममेव यस्य तन्त्रे
गुरवे जाग्रति कार्यजागरुकाः ॥११।७॥

सुसिद्धार्थक आदि राजकर्मचारी इसलिए राष्ट्रनिष्ठ हैं, क्योंकि उन्हें चाणक्य की नीतियों में विश्वास होने के साथ-साथ उसके प्रति भय का भाव भी विद्यमान है। इस कारण वह उससे विद्रोह की बात सोच भी नहीं सकते—"वयस्य! को जीवलोके जीवितुकामः आर्यचाणक्यस्याज्ञप्तिं प्रतिकूलयति ?" (षष्ठ अंक)। किन्तु मात्र मन्त्री और राजकर्मचारियों की स्वामिभक्ति से ही कोई राष्ट्र दृढ़ नहीं होता। जब तक योग्य राजा नहीं होता तब तक अनवद्यनीतिशाली मन्त्री भी तटवर्ती वृक्ष के समान धराशायी हो जाता है जिसके उदाहरण मलयकेतु तथा चन्द्रगुप्त हैं—

द्रव्यं जिगीषुमधिगम्य जडात्मनोऽपि,
नेतुर्यशस्विनि पदे नियता प्रतिष्ठा।
अद्रव्यमेत्य भुवि शुद्धनयोऽपि मन्त्री,
शीर्णाश्रयः पतति कूलजवृक्षवृत्या॥

इनके अतिरिक्त नाटक में चाणक्य, राक्षस व उनकी कूटनीतियाँ हैं।

मृच्छकटिक व मुद्राराक्षस में राजनैतिक स्थितियाँ पृथक हैं। एक में नया राष्ट्र बनाने की योजना है तथा दूसरे में नये स्थापित किये गये साम्राज्य को निष्कंटक बनाने की बात है। संघर्ष दोनों में है जिसमें पहले में वह सफल है, क्योंकि जन-सामान्य का उसमें सहयोग है। दूसरा निष्फल है, क्योंकि वह एक व्यक्ति के सामर्थ्य से संचालित हो रहा है। राष्ट्र के निर्माण के लिए एकता की भावना का होना अनिवार्य है जो मृच्छकटिक से सिद्ध है तथा उसके प्रति तीव्रतम निष्ठा की भावना आवश्यक है, जैसी राक्षस में हमें प्राप्त होती है।

अन्त में हम मृच्छकटिक के नायक चारुदत्त द्वारा कहे गये भरतवाक्य द्वारा राष्ट्र की मंगल कामना करते हैं—

क्षीरिण्यः सन्तु गावो भवतु वसुमति सर्वसंपन्नसस्या,
पर्जन्यः कालवर्षी सकलजनमनोनन्दिनो वान्तु वाताः।
मोदन्तां जन्मभाजः सततमभिमता ब्राह्मणाः सन्तु सन्तः
श्रीमन्तः पान्तु पृथ्वीं प्रशमितरिपवो धर्मनिष्ठाश्च भूपाः॥

सन्दर्भ

१. १. समाहर्ता दुर्गं खनिं सेतुं वनं व्रजं वणिक्पथं चावेक्षेत।

....

३. सीता भागो बलिः करो वणिक् नदीपाटस्तरो नावः पट्टनं विवीतं वर्तनी रज्जूश्चोररज्जूश्च राष्ट्रम्।

—अर्थशास्त्र, प्रकरण २२, अध्याय ६

२. १. कोष्ठागाराध्यक्षः सीताराष्ट्रक्रयिमपरिवर्तकप्रामित्यकामित्यसिंहनिकान्य-जातव्ययप्रत्यायोपस्थानान्युपलभेत्।

....

३. पिण्डकरः षडभागः, सेनाभक्तं बलिः, करः, उत्संगः, पार्श्वं, पारिहीणिकम्, औपयनिकं, कौष्ठेयकं च राष्ट्रम्। —प्रकरण ३१, अध्याय १५

३. स्वराष्ट्रं न्यायवृत्तं स्याद् भृशदण्डश्च शत्रुषु ।
सुहृत्स्वजिह्मः स्निग्धेषु ब्राह्मणेषु क्षमान्वितः ।।७।३२।।
सामादीनामुपायानां चतुर्णामपि पण्डिताः ।
सामदण्डो प्रशसक्ति नित्यं राष्ट्राभिवृद्धये ।।७।१०९।।
यथोद्धरति निर्दाता कक्ष धान्यं च रक्षति ।
तथा रक्षेन्नृपो राष्ट्रं हन्याच्च परिपस्थितः ।।७।११०।।
राष्ट्रस्य संग्रहे नित्यं विधानमिदमाचरेत् ।
सुसंग्रहीतराष्ट्रो हि पार्थिवः सुखमेधते ।।७।११३।।

४. एककार्यनियोगेऽपि नानयोस्तुल्यशीलता ।
विवाहे च चितायां च यथा हुतभुजोर्द्वयोः ।।६।१६।।

—मृच्छकटिक, आर्यक-कथन

५. स्मृतं स्यात् पुत्रदाराणं विस्मृताः स्वामिभक्तयः ।
चलेष्वर्थेषु लुब्धेन न यशः स्वनपायिषु ।।१४।५।। —मुद्रा, राक्षस कथन

६. त्यजत्यप्रियवत्प्राणान्यथा तस्यायमापदि ।
तथैवास्यापदि प्राणा नूनं तस्यापि न प्रियाः ।।२४।२।। मद्रा, चाणक्य कथन

❖

आधुनिक-संस्कृत-नाटकों में राष्ट्रभावना

डॉ० कुसुम भूरिया

संस्कृत-साहित्य के नाटकों ने सदैव उद्भट विद्वानों से लेकर एक सामान्य जन पर भी अपना अद्वितीय प्रभाव छोड़ा है। शृंगार, वीर, करुण या अन्य कस रस की प्रधानता वाले, विभिन्न कालों में रचे गये नाटकों के माध्यम से सामाजिक सांस्कृतिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि विभिन्न रुचियों वाले दर्शकों के मन एक साथ ही इस नाट्यविधा से सन्तुष्ट होते आये हैं, जिससे राष्ट्रीय एकता के साथ ही "वसुधैव कुटुम्बकम्" की भावना को भी बल प्राप्त होता है।

देशप्रेम तथा राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत आधुनिक-संस्कृत-नाटकों ने स्वतन्त्रता के लिए तड़पते हुए सम्पूर्ण देशवासियों को एकता के सूत्र में ऐसा पिरोया कि उनमें से प्रत्येक का अन्तस् कह उठा—

> बालको युवकः प्रौढो वृद्धः मनसा वचसा वपुषा शुद्धः।
> भवतु त्वरितमेकतावहः देशोद्धारे मास्तु विरुद्धः ॥
>
> —शिवाजी चरित

तथा,

> स्वजीवन-दानेन रक्षणीयैवजन्मभूः।
> आदत्ते हि महद्वस्तु स्तोकत्यागेन बुद्धिमान् ॥
>
> —मिवार प्रतापम्

बीसवीं शताब्दी में अनेक संस्कृत-नाटकों की रचना हुई, जिनमें से भारत की स्वतन्त्रा तथा एकता-विषयक नाटक बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। ऐसे कुछ नाटकों का परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

हरिदास सिद्धान्तवागीश ने १९४४ ई० में "मिवार प्रताप" नामक नाटक की रचना की, जिसमें अकबर की अधीनता से अपने देश को मुक्त कराने की कामना करने वाले महाराणा प्रताप की विजय से नाटक का सुखद अन्त होता है।

देश प्रेम तथा राष्ट्रीय एकता से भरा यह नाटक प्रताप, मानसिंह, शक्तिसिंह आदि राष्ट्रभक्तों की इस लालसा को प्रकट करता है—

"यदि वयमत्र संग्रामे विजय लक्ष्मीं लप्स्यामहे
तदावश्यमेव भारताद् यवनापसारणेन साम्राज्य-
भारोपधितुमेव यतिष्यामहे ।"

पुरुष ही नहीं, स्वदेशप्रेम में पगी हुई पृथ्वीराज की पत्नी कमला पुरातन वैदिक सांस्कृतिक वैभव की हीनता का दृश्य देखकर अपनी मानसिक व्यथा को व्यक्त करती हुई सोचती है—"यः किल हिन्दूनां गौरवरविरस्तं गतः स किं पुनर्नोदियाया ।" और नाटक के अन्त में जब सुप्रभदेवोपाध्याय कहते हैं—"सन्तानपोषी परदास्यपाशान् मातेव मुक्तैव च जन्मभूमिः" तब सब सुख की साँस लेते हैं ।

१९४५ ई० में रचित हरिदास जी के द्वितीय नाटक "शिवाजी-चरित" में देशवासियों के देशप्रेम को उल्लसित करने के लिए प्रस्तावना में ही सूत्रधार कहता है कि चूंकि इस समय सभी ओर स्वतन्त्रता की कामना की जा रही है, इसलिए हम उसे और अधिक उद्दीपित करने के लिए एक विशेष नाटक को खेलना चाहते हैं । इस उद्देश्य से प्रेरित शिवाजी जयसिंह के पुत्र मर्दानसिंह के बहाने सभी को समझाते चलते हैं कि हमारे साथ आ जाओ और भारत में हिन्दुओं की विजयपताका फहराओ ।

अपने तृतीय नाटक "वंगीयप्रताप" में कवि हरिदास सिद्धान्तवागीश की मनोव्यथा बड़ी मार्मिक है—"देशोऽपि हन्त ! विधिना विहितो विदेशः ।" इन थोड़े से शब्दों में ही मानो कवि ने अपनी सम्पूर्ण देश भक्ति गूँथ दी है । भारत देश की पराधीनता को दूर करने के लिए व्यथित हृदय प्रताप ने कहा—

विधर्म्यधीना बत भारतप्रजा नदीप्रवाहे पतिता लता यथा ।
नैवोन्नतिं गच्छति निष्फलोद्यमा परानुगत्यं हि लघीयसां क्रिया ॥

राष्ट्रप्रेम तो प्रत्येक व्यक्ति की अपनी निधि होनी चाहिए, पर उनके लिए क्या कहा जाय, जो अपने प्राणप्रिय देश के साथ विद्रोह करते हैं । कोई कुछ कहे या न कहे, देशद्रोही की अन्तरात्मा उसे स्वयं ही धिक्कारती है—"नरकेऽपि न स्थानमादृशानां स्वजातिदेशद्रोहिणाम् ।" तथा अत्यन्त व्यथित वह पुनः क्रन्दन कर उठता है—"धरातल धरातल, देहि मे नलातलेऽवकाशम् ।"

राष्ट्रप्रेम तथा देश की अखण्डता के पुजारी मथुरा प्रसाद दीक्षित ने बहुत से नाटकों की रचना की । १९३५ ई० में रचे उनके "वीरप्रताप" का नायक प्रताप जहाँ अपने राज्याभिषेकमहोत्सव के समय होने वाले वेश्या के नृत्य को रोककर तलवार खींचते हुए कहता है —

"यावन्मे धमनीमुखेषु रुधिरक्लेदोऽपि सन्तिष्ठते"
मांसं वास्थि तिष्ठति क्वचिदपि प्राणाः शरीरे स्थिताः ।
तावन्म्लेच्छपतेः कथञ्चिदपि न प्राप्स्याम्यहं निघ्नताम्
स्वातन्त्र्यस्य पदं समस्तवसुधां नेतुं यतिष्ये भृशम् ।।

वहीं वह वेश्या भी प्रतिज्ञा कर लेती है कि योगिनी बनकर मैं भी भविष्य में मेवाड़ में अपने गायन से स्फूर्ति और नवजागरण भर दूँगी । अपने इस निश्चय से वेश्या भी मेवाड़ की मानो एक अद्भुत शक्ति बन गई यह गा गाकर—

हर हर जय जय देव ।
जय प्रताप जय भारतभूषण जय वसुधाधिप देव ।
जय जय माननगरविध्वंसक जय राजत तारेश ।
धावत धावत भजत प्रतापम्
एनं धर्मकरणतो रक्षत सिन्धुशरणमुपयातम् ।।

वीरप्रताप की रचना भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के युग में युवकों और क्षत्रियों को प्रोत्साहित करके भारत माता की बेड़ियों को काटने के उद्देश्य से की गई थी । यह बात कवि सूत्रधार के मुख से प्रस्तावना में ही कहलवा देता है ।

"भारतविजयम्" (१९३५ ई०) नामक ऐतिहासिक नाटक में अंग्रेजों के भारत-आगमन से लेकर १९४७ ई० तक की घटनाओं का चित्रण है । इसमें देशद्रोहियों से मिले हुए अंग्रेजों के अन्याय तथा अत्याचारों का वर्णन एक ओर है तो दूसरी ओर मंगल पाण्डे, झाँसी की रानी, खुदीराम बोस आदि के बलिदानों से अनूठे राष्ट्रप्रेम का चित्रण किया गया है । इसमें वर्णित स्वतन्त्रता संग्राम तथा जलियाँवाला बाग की घटनाएँ अद्भुत राष्ट्रभक्ति का उदाहरण प्रस्तुत करती हैं ।

"वीरपृथ्वीराज" नाटक (१९४० ई०) में यथानाम पृथ्वीराज के शौर्य का चित्रण है । अपने शत्रु मुहम्मदगोरी को पकड़ने के लिए प्रस्थान करते समय वीर एक स्वर से गाते हैं—

"कुरुत सुवीरा रिपुकुलनाशं
विदधत यशसो जगति विकासम् ।
अरिगणयवनान् विनिहतमूलाद्
शूलाद्रहितान् गमयत महितान् ।।

यह नाटक देशोत्थान में सहायक, दुःखों का अन्त करने वाला तथा लोक को प्रबुद्ध करने वाला होगा—ऐसी आशा सूत्रधार प्रस्तावना में करता है ।

सन् १८१० से १८४७ तक की अफ्रीका और भारत में घटी महात्मा-गांधी-विषयक घटनाओं वाले "गांधी विजय नाटक" को कवि ने राष्ट्रहितैक-बद्ध-परिकर-मनीषियों के प्रीत्यर्थं लिखा। इसमें वर्णन है कि महात्मा गांधी ने अफ्रीका में भारत-वासियों पर होने वाले तीन अत्याचारों (तीन पौण्ड का कर, अँगूठे की निशानी और गौरण्डों की मार चुपचाप सहना) को बन्द करवाया, अहिंसात्मक सत्याग्रह किया, चम्पारन में गोरों का अत्याचार बन्द करवाया तथा विदेशी वस्त्रों की होली जलवाकर स्वदेशप्रेम को प्रकट कर भारतीय जनता का विशेष स्नेह प्राप्त किया। इस नाटक में तिलक, मालवीय, राजेन्द्र प्रसाद, जवाहरलाल नेहरू, सरदार पटेल आदि को भी नायक बनाया गया है, जिससे दर्शकों के हृदय में भारत की स्वतन्त्रता के लिए सर्वस्व त्यागी देश के उन्नायकों के प्रति श्रद्धा जागृत हो सके।

डॉ० वी० राघवन के "पुनरुन्मेषः" नामक प्रेक्षणक में भारतीय संस्कृति और अतीत के गौरव को याद करके उसकी रक्षा करने की कामना भारतीयों से की गई है। नाटक का अन्त भारतमाता की इस आराधना से होता है—

देवि भारतजननि जगति पुराण्यथापि च नूतना।
देवि भारतजननि मंगलदायिकेऽम्ब नमोऽस्तु ते॥

कवयित्री लीलाराव के "स्वर्णपुर-कृषीवल" नामक नाटक में स्वर्णपुर के किसानों के भू-कर न देने पर उन पर अंग्रेजों के अत्याचारों का वर्णन किया गया है। किसानों के सत्याग्रह की अग्रणी एक स्त्री रेवा है, जिसके पुत्रों को खूब पीटा जाता है। स्वदेश-प्रेम को प्रकट करने वाले सभी ग्रामवासी अन्त में गाते हैं—

महात्मागान्धिर्जयतु स्वदेशो भुवन त्रयम्।

"कटुविपाक" नामक उनके दूसरे नाटक में ग्रामीण युवती रेवा के सत्याग्रह में प्राण न्यौछावर कर देने की कथा है।

"वीरभा" नामक एकांकी की नायिका वीरभा है, जो युवावस्था में ही संन्यासिनी बनकर देश की स्वतन्त्रता के लिए सत्याग्रह आन्दोलन को नेतृत्व प्रदान करती है।

"जयन्तु कुमाउंनीयाः" में चीन तथा भारत, की हिमालय-प्रदेश पर युद्ध की कथा का चित्रण है। इसमें कुमाऊँ गीत भी हैं, जिन्हें कुमाऊँ के वीर सैनिक एक स्वर से गाते हैं और अपना मानसिक तनाव दूर कर अपने देश की रक्षा के लिए कटिबद्ध हो जाते हैं। इसमें सैनिकों के राष्ट्रप्रेम का सजीव चित्रण है।

विश्वेश्वर का "चाणक्यविजयम्' नामक नाटक भारतीय संस्कृति तथा महिमा को प्रकाशित करने के उद्देश्य से लिखा गया—इसे सूत्रधार प्रस्तावना में

स्पष्ट करते हुए कहता है—"भारतीय संस्कृतेस्तथा भारतवर्षस्य महिमपूजनार्थं रसमञ्जुलं संस्कृत-नाटकमद्याभिनेतव्यम् ।"

"प्रबुद्ध हिमाचल" में विदेशी आक्रमणों से आक्रान्त राष्ट्र की कन्याएँ नवयुवकों का उत्साह बढ़ाने के लिए गाती हैं—

"वन्दे देश मातरम्
लक्षवीर – जन्मदात्रीं जगद्धात्रीं मातरम् ।
जय विश्ववन्दिते जय सुरनन्दिते
पुण्यमहिमसुषमामयीं वन्दे शुभां मातरम् ।।"

यतीन्द्रविमल चौधुरी के "महिममयभारतम्" में भारत की पौराणिक, मुगल-कालीन तथा आधुनिक युग की संस्कृति का परिचय प्राप्त होता है ।

विविधता को अपनाने वाला भारत देश संस्कृति तथा लोककल्याण परायण है—इन विचारों को प्रकट करने वाला यतीन्द्रविमल का दूसरा नाटक "मेलनतीर्थम्" है । इसमें बतलाया गया है कि मेल करने से, पृथक् करने से नहीं, भारत तीर्थ बना है । इस भारत के सभी निवासी भाई-बहन हैं । इनमें अनेक संस्कृतियों का मिलन हुआ है ।

इनके "भारतहृदयारविन्दम्" 'भारत-विवेक", "भारत-राजेन्द्रम्", 'सुभाष-सुभाषम्", "देशबन्धुदेशप्रियम्", "भारत लक्ष्मीः" नामक नाटकों में क्रमशः राष्ट्र के उन्नायकों—अरविन्द, विवेकानन्द, डॉ० राजेन्द्र प्रसाद, नेताजी सुभाष, चित्तरंजन दास तथा रानी लक्ष्मीबाई के स्वदेशप्रेम का चित्रण है ।

"भास्करोदयम्" नामक नाटक में यतीन्द्रविमल ने कवीन्द्र रवीन्द्र की विकास-मयी जीवन गाथा का चित्रण किया है । इसमें देशभक्ति से पूर्ण सुन्दर गानों का समावेश है ।

कवयित्री रमा चौधुरी के "शङ्कर-शङ्करम्" नामक नाटक में आदि गुरु शङ्कराचार्य के जीवन की झाँकी प्रस्तुत की गई है, जिहोंने अपने ब्रह्मघोष से समग्र भारत को एकसूत्र में पिरोने का कार्य किया ।

"देशदीपम्" नामक नाटक में रमा चौधुरी ने देश की रक्षा में अपने प्राणों को न्योछावर करने वाले वीरों की जीवन गाथा का चित्रण किया है । युद्धभूमि में मरणासन्न एक वीर कहता है—"अस्तं गच्छति मम जीवन सूर्योऽपि, परन्तु कदापि नास्तं गमिष्यति भारतमातुर्महागौरवच्छविः ।"

श्रीराम वेलणकर के "कैलास-कम्पः" में चीन तथा भारत के युद्ध का चित्रण है । भारतीय वीरों के राष्ट्रप्रेम की सुन्दर अभिव्यक्ति इसमें है ।

श्रीमती डॉ० वनमाला भवालकर द्वारा लिखित नाटक "पाददण्डः" में चीन-युद्ध की पृष्ठभूमि पर प्रणय की सात्त्विकता का चित्रण किया गया है। इसमें एक नवयुवक सुधीर देश की रक्षा करता हुआ युद्ध में पंगु होकर लौटता है। देशरक्षा से पवित्र व्यक्तित्व वाले इस युवक से उसकी प्रणयिनी ललिता विवाह करके नायक का पाददण्ड बन जाती है। इस प्रकार इसमें राष्ट्रभक्ति की अद्भुत प्रेरणा व्याप्त है।

उपर्युक्त नाटकों के अतिरिक्त भी बहुत से अन्य नाटकों की रचना आधुनिक युग में की गई, जिनमें अटूट राष्ट्रभक्ति गुँथी हुई है। ये नाटक पुरुष, स्त्री, बच्चों सभी के चित्त को राष्ट्रप्रेम की भावना से ओत-प्रोत करने का महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं। कवियों ने देश के वीर पुरुषों से राष्ट्रीयता का गान करवाया है, उनके बलिदानों से जनसामान्य में अपने राष्ट्र के प्रति भक्ति पैदा करवाई है। जनसामान्य के लिए अत्यन्त सरल संस्कृत में लिखे गए इन नाटकों का अभिनय भी प्रशंसनीय रहा है।

□

"भारत-सन्देश" और आधुनिक भारत

अनिल कुमार त्रिपाठी

"भारत-सन्देश" महाकविकुलगुरुप्रणीत "मेघदूतम्" नामक खण्डकाव्य या गीतिकाव्य का अनुकरण कहा जा सकता है। इसमें कवि ने २८५ मन्द्राक्रान्ता छन्दों में भारत की स्थिति का तथा प्राकृतिक छटा का अनुपम वर्णन किया गया है। इस काव्य में शब्दों का गुम्फन, शब्दमाधुर्य, वर्णन की विशदता तथा भावों की उज्ज्वलता का समावेश पाया जाता है। ये सभी विशेषताएँ कवि के प्रातिभ नवोन्मेष सम्पन्न व्यक्तित्व को प्रकट करती हैं। इस काव्य के रचयिता श्री शिवप्रसाद भरद्वाज हैं।

इस काव्य में कवि ने आज के भारत का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया है तथा सामाजिक एवं राजनीतिक रुचि का भी परिचय दिया है।

यह सन्देश काव्य युद्ध-ज्वर से ग्रसित विश्व में शान्ति सन्देश प्रदान करने के लिए तथा शान्ति स्थापित करने के लिए लिखा गया है। यह बतलाया गया है कि साम्राज्यवाद, सैन्य संगठनों तथा अमर्यादित महत्त्वाकांक्षाओं में ही अशान्ति का मूल स्थित है। मित्रता तथा विश्वास ही शान्ति स्थापित करने में सहायक है। अतएव इस काव्य में राष्ट्रीकता के लिए तत्कालीन राष्ट्रपति शान्तिमार्ग को अपनाने का प्रस्ताव रखते हैं।

यहाँ बहुत से विदेशी शिष्ट-मण्डल के रूप में अपने शान्ति-सन्देश को ग्रहण कराने के लिए राष्ट्रपति के सम्मुख उपस्थित होते हैं,—यही इस ग्रन्थ "भारत-सन्देश" का इतिवृत्त है, जो इस ग्रन्थ की प्रशस्ति से स्पष्ट हो जाता है।

"भारत-सन्देश" में भी प्रथम खण्ड में भारत के विभिन्न स्थलों का वर्णन है, जिस प्रकार कालिदास के "पूर्वमेघ" में अनेक रमणीय स्थलों का वर्णन है।

इम ग्रन्थ का आरम्भ इस प्रकार होता है कि विगत युद्ध की विभीषिका से सन्त्रस्त कुछ राष्ट्रों ने शान्ति की कामना करने वाले अपने, प्रतिनिधियों को भारत भेजा। यह भारत वर्ष विस्मित करने वाले आश्चर्यों का केन्द्र है। इसी देश में

घटाटोप अन्धकार को दूर करने वाले सूर्य के समान सभी अज्ञानान्धकारों को दूर करने वाले वेदों का आविर्भाव हुआ।

इसी देश की पावन धरती में महान् यशस्वी शाक्यवंश के प्रदीप भगवान् बुद्ध का जन्म हुआ जिनके नाम का श्रवण मात्र सम्पूर्ण कलमषों के विनाश में सक्षम है। भगवान् बुद्ध ने इस सम्पूर्ण विश्व को ही एक घर के रूप में कल्पित कर लोगों में "वसुधैव कुटुम्बकम्" की भावना का संचार किया और प्राणि-मात्र को अपने वचनों के द्वारा आकृष्ट कर लिया। उन्होंने धर्म-चक्र का प्रवर्तन करके चार आर्य सत्यों—सत्य, अहिंसा, अस्तेय तथा अपरिग्रह का उपदेश करते हुए जन-सामान्य के लिए लोक-कल्याण का मार्ग निर्मित किया—

आदिक्षद् यो मनुजसमतां, भूतजातेऽनुकम्पां
दीनोद्धारं, पुनरपघृणं, वाऽऽतुरार्ति-प्रणाशम्।
चातुः सत्यं भुवि परिदिशन् धर्म-चक्र-प्रवृत्त्या
साधीयांसं जगति विदधल्लोक कल्याणमार्गम्॥

इन्हीं के पंचशीलों के प्रचार-प्रसार के लिए सम्राट् अशोक ने अनेक विजय-स्तम्भों तथा स्मारकों में इनके उपदेशों को उत्कीर्ण करवाया। इसी भूमि पर महात्मा गाँधी का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होंने भी प्रेम, सत्याग्रह तथा अहिंसा की नीति से सम्पूर्ण राष्ट्र को अपने वश में कर लिया था। अपने राष्ट्र की स्वतन्त्रता के लिए नेताजी सुभाषचन्द्र बोस तथा महारानी लक्ष्मीबाई ने भी अपने प्राणों का उत्सर्ग कर दिया।

शान्तिदूत पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने भी राष्ट्र की एकता तथा शान्ति के लिए पंचशील सिद्धान्तों को स्वीकार करने के प्रयत्न किये। इसलिए इस प्रकार के महापुरुषों से युक्त भारतवर्ष में कौन आने की इच्छा नहीं करेगा ? अर्थात् सभी लोग आना चाहेंगे।

सर्वप्रथम विदेशी प्रतिनिधिगण बम्बई के "भारत-द्वार" अर्थात् "गेटवे ऑफ इण्डिया" आये। वे यहाँ की प्राकृतिक छटा का अवलोकन करते हुए प्रसन्न होते हैं, परन्तु भारतीयों की दीन-हीन दशा को देखकर क्षुब्ध होते हैं। तदनन्तर उन्होंने कौतूहलवश "ट्राम्बे नगर" में आणविक संस्था को देखा। धारा-नगरी के समीप एलिफाण्टा के शिल्प को देख कर स्तब्ध रह जाते हैं। साबरमती के किनारे नगर में गाँधी जी की कीर्ति को उजागर करने वाले वस्त्रोद्योग की प्रगति को देखा। इसके पश्चात् वे राजस्थान, रणथम्भौर, मेवाड़, हल्दीघाटी आदि ऐतिहासिक स्थानों का अवलोकन करते हैं।

यद्यपि उनकी इच्छा राजधानी शीघ्र पहुंचने की थी, परन्तु उन्होंने अन्य भागों को भी देखने का निर्णय लिया। अतः सर्वप्रथम वे मन्दसौर जाने के पश्चात्

कालिदास की जन्मभूमि अवन्ति पहुँचे। सांची और विदिशा को पार करते हुए नर्मदा नदी को पार करके पूना में लोकमान्य तिलक की मूर्ति का दर्शन किया, जिन्होंने "स्वतन्त्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है" का नारा दिया था। इसके पश्चात् वे शिवाजी की क्रीड़ास्थली महाराष्ट्र में प्रयाण करते हैं।

यद्यपि देश में अनेक देश दृष्टिगोचरार्थ थे, परन्तु समयाभाव था। अन्त में दक्षिण-दिशा में हवाई-जहाज से—कर्णाटक, मैसूर, केरल आदि स्थानों के तीर्थों को नयनों का विषय बनाया।

भारतीय समृद्धि को प्रदर्शित करने वाले कलकत्ता पहुँचे, जो विश्व को रमण करने में समर्थ है, यहीं पर रवीन्द्रनाथ टैगोर द्वारा स्थापित "शान्तिनिकेतन" को भी देखा।

पूर्व में शिलांग, गोहाटी को पार करके मिथिला पहुँचे जहाँ पर रावण के लिए कालरात्रि स्वरूपा सीता जी का उद्भव माना जाता है, यहीं पर सबको प्रसन्न करने वाले डॉ० राजेन्द्र प्रसाद जी का जन्म हुआ।

इन लोगों ने मालवीय जी की कीर्ति-कौमुदी को प्रसारित करने वाले विश्व-विद्यालय को देखा। इसके आगे मुमुक्षुओं की नगरी वाराणसी गये, जहाँ पर पवित्र गंगा नदी प्रवाहित होती है।

इसी यात्रा प्रसंग में उन्होंने पर्वतीय स्थानों के भी दर्शन किये। हिमालय की गोद में बसने वाली तथा ताप का हरण करने वाली मंसूरी का दर्शन किया। जौनसार, देहरादून तथा शिमला आदि स्थानों में भी गये।

व्यास नदी को पार कर लुधियाना तथा पंजाब गये, जहाँ पर स्वर्णमन्दिर का दर्शन किया। इसके आगे जलियाँवाले बाग को भी नेत्र-पथातिथि बनाया। यहीं पर माइकेल ओडायर ने अनेक निरस्त्र भारतीयों को मशीनगनों, से मौत के घाट उतार दिया था। यही स्थान भारत और पाकिस्तान की सीमा का विभाजन करता है। इसके पूर्वी भाग में आर्यों की पावनस्थली भारत-भूमि तथा पश्चिमी भाग में पृथ्वी के व्रण के समान म्लेच्छों की भूमि पाकिस्तान है।

भारत-पाकिस्तान विभाजन में यद्यपि पहले लोभ-मोहवश प्रसन्नता हुई थी, परन्तु इसके खण्ड हो जाने से हमें बहुत बड़ा मूल्य चुकाना पड़ रहा है। अतः—

तत्पार्थक्ये प्रथममुदगादन्य-राष्ट्रस्य भावो
यस्मिंजाते बत ! शकलतां भारतं नः प्रयाति ॥

पार्श्व में स्थित कश्मीर की धरित्री, जो विस्मयों को धारण करती हुई सारी इन्द्रियों को तृप्त करती है उसकी बर्बर असुरों से रक्षा करने में हमारे भारतीय

युवकों ने अपने प्राणों को अर्पित कर दिया। इसी कश्मीर की धरित्री में महान् यशस्वी अवन्ति वर्मा हुआ था जिसकी तलवार अमिट यश को प्राप्त करने में समर्थ हुई।

इस प्रकार से रम्य स्थानों के दिदृक्षु असाधारण कौतूहल वाले उन लोगों ने शासन के अतिथि होकर इन्द्रप्रस्थ की ओर प्रस्थान किया। यहीं पर "भारत-सन्देश" नामक ग्रन्थ का पूर्व भाग समाप्त हो जाता है।

द्वितीय भाग का प्रारम्भ उनके द्वारा "कोस्पोपोलिटन सिटी" अर्थात् उजड़-उजड़ कर बसने वाली भारतवर्ष की प्राचीन राजधानी "इन्द्रप्रस्थ" पहुँचने से होता है। अतः उनके आगमन का संकेत पाकर भारतीय लोग अतिथ्य-सत्कार के लिए सन्नद्ध हो जाते हैं, क्योंकि—

आतिथ्यं हि प्रकृति-विहितो भारतीयस्य धर्मः।

यहाँ के लोग मालाएँ, गुलदस्ते लेकर शिष्टाचार से युक्त बचनों से आगन्तुकों का सम्मान किये। तत्पश्चात् नई-दिल्ली में पहुँचने के लिए इन्होंने अपनी कारें भेजीं।

इसके पश्चात् वे राजकीय होटलों में जाते हैं। विश्राम करने के पश्चात् वे प्रातःकाल सुतीर्थ राजघाट पहुँचते हैं। जहाँ पर इस द्वेष की आग से युक्त विश्व में भी क्षणमात्र के लिए शान्ति मिलती है। इसके पश्चात् लाल किला, जामा-मस्जिद तथा चाँदनी चौक आदि स्थानों का दर्शन कर आये। यहीं पर शान्ति और विश्वमैत्री के साधक, नीति में आसक्त प्रधानमंत्री पण्डित जवाहरलाल नेहरू कल्याणकारी और सुखमय स्वराज्य को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए थे।

शिष्टाचार का पालन करते हुए, नीतिज्ञ आगन्तुकों ने राजकीय पत्र को दिया जिसको लेकर जवाहरलाल नेहरू ने इन शब्दों में कहा—

शान्तेर्दूताः! भवतु भवतां स्वागतं भारतेऽस्मिन्
धन्याऽस्माकं जननवसुधा या कृता वैश्वदेवी।
हित्वा राष्ट्राण्यपि गुरुमदान्याहितास्था यदस्मिन्
तस्या मूलं न किमु गुरुणा भावनासख्य सौम्या॥

जवाहरलाल नेहरू ने राष्ट्रैकता के लिए मित्रता की भावना को प्रश्रय दिया। उनके अनुसार—

मित्राणां वा भवति बलदा प्रेरणा सत्फला या।

इसलिए नेहरू जी ने कहा कि तुम्हारी यह शान्ति और मैत्री की कामना सफल हो। यथा—

कालिदास की जन्मभूमि अवन्ति पहुँचे। सांची और विदिशा को पार करते हुए नर्मदा नदी को पार करके पूना में लोकमान्य तिलक की मूर्ति का दर्शन किया, जिन्होंने "स्वतन्त्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है" का नारा दिया था। इसके पश्चात् वे शिवाजी की क्रीड़ास्थली महाराष्ट्र में प्रयाण करते हैं।

यद्यपि देश में अनेक देश दृष्टिगोचरार्थं थे, परन्तु समयाभाव था। अन्त में दक्षिण-दिशा में हवाई-जहाज से—कर्णाटक, मैसूर, केरल आदि स्थानों के तीर्थों को नयनों का विषय बनाया।

भारतीय समृद्धि को प्रदर्शित करने वाले कलकत्ता पहुँचे, जो विश्व को रमण करने में समर्थ है, यहीं पर रवीन्द्रनाथ टैगोर द्वारा स्थापित "शान्तिनिकेतन" को भी देखा।

पूर्व में शिलांग, गौहाटी को पार करके मिथिला पहुँचे जहाँ पर रावण के लिए कालरात्रि स्वरूपा सीता जी का उद्‌भव माना जाता है, यहीं पर सबको प्रसन्न करने वाले डॉ० राजेन्द्र प्रसाद जी का जन्म हुआ।

इन लोगों ने मालवीय जी की कीर्ति-कौमुदी को प्रसारित करने वाले विश्व-विद्यालय को देखा। इसके आगे मुमुक्षुओं की नगरी वाराणसी गये, जहाँ पर पवित्र गंगा नदी प्रवाहित होती है।

इसी यात्रा प्रसंग में उन्होंने पर्वतीय स्थानों के भी दर्शन किये। हिमालय की गोद में बसने वाली तथा ताप का हरण करने वाली मंसूरी का दर्शन किया। जौनसार, देहरादून तथा शिमला आदि स्थानों में भी गये।

व्यास नदी को पार कर लुधियाना तथा पंजाब गये, जहाँ पर स्वर्णमन्दिर का दर्शन किया। इसके आगे जलियाँवाले बाग को भी नेत्र-पथातिथि बनाया। यहीं पर माइकेल ओडायर ने अनेक निशस्त्र भारतीयों को मशीनगनों, से मौत के घाट उतार दिया था। यही स्थान भारत और पाकिस्तान की सीमा का विभाजन करता है। इसके पूर्वी भाग में आर्यों की पावनस्थली भारत-भूमि तथा पश्चिमी भाग में पृथ्वी के व्रण के समान म्लेच्छों की भूमि पाकिस्तान है।

भारत-पाकिस्तान विभाजन में यद्यपि पहले लोभ-मोहवश प्रसन्नता हुई थी, परन्तु इसके खण्ड हो जाने से हमें बहुत बड़ा मूल्य चुकाना पड़ रहा है। अतः—

तत्पार्थक्ये प्रथममुदगादन्य-राष्ट्रस्य भावो
यस्मिंजाते बत ! शकलतां भारतं नः प्रयाति ॥

पार्श्व में स्थित कश्मीर की धरित्री, जो विस्मयों को धारण करती हुई हमारी इन्द्रियों को तृप्त करती है उसकी बर्बर असुरों से रक्षा करने में हमारे भारतीय

युवकों ने अपने प्राणों को अर्पित कर दिया। इसी कश्मीर की धरित्री में महान् यशस्वी अवन्ति वर्मा हुआ था जिसकी तलवार अमिट यश को प्राप्त करने में समर्थ हुई।

इस प्रकार से रम्य स्थानों के दिदृक्षु असाधारण कौतूहल वाले उन लोगों ने शासन के अतिथि होकर इन्द्रप्रस्थ की ओर प्रस्थान किया। यहीं पर "भारत-सन्देश" नामक ग्रन्थ का पूर्व भाग समाप्त हो जाता है।

द्वितीय भाग का प्रारम्भ उनके द्वारा "कोस्पोपोलिटन सिटी" अर्थात् उजड़-उजड़ कर बसने वाली भारतवर्ष की प्राचीन राजधानी "इन्द्रप्रस्थ" पहुँचने से होता है। अतः उनके आगमन का संकेत पाकर भारतीय लोग अतिथ्य-सत्कार के लिए सन्नद्ध हो जाते हैं, क्योंकि—

आतिथ्यं हि प्रकृति-विहितो भारतीयस्य धर्मः।

यहाँ के लोग मालाएँ, गुलदस्ते लेकर शिष्टाचार से युक्त वचनों से आगन्तुकों का सम्मान किये। तत्पश्चात् नई-दिल्ली में पहुँचने के लिए इन्होंने अपनी कारें भेजीं।

इसके पश्चात् वे राजकीय होटलों में जाते हैं। विश्राम करने के पश्चात् वे प्रातःकाल सुतीर्थ राजघाट पहुँचते हैं। जहाँ पर इस द्वेष की आग से युक्त विश्व में भी क्षणमात्र के लिए शान्ति मिलती है। इसके पश्चात् लाल किला, जामा-मस्जिद तथा चाँदनी चौक आदि स्थानों का दर्शन कर आये। यहीं पर शान्ति और विश्वमैत्री के साधक, नीति में आसक्त प्रधानमंत्री पण्डित जवाहरलाल नेहरू कल्याणकारी और सुखमय स्वराज्य को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए थे।

शिष्टाचार का पालन करते हुए, नीतिज्ञ आगन्तुकों ने राजकीय पत्र को दिया जिसको लेकर जवाहरलाल नेहरू ने इन शब्दों में कहा—

शान्तेर्दूताः ! भवतु भवतां स्वागतं भारतेऽस्मिन्
धन्याऽस्माकं जननवसुधा या कृता वैश्वदेवी।
हित्वा राष्ट्राण्यपि गुरुमदान्याहितास्था यदस्मिन्
तस्या मूलं न किमु गुरुणा भावनासख्य सौम्या॥

जवाहरलाल नेहरू ने राष्ट्रैकता के लिए मित्रता की भावना को प्रश्रय दिया। उनके अनुसार—

मित्राणां वा भवति बलदा प्रेरणा सत्फला या।

इसलिए नेहरू जी ने कहा कि तुम्हारी यह शान्ति और मैत्री की कामना सफल हो। यथा—

युष्मद् वांछा भवन-सुखदा यातु साफल्यमेषा ।
कृत्ये चास्मिन् स्मरत सधुरान् नः सदैवाऽन्यदाऽपि ।।

दूसरे दिन वे अपनी कारों से राष्ट्रपति भवन पहुंचे । प्रसन्नचित्त वाले, गुणों के आगार, महिमावान सभी के मित्र राजेन्द्र प्रसाद जी ने आगन्तुकों को सम्बोधित किया—

धन्याः पान्थाः ! वयमिह शुभाः ! शोभनं लोकनं वः,
सभ्याः ! भव्यं स्वयमुपगतं संगतं लब्धवन्तः ।
चिन्तामुक्ता ह्यनुदिनमितः पर्यटन्त्येव लोकाः,
कृत्य-व्याग्राः परमवसरं कृच्छ्रतो भानयन्ति ।।

इस आपाधापी के युग में गुणवती मैत्री को उचित बतलाया—

राष्ट्रे-राष्ट्रे ननु बलवती शक्ति—सन्तोलनेहा,
ध्वंसाद् भीतिः, प्रचतिरधिका ध्वंसकानां निकाये ।
मैत्री तस्मादिह गुणवती शस्त्र सम्भार भाजा-
मस्मत्सख्यं किमिव कुरुतामिष्टसम्पादनं वः ।।

किसी को प्रसन्न रखने पर सभी का कल्याण होता है । जब तक मनुष्य परवश है तब तक सुख नहीं मिल सकता है, चाहे वह कहीं भी रहे । इस भाव को इस श्लोक में देखिए—

यावल्लोके भवति परवान् दुर्गतः शोषितो वः,
रुग्णोऽवृत्तिर्विकलकरणः, पीडितः, क्षुन्मुमूर्षुः ।
यावच्छक्तो दलयति बल-द्रव्यदर्पादशक्तं,
तावत्सौख्यं क्व ननु भवने, कानने वा प्रवासे ।।

इस सबल प्रजातंत्र के युग में साम्राज्य की आशा जगत् का विभाजन करती है । अतः, क्या हमें निशस्त्रीकरण का आश्रय नहीं लेना चाहिए, अर्थात् लेना ही चाहिए । यहाँ पर उग्रवादी लोग आणविक युग में विस्फोट का उचित अवसर देखते हैं । क्या इस समय "अहिंसा परमोधर्मः" का सिद्धान्त उचित नहीं । अर्थात् इस प्रकार के आणविक युग में राष्ट्रीयता में अहिंसा एवं निशस्त्रीकरण ही कारगर उपाय है ।

यह शान्तिवार्ता रेडियो में प्रसारित की गयी और यह प्रसारित किया गया कि सप्ताह के अन्त में एक सभा होगी । शान्ति के प्रयासों की यह विज्ञप्ति लोगों में अपरम्पार औत्सुक्य का संचार कर देती है । पूर्वसूचना के अनुसार माइक, टेलीफोन तथा टेपरिकार्डर से सज्जित सभा आयोजित की गई । इस सभा में उपस्थित लोगों में प्रतिनिधिगण, मन्त्रिजन, राजदूत, पत्रकारवर्ग, फोटोग्राफर तथा संवाददाता आदि

थे। इस प्रकार की सभा में श्वेत पगड़ी से युक्त तथा काला कोट धारण किये हुए, भारत माँ के गौरव तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद जी का आगमन हुआ। उनके आने पर सभी उपस्थित लोग अपने आसन को छोड़कर असीम सम्मान के साथ उचित आसन पर बिठाते हैं। राष्ट्रपति सम्बोधित करते हैं—

भद्राः ! भद्रं भवतु भवतां भूतधात्रीं सुतानां,
बन्धुस्नेहामृतरसजुषामिष्ट-कारुण्य-भूम्नाम् ।
मृत्युच्छाया गुरुभयकरी मूर्छिताऽन्तर्निषोत्था,
ज्ञानोद्दामाऽनल-परिधुता मूंचतूल्लासचन्द्रम् ॥

साम्राज्यवाद की आकांक्षा एक विष-लता के समान है, प्रभुता की प्राप्ति जिसकी शाखा है तथा लोभ एक पुष्प है जो कि हृदय को प्रसन्न करने वाला तथा अम्लान शोभा को धारण करने वाला होता है। इस साम्राज्यवादिता के कारण ही सशक्त लोग निर्बलों को दबाते हैं तथा युद्ध को आमन्त्रित करते हैं। ये लोग एक विषैले सर्प के समान हैं जिसका कवि ने श्लेषात्मक शब्दों में कैसा सुन्दर वर्णन किया है—

भोगासक्तं वमति गरलं, फूत्कृतैर्वक्रगामी,
छिद्रान्वेषी, निभृतचरणो, नैकवर्णो, द्वि-जिह्वः ।
निध्याक्रान्ता श्वसन-हरणो वृत्त-वृत्ति कुलीनो,
जीवन्नन्यैरपि न रमते तेषु सोऽयं भुजंगः ॥

एक तरफ यह श्लोक सर्प के पक्ष में है दूसरी ओर साम्राज्यवादिता से ग्रसित सर्पों का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत करता है। इस प्रकार साम्राज्यवादिता से उत्पन्न परिणामों का अवलोकन कीजिए—

स्पर्धा लोकाऽन्तर-जय कृते संग्रहे चायुधानां,
सैन्योद्योगे प्रणिधि-निवह-स्यूत-कूट-प्रपंचैः ।
सन्धानानि द्रविणा-पणितान्यात्म-पक्षे प्रसारान्,
दर्शं दर्शं भुवि मृगपते शान्तिरप्यद्य शान्तिम् ॥

यही साम्राज्यवाद की अग्नि नागासाकी और हिरोशिमा जैसे नगरों को भस्मसात् कर देती है। दम्भ, हिंसा, छल, शत्रुता, घृणा, स्वार्थ, परता से मैत्री नहीं हो सकती है, अतएव—

जेतव्यश्चेद् भवति भवतां दुर्जयः क्रोध-शत्रुः,
हन्तव्यया चेद् हृदयशयना, क्रूरता राक्षसीयम् ।
स्वार्थो मूर्छं स्तमिर यति चेदान्तरं लोचनं वो,
वैराग्निश्चेज्जनयति तृषामस्त्र-पानाय युद्धे ॥

इसलिए राष्ट्रपति के भाषण का सारांश यही है कि—

भूयो-भूयो भजत करुणां, सा ह्ययमोघा भिषज्या ।।

तथा दीन-दुखियों के दैन्य को दूर करो, प्राणदान से मृत्यु से भयभीत लोगों को प्रसन्नचित्त करो, उनके अन्धकार-युक्त जीवन में एक नये प्रकाश का संचार करो। इस प्रकार सभी लोगों में सहकारिता की बुद्धि का विकास होगा जैसा कि यह श्लोक स्पष्ट करता है—

सर्वः सर्वं स्वमिव मनुतां नैव सर्वेण चिन्त्यम्,
सर्वस्मै यत् कटु-परिणतौ, रोचते नो कु-कृत्यम् ।
सर्वस्मादप्यथ च दुरितादस्तु सर्वस्य मुक्तिः,
सर्वस्मिन् स्याद् भुवन-वलये वा सहाऽस्तित्वबुद्धिः ।।

इस प्रकार राष्ट्रपति लोगों में सहयोग तथा सहकारिता की भावना देखना चाहते हैं और चाहते हैं—

न स्यात्कश्चिद् वसन-विकलो न क्षुधा-क्षाम-कण्ठो,
नो वा रुग्णो व्रजतु वलयं भेषजाऽभाव-दूनः ।
दीनः क्षीणो न खलु परवान् शोषितः शील-जीवी,
मा भूदन्य-श्रम-फल-रतिर्नाप्य शिक्षा-विलासः ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस काव्य में प्रधानमंत्री तथा राष्ट्रपति के शब्दों में विश्वमैत्री, विश्व-शान्ति तथा राष्ट्रैकता की चर्चा सन्निहित है । अतएव संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि राष्ट्रीय एकता तथा विश्वशान्ति के प्रति यह संस्कृत काव्य का योगदान है ।

□

आचार्यकुलपरम्परा राष्ट्रसर्वस्वम्

ज्ञानोपाह्वोऽवस्थी बच्चूलालः

आचार्यवान् पुरुषो वेद। —छां ६।१४।२०

इति श्रूयते। आचार्यो गुरुरित्यनर्थान्तरमिति पाणिनीयाः (चरेराङ्चिगुरौ, पासू ३/१/१०० वा०)। अतः श्वेताश्वतरीयाः पठन्ति—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।

तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥ —श्वे० ६।२३

इतीममेवार्थं छन्दोगा उदाजह्रुः—

यथा सोम्य पुरुषं गन्धारेभ्योऽभिनद्धाक्षमानीय तं ततोऽतिजने विसृजेत्। स यथा तत्र प्राङ्वोदङ् वाधराङ् वा प्रत्यङ् वा प्रध्मायीताभिनद्धाक्ष आनीतोऽभिनद्धाक्षो विसृष्टः। तस्य यथाभिहननं प्रमुच्य प्रब्रूयादेतां दिशं गन्धारा एतां दिशं व्रजेति। स ग्रामाद् ग्रामं पृच्छन् पण्डितो मेधावी गन्धारानेवोपसम्पद्येत। एवमेवेहाचार्यवान् पुरुषो वेद। तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य इति॥— छां० ६।१४।१-२

आचार्य एवाज्ञानावरणं निरस्य ज्ञानं स्वरूपप्रकाशमपि स्फुटं चकासयतीति समन्ताच्चरन्ति तं शिष्या इति। अत स्मर्यते—

तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥ —गीता

किमिदं कुलमिति? वंश इति सन्तान इति। वंशो हि जन्मना विद्यया च द्विधा भवति। तत्र विद्यावंश एव मूलत आचार्यकुलम्। तथा च वैजयन्तीकोषः "सजातीयगणे कुलम्" (५।१।६) इति। अपि चात्र श्रुतिः—

त्रयो धर्मस्कन्धाः। यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमः। तप एव द्वितीयः। ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्।— छां० २।२३।२

अत्र विवेच्यते। प्रथमस्कन्ध घटके तावद् यज्ञदाने नाध्ययनं विहाय स्वरूपमपि लब्धुं क्षमेते। ते हि धर्मशास्त्रस्याध्येतारमपेक्षेते। अपि च तपश्चान्द्रायणादिश्चेत् तर्हि

सर्वथा तदध्ययनं ज्ञानं च नाचार्यपरम्परामतिक्रामति। इत्थं च य एव यजतेऽधीते ददाति तपस्यति वा स आचार्यकुले श्रमं कृत्वैव तथाकारी जायते। ब्रह्म नाम ज्ञानम्, तच्चारी हि ब्रह्मचारी भवति। ब्रह्मचर्यं चाचार्यकुलमनुरुणाद्धि। अत एव ब्रह्मचर्यं लिप्सुर्ब्रुवाणः श्रूयते—

प्रापय न आचार्यकुलम्। —छां० ४।५।१

परम्पराप्राप्तमाचार्यकुलं न क्वापि हीयते। आ ब्रह्मणो हि आ प्रजाभ्यस्तद् व्याप्नोति। तथा हि—

तद्धैतद् ब्रह्मा प्रजापतय उवाच, प्रजापतिर्मनवे मनुः प्रजाभ्यः। आचार्यकुलाद् वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान् विदधत्……। **—छां० ८।१५**

आचार्यकुलसेवनमेव तस्य तस्य सत्कर्मणो मूलं येन कुटुम्बतरू रोहति, वसुधैव कुटुम्बकमिति च सम्पद्यते। नाधुनिकी राष्ट्रचेतना वसुन्धरामेकत्वं नयन्ती लक्ष्यत इति सौवास्तिकं चेत् किमपि समीहते तर्हि तदाचार्यकुलमेति।

ननु पृथग्जना आचार्यकुलमज्ञात्वापि यथावद् व्यवहरन्तो राष्ट्रभावनाभावितस्वान्ता ध्वजोत्तोलनाय तत्र तत्र सन्नह्यन्त इति राष्ट्रमाचार्यकुलहेतुकमिति कार्यकारणभावो नैवं व्याप्तिं भजतीति चेन्न। साधारणकारणस्य निगूढस्वभावत्वात्। तथा हि कालस्येश्वरस्य कारणता नैव गोचरी भवति, मूलस्रोतसो निर्गत्य स्रोतोवहा अकूपारं संगच्छन्ति किन्तु मूलस्रोतो न दृश्यतां भजति सर्वत्र, भूमौ निगूढमूलाः खलु पादपा जीवन्ति। अदृश्यमपि तटिन्या जलं तटस्थान् केदारान् सिञ्चति, मातुर्वात्सल्यं कुतो दृश्यते यद्विश्वासेनार्भकः सुखं शेते। निमित्तिजननसमर्थं हि निमित्तं कार्योपभोगकाले न स्मर्यते किन्तु केनापि कालेनानुमीयते। एवमेव सत्याचार्यकुले राष्ट्रमपि स्वरूपं लभते तिष्ठति च, तदभावे च प्रलीयते।

कोऽयं प्रलयो नाम? विकीर्णत्वे सति विशृङ्खलत्वम्। विकीर्णत्वं च स्वेतरानपेक्षकामचारित्वम्; भिन्नसेतुत्वं च विशृङ्खलत्वम्। राष्ट्रस्यैकत्वं समञ्जसमेकमेवाद्वितीयमाचार्यकुलमपेक्षते। आचार्यकुलानां वैविध्यवैमत्यभाजां कलहेन राष्ट्रं विकीर्यते, भिन्नमर्यादाश्च भवन्ति राष्ट्रिणः, पृथक् राष्ट्रं कल्पयन्तः परैः कृतोपजापा जंजप्यन्ते विभेदमन्त्रान्। इयमस्माकं दुःस्थितिर्यत्र दरिद्रतितमां छिद्रशतव्याधिता राजनीतिः, विजेगीयते विगीयमानोपि दुरभिसन्धिः, हीयते मानवता, क्षीयतेनुशासनम्, म्रियन्ते निर्बला, ह्लियन्ते चाबलाः, किं क्रियेतेति रोदिति रोदसीचक्रम्, दूयन्ते दुन्वन्ति च मिथो जनाः। तुरुष्काणां राजत्वकालेऽप्यस्माकमाचार्यकुलं तत्र तत्र पाठशालासु वा गुरूणां गृहेषु वा प्रतिष्ठामलब्ध, येन भारतीयानामाहिमवद्भ्य आ चकुमार्याः सागराम्बरामभिव्याप्य सांस्कृतिकं सामाजिकं चैक्यं राष्ट्रप्राणभूतं व्यवातिष्ठत्।

आङ्गलेष्वपि शासत्सु तदेवाचार्यकुलं रोचते स्म यदद्यत्वे प्रतीयते, तथा च विशीर्यमाणमिव कुसूलं राष्ट्रं न धारणाय क्षमते ।

आस्तां तावत् । बाल्यादारभ्य साम्प्रतिकीषु पाठशालासु विद्यालयेषु महाविद्यालयेषु विश्वविद्यालयेषु चाधुनातनेषु भूयिष्ठं राष्ट्रैक्यपराणि गीतानि मुखाग्रतां नीयन्ते; दूरदर्शनप्रभृतिभिः साधनैः सुतरां लोकस्य भावभूमौ राष्ट्रचैतन्यालोकस्यास्तोकः खलु प्रसारः क्रियते, समाजकल्याणसभाजनासज्जाभिर्दरिद्रता धुतप्रसरा दृश्यते, राजमार्गाणां जालैस्तेषु सरीसर्पद्भिर्वाहनैर्लौहपट्टिकासु धूमयानैरथ च विहायसि परिपतद्भिर्विमानैः प्रतिग्रामं च देदीप्यमानैर्विद्युद्दीपैः सर्वत्र सौकर्यमेव चञ्चुरोतीति कस्मादियं राष्ट्रभावना रोरुदीति कुतो हेतोर्जनो भेदवेदं पापठीति, कथं च नोदेति जातीयो महिमा, किमत्राचार्यकुलेन कृतं स्यादिति ?

अत्र ब्रूमः । आचार्यकुलमेवैकत्वं बृहद् राष्ट्रं निष्ठापयितुं क्षमत इत्युक्तम् । तस्मादृते दिग्भ्रान्त इव लोको दाधाव्यते, दावपरीत इव मृगसमुदायः परस्परं व्याजंघनीति, मूलप्रवाहात् त्रुटितमिव स्रोतो दरिद्राति । तथा हि—

कच्छांशा निचुलैस्तटौ च पिचुलैः शैवालजालं वकैः ।
पङ्कः किञ्चुलुकैरुलूकनिकरैर्ध्वस्तार्धशेषस्तरुः ।
यस्याः कूर्मकुनीरभेकजटिलं नीरं जलौकाचयै—
र्व्याप्तं सा त्रुटिता नदी भवति न स्नानाय पानाय वा ॥

विडम्बनमिव प्रतिभाति यदिमे विद्यालयाः पाश्चात्यसरणिं विचिन्वानास्त्रुटिता इव नदाः सम्प्रति राष्ट्ररक्षायामकिंचित्करा एव । राजते येन तद्धि राष्ट्रं भवति । यथा त्रुटितेन स्रोतसा नैव राजते परिमरस्तथाचार्यकुलेन त्रुटितेन जनपद इति । अविच्छिन्नां खलु चिरल-परम्परामनुरुन्धानमाचार्यकुलं राष्ट्रं सुसंहितं विधत्ते । परम्पराया अधिष्ठानमाचार्यकुलं यत्र न हीयते तत्र राष्ट्रमहीनं सम्पद्यते ।

ननु भिन्नप्रदेशावच्छेदेन संघटमानेषु तत्तद्विद्यालयेषु कालभेदेनापि भिन्नेषु सत्सु कथमिवैकाचार्यकुलपरम्परा भवेदिति चेन्न । परम्पराया एकत्वात् शास्त्रं हि परम्परानुगतं न विच्छिद्यत इत्यत्र तत्तात्पर्यात् । अतो गीतं भगवता—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थिताविति । विधिनिषेधौ प्रति शास्त्रं प्रमाणम्. शास्त्रं च शिष्टाननुरुणद्धि । तथा च श्रूयते—

अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात् । ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः युक्ता आयुक्ताः । अलूक्षा धर्मकामाः स्युः । यथा ते तत्र वर्तेरन् । तथा तत्र वर्तेथा तै० १।११

इमे ब्राह्मणा एव परम्परां व्यवस्थां च वर्तयन्ति । ते हि आचार्यकुलमेकं

निर्मिमते। न हि तत्र द्वैधे सति धर्मो व्यवतिष्ठेत। अविनाशि तत्त्वं ज्ञातवान् ब्राह्मणः। तथा हि—

यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्माल्लोकात् प्रैति स कृपणः।
अथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वास्माल्लोकात् प्रैति स ब्राह्मणः॥

—बृ० ३।८।१०

अक्षरं ब्रह्म परमम्। —गीता

इत्थं च ब्रह्मज्ञ एव स्वरूपतो ब्राह्मण इति तमेवाचार्यकुलमधितिष्ठति। परम्परायां तद् ब्राह्मण चैतन्यं स्तन्यमिव बालमिदं राष्ट्रमुपजीवयति। इदानीमाधुनिकताव्यपदेशेन देशेऽस्माकं काकिणीनीतिर्ब्राह्मणत्वं विश्वतो निगिलन्ती दृश्यत इत्याचार्यकुलहान्या राष्ट्रं विपद्यते; खिद्यते जनः, भिद्यन्ते धर्मसेतवः, छिद्यन्ते शास्त्रोपवनानि, विधिं निषेधं निषेधं च विधिं मन्वानाः पण्डितं मन्यास्तत्र तत्र पदान्यश्नुवाना विद्यन्त इति नीराजकमिव राष्ट्रं सीदति जम्बालजालनिपतितमिव करियूथम्। आचार्यकुलादृते को हन्त निस्तारोपायः ?

अत्राहुः। पुरा नैकमाचार्यकुलं व्यवतस्थे। तथा हि जैनबौद्धादीनां पाखण्डधर्माणां च विद्यमानत्वे मुधा रोरुयते किलाचार्यकुलस्यैकत्वं प्रति। प्राकृतादिभाषासूपनिबद्धेषु तत्तद्धर्मेषु न संस्कृतयैव वाचा व्यवस्था स्वरूपं लेभे। अपि च वैदिका अपि केचिदनीश्वरवादमवाललम्बिरे केचन पुनर्ब्रह्मवादमितरे च वेदमतिरिच्यागमानेव प्रमाणीचक्रुः। परम्पराया विच्छेदे प्रमाणिते कुत आचार्यकुलं राष्ट्राधारत्वं भजेतेति।

अत्रोच्यते। इयमाहोपुरुषिका नैव तथ्यमनुसरति। तथा हि नालन्दायां बौद्धविश्वविद्यालये वेदाः पाठयांबभूविरे तानि तानि च परम्परानुगतानि शास्त्राणि। पाखण्डा अपि श्रुतिस्मृतीरनुसरन्त एव दर्शनानि साधनाभेदांश्च समुपासत। अथ च गीर्वाणवाणी सर्वैरपि परस्तादुपाश्रितेति नातितिरोहितं विदुषाम्। मूलतः प्राकृतमभ्युपयन्तोऽपि बौद्धा जैनाश्च संस्कृतयैव शास्त्रनिबन्धं चक्रुः। किं च नीतिविषये वैमत्यलेशे सत्यपि आर्यावर्तवर्तिनः सदाचारा आचार्यकुलं नातीयुः। आचार्याणां च कुलप्रतिष्ठापनानिष्ठानां सर्वैः सम्मान एव सर्वत्र व्यधायि। अद्यश्वस्तु तत्रैव दुःशीला विलोक्यन्ते जनाः। दर्दुरूढ़ा अङ्ग क्रूरान् कटाक्षान् व्याक्षिपन्ति परिहासजल्पितानि चावकिरन्ति पारम्परिकीषु संस्थासु इत्यहो व्यामोहः।

सर्वं पुराणं न साधु इत्युक्तिः पुराणं सर्वमसाधु इति नाभिप्रैति, न वा सर्वं नवमित्यनवद्यमेव भवति। सन्तः परीक्ष्य प्रत्नां वंशपरम्परामनुरुन्धत एवेति शम्।

□

संस्कृतसाहित्ये पर्यावरणसंरक्षणम्

डॉ० कृष्णनारायण पाण्डेयः

यदा वनवाससमये पाण्डवाः महीसागरसङ्गमतीर्थे समागताः, भीमसेनेन तीर्थकुण्डे प्रविश्य पाणिपादं प्रक्षालितम्। तं च तीर्थरक्षातत्परो बर्बरीको विरुरोध। जलानि तावत् हस्तपादयोः प्रक्षालनायैव कल्प्यन्त इति कथयन्तं च भीमं भीमो बर्बरीको जगाद—

स्नातव्यं तीर्थमुख्येषु सत्यमेतन्न संशयः।
चरेषु किं संविश्य स्थावरेषु बहिः स्थितैः॥
स्थावरेष्वपि संविश्य तत्र स्नानं विधीगते।
न तत्र देवस्नानार्थं भक्तैः संगृह्यते जलम्।
यच्च हस्तशतादूर्ध्वं सरस्तत्र विधीयते।
संवेशेपि क्रमश्चायं पादौ प्रक्षाल्य यद् बहिः।
ततः स्नानं प्रकर्तव्यमन्यथा दोष उच्यते॥

—स्कन्द पु० कुमारिका-खण्ड, ६०।२०-२३

अयं च निष्कृष्टार्थो गीतो घटोत्कचतनयेन बर्बरीकेण—

मलं मूत्रं पुरीषं च श्लेष्मनिष्ठीवितं तथा।
गण्डूषमप्सु मुञ्चन्ति ये ते बसहभिः समाः॥

एवमेव पुराणं भगवत्या भागीरथ्या अपि पावनता संरक्ष्येति उपदिशति—

श्लेष्माणं वापि निष्ठीवं वा गङ्गातीरे करोति यः।
न दृष्टा निष्कृतिस्तस्य कल्पकोटिशतैरपि॥

—पद्म पु० ७।८।६८

श्लेष्माणं वापि निष्ठीवं दूषिकां वाश्रु वा मलम्।
गङ्गातीरे त्यजेद् यस्तु स नूनं नारकी भवेत्॥

—तत्रैव, ७।८।६४

परिधेयाम्बराम्बूनि गङ्गास्रोतसि न त्यजेत् ।
न दन्तधावनं कुर्याद् गङ्गागर्भे विचक्षणः ।।
कुर्याच्चेन्मोहतः पुण्यं न गङ्गास्नानजं लभेत् ।।

—तत्रैव, ७।६।४४-४५

ब्रह्मपुराणे च—

गङ्गां पुण्यजलां प्राप्य चतुर्दश विवर्जयेत् ।
शौचमाचमनं केशं निर्माल्यमघमर्षणम् ।।
गात्रसंवाहनं क्रीडां प्रतिगृहमथो रतिम् ।
वस्त्रत्यागमथाघातं सन्तारं च विशेषतः ।।

वृक्षारोपणस्य माहात्म्यं चापीत्थमेव गीतम्—

दशकूपसमा वापी दशवापीसमो ह्रदः ।
दशह्रदसमः पुत्रो दशपुत्रसमो द्रुमः ।।

□

व्याकरणशास्त्रे भारतैतिह्यम्

डॉ० श्री बालशास्त्री

सर्वोऽपि जनः, आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं जीवमात्रं वा, सर्वविधं सौख्यं खल्वात्मनोऽभिलषति, परिजिहीर्षति च स्वल्पतमामपि दुःखानुभूतिम् । परं चैतन्न केवलया इच्छयैव शक्यते सम्पादयितुम् । तदर्थं कश्चन समुचितोपायमूलकः प्रयासः कश्चन तत्फलोपधायका व्यापारः समाश्रयणीयः स्यात् ।

हैयङ्गवीनहृदयैः करुणामूर्त्तिभिर्महर्षिभिः सर्वजनकल्याणकामनयैव समुपनिबद्धेषु शास्त्रेषु विपुलक्षेमंकराः परमनिःश्रेयसकारणीभूता लोकाभिलषितपदार्थोपलब्ध्युपाया राजन्तेतमाम् ।

लोकः खलु स्वस्य, स्वसमाजस्य, देशस्य, राष्ट्रस्य चोपरि समापतितं, सम्भावितं च आधिभौतिकम् आधिदैविकम् आध्यात्मिकं सर्वविधमपि कष्टजातम् उपायान्वेषणपरया पारस्परिक्या विचारचर्चया, स्वाभिप्रायप्रकाशन-परेणोहापोहेन अन्वयव्यतिरेकमनीषया व शक्नोति निवारयितुम्, प्रभवति च सुखसम्पादिकां परिस्थितिं कल्पयितुम् । स्वाभिप्रायस्य स्फुटं प्रकाशो न याथातथ्येन विना वाचं सम्भवतीति, वाक्च शब्दमयीति लोकोपकारायैव व्याकरणशास्त्रापरनामधेयस्य शब्दशास्त्रस्य महर्षिभिर्विहितः समुद्भावः प्रासंगिको बभूव । तथा चाह भगवतीश्रुतिः—

अस्तमिते आदित्ये, चन्द्रमस्यस्तमिते, याज्ञवल्क्य ! शान्ते चाग्नौ किं ज्योतिरयं पुरुषः ? वागेवास्य ज्योतिर्भवति, वाचैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते, पल्ययते कर्म कुरुते याज्ञवल्क्य ! (बृ० उप० ४/३/५) काव्यादर्शे कविर्दण्डी अपि ब्रूते 'इदमन्धं तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम् । यदिशब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं नदीप्यते ।

वाक्च व्याकरणशास्त्रनियन्त्रितैव धार्यते लोकैः । तथा चोक्तं "वाणी व्याकरणोज्झिता" इति ।

तदेवं व्याकरणशास्त्रेणापि सह लोकानां विद्यते खल्वभेद्यः सम्बन्धः। अतोऽत्र व्याकरणशास्त्रे लोकस्य तात्कालिकं वास्तविकं चित्रं पाणिनीयसूत्रेषु महाभाष्य-पङ्क्तिषु शक्नुमो निभालयितुम्। यतो हि तत्र क्रियासमभिहारेण लोकचर्चां कुर्वाणः, लोकव्यवहारेण च शास्त्रार्थनिर्णयं विदधानो दृष्टिपथमवतरति भाष्यकारः। सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे इत्यत्र सिद्धशब्दः कथमुपात्तः, कथं वा वृद्धिरादैच् (१/१/१) इति सूत्रे संज्ञावाचकं वृद्धिशब्दमादितः प्रयुंक्ते आचार्यः इति प्रश्नस्य "लोकमंगलकामना" एव समाधानं भाष्यकृता विहितम्। तथा हि—

> **"मांगलिक आचार्यो महतः शास्त्रौघस्य मंगलार्थं सिद्धशब्दमादितः प्रयुंक्ते,··· ······अध्येतारश्च सिद्धार्था यथा स्युः [पस्पशा] तदेकम् आचार्यस्य मंगलार्थम् मृष्यताम्। मांगलिक आचार्यः मंगलार्थं वृद्धिशब्दमादितः प्रयुंक्ते। इति लोकव्यवहाराधारेण शास्त्रीयार्थसाधकानि खलु भाष्यवचांस्यपि महाभाष्य यत्र तत्र बहुलं विकीर्णानि। यथा "अथवा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते।"**

लोके ह्यर्थवन्ति चानर्थकानि च वाक्यानि दृश्यन्ते। "लोके तावन्मातापितरौ पुत्रस्य जातस्य संवृतेऽवकाशे नाम कुर्वाते।" (१/१/१), "अथवा अस्थानेऽयं यत्नः क्रियते, नहीदं लोकाद् भिद्यते।" (१।१।१), "लोकविज्ञानात् सिद्धम्।" (६।१।१) इति।

सामाजिकी स्थितिः

यतो लोकानाश्रित्यैव प्रसरति भाषा, अतो भाषालोकयोः परस्परं विद्यतेऽभेद्यः सम्बन्धः इति न तिरोहितं प्रेक्षावताम्। अत्र भाषायां लोकजीवनसम्बन्धिनो नाना विधाः शब्दा व्यवहारदशायामावश्यकतानुसारमुत्पद्यन्ते, केचन विलीयन्ते इति शब्दानामपि जीवनकालो भवति। केषां चित् स्वरूपपरिवर्त्तनं, केषां चिदर्थपरिवर्त्तनमपि जायते शब्दानाम्। इमे च उत्पन्नाः, उत्पद्यमानाः, विलयं गताश्च शब्दा तात्कालिकीं सामाजिकीं स्थितिं परिवर्णयन्ति, उद्घाटयन्ति च लोकानां पारस्परिकं व्यवहारं, प्रकाशयन्ति च राजनीतिकीं व्यवस्थाम्। महर्षिः पाणिनिश्च स्वसमकालिकानां प्रचलित-लोकजीवनसम्बन्धिनां शब्दस्वरूपाणां सूक्ष्मतमं वैज्ञानिकं विवेचनं विधाय तेषां निष्पत्त्यर्थं यथायथं सूत्राणि निर्ममौ। अतः तदादर्शेन तात्कालिक-लोक-प्रति-बिम्बावलोकनं न दुःशकम्।

चातुर्वर्ण्यम्

तदानीन्तनसमाजस्य व्यवस्था वर्णान् आश्रमांश्चाश्रित्य प्रचलति स्म। गुण-वचनब्राह्मणादिभ्यः (५।१।१२४) धर्मशीलवर्णान्ताच्च (५।२।१३८) इति सूत्रयोः

ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्राणामेषां चतुर्णानां वर्णानामुल्लेखो गणे उपलभ्यते । महाभाष्ये च "तेन तुल्यं क्रिया चेत्" (५।१।११५) इति सूत्रे "सर्वे एते शब्दा गुणसमुदायेषु वर्तते, ब्राह्मणः, क्षत्रियः। वैश्यः, शूद्र इति इत्यैवं चतुर्णा वर्णानां विद्यते चर्चा । अन्यासामपि जातीनां समुद्भवस्तदा समजायत इति कतरकतमौ जातिपरिप्रश्ने (२।१।६३) इति सूत्राज्ज्ञायते । जातेरस्त्रीविषयात् (४।१।६३) इति सूत्रे भाष्यकृता गोत्रं च चरणैः सह इत्यैवं जातिपरिभाषां विदधता एतयोर्जातित्वमुररीकृतमेव । अत एव जातिपरिप्रश्नावसरे कतरः कठः, कतमः कालापः इत्येवं पृच्छाऽऽसीत्प्रचलिता । पाणिनैः काले गोत्र-चरण-भेदानुसारेण बह्वीनां जातीनां समुद्भवः समुदियाय । अतः गोत्र-प्रकरणनाम्नां सहस्रं प्रायो दृश्यते, येषां खलु भिन्न-भिन्न-जातिरूपेण सामाजिकं संगठनमपि मूर्त्तरूपतां दधौ । पाणिना गोत्रत्वेनोक्तानां व्यक्तीनां जातीनां नाम्नां ध्वंसावशेषः पंजाब-सिन्ध-सीमान्त प्रान्तीयजातिषु उपनामरूपेणोपलभ्यते । यथा अरोडा-खत्रीजातौ कंवर-हंस-चोपे-खेत-इत्यादयो नडादिगणाश्वादिगणविकादिगण-पठिताभिः कुमार हंसक-चौपायन-क्षैतयतादिभिरुपजातिभिः सम्बद्धा विद्यन्ते । अतो विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः (६।३।२३) इति सूत्राद् विज्ञायते यत्तस्मिन्काले योनिसम्बन्ध-विद्यासम्बन्धाभ्यां सामाजिकं संगठनं समाभूत् । योनिसम्बन्धो गोत्ररूपेण विद्यासम्बन्धश्च चरणरूपेण जातिरूपतां दध्रे ।

ब्राह्मणः

महाभाष्ये ब्राह्मण-क्षत्रिय-विट्-शूद्राः इत्यैवं येन क्रमेण चतुर्णा वर्णानामुल्लेखो विहितः, स एव क्रमः सामाजिकसम्मानस्याप्यासीत् । समाजे ब्राह्मणस्य स्थानं प्रथमं बभूव । ब्राह्मण-मातापितृभ्यां समुत्पन्नो विद्वान्, ब्राह्मणाहितकर्मकर्त्ता, सदाचार-शील-सम्पन्नो जनो ब्राह्मणपदेनोच्यते स्म । जन्मना तपसा, शास्त्राभ्यासेन ब्राह्मणत्वं परिष्क्रियते स्म । विद्यया तपसा च हीनो जातिब्राह्मणः, ब्रह्मबन्धुः इत्यादिशब्दैर्व्यवह्रियते स्म । ब्राह्मणः प्रायशः गौरवर्णः, शुद्धाचरणः, पिंगलाक्षः कपिलकेशश्च भवति स्म । तपः स्वाध्यायरतत्वं तस्य विशेषाधायको गुण आसीत् । आचारशून्यो मर्यादोल्लंघन-कर्त्ता ब्राह्मणः समाजे हीनां स्थितिं लभमानो जायते स्म । ब्राह्महत्या महापातकेषु गणिता । गच्छता शयानेन भक्षणम्, उत्तिष्ठता मूत्रत्यागः एते ब्राह्मणस्य कदाचारा आसन् । तपस्वी, विद्वान् सदाचारसम्पन्न ब्राह्मणः समाजे परमां प्रतिष्ठां प्राप्नोतिस्म ।

क्षत्रियः

समाजे द्वितीयं स्थानं क्षत्रियस्य आसीत् । ब्राह्मणवर्णात् किंचिदेव न्यूनो गण्यतेस्म क्षत्रियः । क्षत्रियेषु ये शासकास्ते राजन्या इत्युच्यन्ते स्म । पश्चात् राजन्यम् उपजातिरप्यभूत् क्षत्रियेषु । राजन्यानां निवासदेशोऽपि राजन्यपदेन स्मोच्यते ।

ब्राह्मणवत् क्षत्रियाणामपि गोत्राः स्वतन्त्रा जातयो वा आसन् । राजन्यानां समुदायो राजन्यकशब्देन व्यवह्रियते स्म । क्षत्रशब्दोपि क्षत्रियवाचकः । रक्षणविधानादिविशेष-विद्यानिष्णाताः क्षत्रिया क्षत्रपदवाच्या भवन्ति स्म । समाजस्य रक्षणं तेषामासीत् प्रथमं कर्त्तव्यम् । क्षत्रियनाम्नोऽन्ते वर्मन् इति शब्द प्रयुज्यते स्म ।

वैश्यः

वैश्यो विट् इति शब्देनोच्यते स्म । क्षत्रियात् किंचिन्यूनो भवति स्म वैश्यः । समाजे तस्य तृतीयं स्थानम् अभूत् । तस्य नाम गुप्तपदान्तं पालितपदान्तं वा जायते स्म । अतोनुमीयते यत्ते समाजेन रक्षिताः स्म भवन्ति । विशां मुख्यं कर्म धनानां सम्पत्तीनामुत्पादनं वर्द्धनं चासीत् । महाभाष्ये माण्डजग्धिः, कार्णखरकिः इत्येवं द्वयो-र्वैश्यगोत्रयोर्नाम्नी लभ्येते । आर्यः स्वामिवेश्ययोः (३।१।१०३) इति पाणिनिसूत्रा-नुसारं वैश्यस्य कृते अर्थशब्दोपि प्रयुज्यते स्म ।

शूद्रः

समाजे शूद्रस्य स्थानं सर्वान्ते विद्यते । ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्येभ्य इतरे जनाः, आर्यावर्त्तदेशवासिनो तद्बाह्ये देशे निवस्तारो वा, सर्वे शूद्रपदेन स्म व्यवह्रियन्ते । शूद्राणामनिरवसितानाम् (२।४।१०) इति पाणिनिसूत्रानुसारम् अनिरवसित-निरवसित भेदेन शूद्राः द्विविधा आसन् ययोः प्रथमे त्रैवर्णिकसमाजस्य अंगभूता गण्यन्ते स्म । तक्षा, अयस्कारः, रजकः, तन्तुवायः, एते अनिरवसिता शूद्राः । यैर्व्यवहृतं त्रैवर्णिकानां भोजनपात्रम् अग्न्यादिनापि शुद्धि न भजते, एतादृशाः पात्राद्बहिष्कृता निरवसिताः शूद्राश्च चाण्डाल-मृतपादय आसन् । एतेषां निरवसितानां शूद्राणां निवसतिर्भवति स्म ग्रामाद् बहिः ।

आचारशून्या द्विजा अपि शूद्रवद् व्यवहृता जायन्ते स्म । ब्राह्मणात् शूद्राया-मुत्पन्नो वृषल-शूद्र इति कथ्यते स्म । अयमभक्ष्यभोजी सुरापी च भवतीति अस्य स्थानम् समाजे अतिनिकृष्टम् आसीदिति महाभाष्यादवबुध्यते । घृणायाः स्थानमेवायं शूद्र आसीत् । आर्यावर्त्तदेशाद् बहिर्निवासिनामपि केषांचिद् वैदेशिकानां शक-यवनेत्यादीना-मपि शूद्रेषूल्लेखो महाभाष्ये उपलभ्यते । शूद्रेषु आभीरा सर्वश्रेष्ठा आसन् इति एषाम्महा-शूद्रसंज्ञया ज्ञायते ।

आर्याः, दासाश्च

आर्ययुवा आर्यकृता, आर्यकुमार, आर्यनिवास इत्यादयः शब्दा आर्याणां सन्दर्भे भाष्य उपलभ्यन्ते । त्रैवर्णिका आर्यशब्देनोच्यन्ते । आर्यौ ब्राह्मणकुमारयोः (६ २.५८) इति सूत्रे आर्यशब्दस्य ब्राह्मणार्थे प्रयोगो विद्यते आर्यब्राह्मण इति । तत्र आर्यक्षत्रिय इति प्रत्युदाहरणात् क्षत्रियस्यापि आर्यता सिद्धा ।

दासास्त्रैवर्णिकेभ्यो बहिर्भूता भवन्ति स्म। एतेषां द्रव्येण क्रयणं परिक्रयणं च स्म जायते। ये नियतकालार्थं द्रव्येण स्वायत्तीकृता भृत्यास्ते परिक्रीतदासाः, ये च आजीवनं कार्यसम्पादनार्थं द्रव्येण गृह्यन्ते स्म ते क्रीतदासा इति दासानामासीद्द्वैविध्यम्। पण्यकम्बलो दासीभाराणां च (६।२।४२) इति सूत्रे दासीभारशब्दः कदाचिद्दास्याः कृते दीयमानद्रव्यस्य बोधकः।

चत्वार आश्रमाः

महाभाष्ये ब्राह्मणादिषु चतुर्वर्णादीनामुपसंख्यानम् इति वार्त्तिकस्य चातुराश्रम्यम् इत्युदाहरणं लभ्यते। ब्राह्मणादिगणस्योल्लेखः गुणवचनब्राह्मणादिभ्य कर्मणि च (५।१।२४) इति पाणिनीयसूत्रे विद्यते। तस्मिन् काले जीवनं चतुर्षु भागेषु विभक्तं भवतिस्म। प्रतिभागं चाश्रमपदेन व्यवह्रियते स्म। ब्रह्मचर्याश्रम-गृहस्थाश्रम-वानप्रस्थाश्रमसन्यासाश्रमा इति च ते। पाणिनीयसूत्रेषु वर्णाद् ब्रह्मचारिणि (५।२।१३४), गृहपतिना संयुक्ते (४।४।९०), सनाशंसभिक्ष उः (३।२।१६८), मस्करमस्करिणौ वेणुपरिव्राजकयोः (६।१।१५४) एतेषु ब्रह्मचारि-गृहपतिभिक्षु-परिव्राजकानां चतुर्णांचर्चा विद्यते। एते चत्वार आश्रमा चातुराश्राम्यम् इति पदेन कथ्यन्ते। पाणिनिकाले आश्रमव्यवस्था परमं महत्त्वं भेजे।

ब्रह्मचारी

यज्ञोपवीतसंस्कारानन्तरं वेदाध्ययनार्थं गुरोराश्रमं गत्वा छात्रः ब्रह्मचर्यव्रतमास्थाय निवसति स्म। इयमेव तस्य ब्रह्मचर्याश्रमसेवा। त्रैवर्णिकाध्येता ब्रह्मचारी वर्णी इत्यप्युच्यते स्म। ब्रह्मचर्याश्रमे त्रैवर्णिकानामेवाधिकारः। ब्रह्मचारिणः कृते कतिपये विशेषा आसन्नियमाः, येषाम्पालनं तेन कर्त्तव्यं भवति स्म, यथा दण्डधारणम्, अग्न्युपासनम्, वेदाध्ययनम्, गायत्रीमन्त्रजपः, गुरुशूश्रूसा, भिक्षाटनं चेति। सामान्यतः द्वादशवर्षम् ब्रह्मचर्यकालः। विशेषपरिस्थितौ न्यूनाधिकभावोपि भवतिस्म।

वेदाध्ययनसमाप्तौ गुरोराज्ञामधिगम्य गृहस्थाश्रमं प्रविविक्षुः स्नातक इत्युच्यते।

विवाहः

उपाद्यमः स्वकरणे (१।३।५६) इति सूत्रानुसारं विवाहः, उपयमनम्, स्वकरणम् एते पर्यायाः। पत्युः भाविन्याः पत्न्याः पाणेर्ग्रहणे यथाशास्त्रविहिते सति विवाहसंस्कारस्य पूर्णता जायते स्म। नित्यं हस्ते पाणवुपयमने (१।४।७७) इति सूत्रानुसारं सा भार्या पाणिगृहीता भार्या भवति स्म। गृहस्थाश्रमे प्रविष्टो जनो गृहपतिरित्युच्यते स्म।

स्त्रीशिक्षा

तस्मिन् समये शिक्षाक्षेत्रेपि स्त्रीणाम्पूर्णः प्रवेश आसीदिति चरणसंज्ञकेषु वैदिकशिक्षाकेन्द्रेषु प्रविष्य आसन्निमा अधीयानाः। जातेरस्त्रीविषयात् (४।१।६३) इति सूत्रे कठी, बह्वृची इत्युदाहरणं भाष्ये लभ्यते। कृष्णयजुर्वेदस्य शाखाया एकचरणः कठसंज्ञको विद्यते। कठश्चायं महर्षेर्वेशम्पायनस्यान्तेवासी। कठेन प्रोक्तां शाखामधीयाना कठी भवति, एवमेव बह्वृचेन प्रोक्तां शाखामधीयानां बह्वृची इति। व्याकरणमीमांसादिवेदांगेष्वपि आसन् इमाः कुशला इति पाणिनीया, आपिशला, काशकृत्स्ना इति भाष्योदाहरणैर्विज्ञायते।

जीविकासाधनम्

तस्मिन् समये जीविकया मुख्यं साधनम् (१) कृषिः, (२) वाणिज्यम्, (३) पशुपालनं बभूव। तत्र कृषिशब्देन सामान्यतः क्षेत्रेषु बीजवपनार्थं हलस्य संचालनमेव बुध्यते, परं भाष्यकृता शब्दस्यास्य व्यापकार्थकत्वं सम्पादितम्। भाष्यकारमते न केवलं विलेखनमेव कृषेरर्थः, अपि तु बीजानांमुचितानां संग्रहणम्, कृषियोग्यबलीवर्दानाम् पालनम्, कर्मकाराणां व्यवस्था तेषाम्भोजनप्रबन्धः, इत्यादिकं सर्वमपि कृष्धातोरर्थः तथा चाह हेतुमति च (३।१।२६) इति सूत्रे भगवान् भाष्यकारः —

> **"नाना क्रियाः कृषेरर्थाः। नावश्यं कृषिर्विलेखने एव वर्त्तते।**
> **किं तर्हि; प्रतिविधानेऽपि वर्त्तते। यदसौ भक्त-बीज-बलीवर्दैः**
> **प्रतिविधानं करोति स कृष्यर्थः।" इति**

रजः कृष्यासुतिपरिषदः (५।२।११२), हलसूकरयोः पुवः (३।२।१८३), हलसीराट्ठक् (४।४।८१), मुण्डमिश्रलक्षण (३।२।२१), विपूयविनीयजित्या (३।१।११७), मतजन-हलात् (४।४।९७), तस्य वापः (५।१।४५), मूलमस्याबर्हि (४।४।८८), किरतौलवने (६।१।४०), खलगोरथात् (४।१।२।५०) इत्यादिसूत्रेषु कृषीवल-हल-हल्य-हलि-कर्ष-वाप-मूलावर्हण-लवन-खल-निष्पावादि-कृषिसम्बन्धिनाम्बहूनां शब्दानामुल्लेखो लभ्यते। कृषिवृत्तिको जनः कृषीवल इत्युच्यते स्म। यस्य सविधे स्वकीयं हलं न भवति सोऽहलिः कृषीबलः, यस्य नूतनं सुन्दरं हलं स सुहलः, एतद्विरुद्धं यस्य पुरातनं, छिन्न-भिन्नं हलं स दुर्हलः कृषीवल इति त्रिविधा भवन्ति स्म कृषकाः क्षेत्रं च हल्य-सीत्यो-पर-गोचर-व्रजादिभेदेन नानविधमासीत्। हलेनकर्षणयोग्यं क्षेत्रं हल्यम्, सीतालाङ्गल-पद्धतिः, तया सम्मितं क्षेत्रम् सीत्यम्। क्षारयुक्तं कृषेरयोग्यं क्षेत्रभूषरम्, यत्र गावश्च-रन्ति तत्क्षेत्रं गोचरभूमिः। ग्रामसमीपदेशे गवादिपशूनां चरणार्थं त्यज्यते स्म भूमिः, येन पशवस्तत्र पोषं प्राप्नुयुः। यत्र च पशवो गवादयो निवसन्ति तत्स्थानं व्रजक्षेत्रम् इत्युच्यते स्म।

क्रय-विक्रयणरूपस्य वाणिज्यस्य कृते व्यवहारशब्दः प्रयुज्यते स्म। पणशब्देन

स्थानीयं क्रयविक्रयणमुच्यते स्म। क्रयविक्रयस्थलं च आपणशब्देन। विक्रयणार्थं स्थापितं वस्तुजातं पण्यम्, क्रय्यम् इत्याभ्यां निर्दिश्यते स्म। क्रयणवृत्त्या यो जीवति स क्रयिकः, विक्रयेण यो जीवति स विक्रयिकः, क्रयेण विक्रयेण च व्यवहरन् क्रयविक्रयिकः (भाषयाम् दलाल) इति इत्युच्यते स्म। काले तस्मिन् प्रायः सर्वेणामेवावश्यकवस्तूनां क्रयविक्रयो जायते स्मेति वाणिज्यमुन्नतावस्थायामासीत्। क्रयविक्रयसाधनं स्वर्ण-रजत-ताम्र-कांस्यादि-धातुनिर्मिता मुद्रा आसन्। वस्तुविनिमयेनापि व्यवहारः प्रचलति स्म।

पशवः

पशुपालनेनापि जीविकां निर्वहन्ति स्म तदा। तत्र गावः, बलीबर्दाः, अश्वाः अश्वतराः, खराः, उष्ट्राः, एतेषां पशूनाम्पालनं जायते स्म गजानामपि। भारताद् बहिस्थानादपि अश्वानामायातो भवति स्म। एतेषाम्पशूनां क्रयविक्रयणेन धनोपार्जनं सम्पाद्यते स्म।

भौगोलिकी स्थितिः राष्ट्रस्वरूपञ्च

महर्षिणा पाणिनिना सूत्रेषु प्राचीनानां ग्राम-नगर-जनपद-प्रदेश-द्वीप-वनपर्वत-नदी-समुद्राणां नामानि निर्दिश्य भूगोलसम्बन्धिनी प्रचुरा प्रामाणिकी च सामग्री गवेषकाणां कृते समुपस्थापिता। एशियामध्यमारभ्य कलिङ्गं यावत्, एवं वर्त्तमानसिन्धप्रदेशाभिन्नसौवीराद् असमप्रदेशीयसूरमसं यावद् प्रसृतस्य भूभागस्य स्थानानां नामानि अत्राष्टाध्याय्यां महाभाष्ये च समुपलभ्यन्ते। अतो ज्ञायते यद्देशोऽयं चतसृष्वपि दिशासु व्यवहाराचारेणासीत् सम्बद्धः। व्याकरणशास्त्रप्रवर्त्तकाश्चेमे मुनयः सर्वेषां देशानां, तत्र व्यवह्रियमाणानां शब्दानां च याथातथ्येन विज्ञा अभूवन्। महाभाष्ये खलु आर्यावर्त्तदेशस्य सीमा निम्नरूपेण वर्त्तते निर्दिष्टा।

"कः पुनरार्यावर्त्तः। प्राग् आदर्शात्, प्रत्यक् कालक वनात्, दक्षिणेन हिमवन्तम्, उत्तरेण पारियात्रम् इति (२।४।१०)।

महाभाष्यकारेण भारतवर्षस्य विभागो दिशाः आधारीकृत्य सम्पादितः वाहीकप्रदेशादग्रे वर्त्तमानं देशम् उदीच्यनाम्ना विन्ध्याद्दक्षिणदिक्स्थं च देशं दक्षिणापथ इति संज्ञया व्यवहरति भाष्यकारः (४।२।१०४)।

पाणिनीयसूत्रेषु च पश्चिमोत्तरदिशि परां प्रसिद्धिं गतायाः कापिशीराजधान्याः, (कापिश्याः ष्फक् ४।२।९९) ततोऽप्युत्तरदिशिवर्त्तमानस्य कम्बोजजनपदस्य (कम्बोजाल्लुक् ४।१।१७५), ततः पूर्वस्मिन् प्रदेशे प्रतिष्ठितस्य कूचवारप्रदेशस्य (तूदीशलातुरवर्मतीकूचवारात् ४।३।९४), तक्षशिलातो दक्षिणपूर्वस्यां दिशि वर्त्तमानस्य मद्रजनपदस्य (मद्रवृज्योः कन् ४।२।१३१), ततो दक्षिणदिशिवर्त्तमानयोः उशीनरशिविजनपदयोः (विभाषोशीनरेषु ४।२।११८), उल्लेखो विद्यते। एवमेव वर्त्तमानपंजाबप्रदेशादुत्तरपूर्वदिक्स्थितस्य, त्रिगर्तदेशस्य दामन्यादित्रिगर्त्तषष्ठात्

(५।३।११६), ततो दक्षिण पूर्वाशायां प्राच्यभरतप्रदेशस्य, समुद्रतटप्रदेशे विद्यमानस्य कलिङ्गस्य, सूरमसस्य, अन्येषां च काशि-कुरु-प्रत्यग्रथादिक्षेत्राणां चर्चापि यथास्थानं दृष्टिपथमवतरति ।

पर्वतेषु हिमवतः, वैशन्तहिमवद्भ्यामण् (४।४।११२), त्रिककुदः, त्रिककुत् पर्वते (५।१।१४७), वैडूर्यमणेरुद्भवस्य विदूरपर्वतस्य, विदूरात् (४।३।८४), वन-गिर्योः संज्ञायां कोटरकिंशुलकादीनाम् (६।३।११७), इति सूत्रीयकिंशुलकादिगणे पठितानां किंशुलकागिरि-शाल्वकागिरि-भंजना गिर्यञ्जनागिरि-लोहितागिरि-कुक्कुटा-गिरि, इति षण्णां गिरीणां संकेत उपलभ्यते । तेषु हिमवान् हिमालय इति नाम्ना प्रसिद्धः, त्रिककुदपि शृङ्गत्रययुतस्य हिमवतः एव कस्यचिद्भागस्य नाम इति प्रतिभाति विदूरश्च दक्षिणदेशस्य बीदरनामकः पर्वतः स्यात् । किंशुलकागणपठितपर्वतानां तु न याथातथ्येन जायते प्रत्ययः ।

वनं पुरगा मिश्रका (८४।४) इति सूत्रे पुरगावणम्, मिश्रकावणम्, सिध्रका-वणम्, शारिकावणम्, कोटरावणम्, अग्रेवणम् इति षण्णां वनानां निरूपणं विद्यते । तत्र गणरत्नमहोदधिकारानुसारम् पुरगावणाम् पाटलिपुत्रनगरसविधे कस्याश्चित् पुरगायक्षिण्या नाम्ना प्रसिद्धिमागतमिदंवनम् इति । मिश्रकावणं च नैमिषारण्यसविधे मिसरिखा इत्येवं परिचीयमानं वनं स्यात् । सिध्रकावणम् इन्धनकाष्ठस्य वनं भवेत् । अग्रेवणं च अग्रजनपदसमीपस्थं वनम् इति सम्भाव्यते । एवमेव शरवणेक्षुवणा-प्लक्ष-वणादीनामन्येषामपि वनानां वर्त्तते सूत्रे समुल्लेखः । एतेषां क्व स्थितिरिति अयं वर्त्तते शोधविषयः ।

भिद्योध्यौ नदे (३।१।११५), उदक्च विपाशः (४।२।७४), सिन्धुतक्षा ४।३।९३), मतौ बह्वचः (६।३।११९), शरादीनां च (६।३।१२०), दाण्डिनायन (६।४।१७४), देविकाशिंशपा (७।३।१), आसंदीवत् (८।२।१२), एतेषु सूत्रेषु भिद्यो-द्ध्यविपाशा-सिन्ध्वजिरवती-शरावती-सरयू-देविकाचर्म्मणवतीत्यासां नवानां नदीनां नामानि दृश्यन्ते । तत्र भिद्योद्ध्योः परिचयो नोपलभ्यते । वर्षाकाले एव प्रकटितस्व-रूपाविमौ नदौ कदाचिल्लुप्तौ भवेताम् । रघुवंशकाव्ये "तोयदागम इवोद्ध्यभिद्ध्ययो-नमिधेयसदृशं विचेष्टितम् ।" (११।८) इत्येवम् उल्लेखो दृश्यते । सिन्धुनदो इदानीं सिन्धनाम्ना प्रसिद्धा । विपाशा पंजाबप्रान्ते व्यासनाम्ना व्यवह्रियमाणा, अजिरवती च राप्ती इति नाम्ना, शरावती कुरुक्षेत्रप्रदेशे घग्घर इतिसंज्ञया प्रवहमाना, सरयू खलु अयोध्यायां वन्दनीयतां गता, देविका च, मद्रप्रदेशे, विन्ध्यप्रान्ते हि चम्बलनाम्ना प्रसिद्धा चर्मण्वती विद्यते । नदीमार्गेण समुद्रमार्गेण च व्यापारो जायते स्म ।

इत्येवं लोकजीवनस्य सम्बन्धिनां सर्वेषामपि पदार्थानां विषयाणां च व्याकरण-शास्त्रे दिग्दर्शनं वर्त्तते येन तात्कालिकस्य लोकजीवनस्य सर्वांगीणं परिचयं याथा-तथ्येन शक्नुमो वयं कर्त्तुमिति संक्षेपः ।

□

अथर्ववेद में राष्ट्रिय भावना

डॉ० राजेश्वर मिश्र

संस्कृत भाषा के व्याकरण की प्रकृति एवं प्रक्रिया के अनुसार 'राष्ट्र' शब्द की निष्पत्ति दीप्त्यर्थक राज् धातु से हुई है जिसमें औणादिक 'ष्ट्रन्' प्रत्यय जोड़ा गया है।[१]

'राष्ट्र' शब्द राजनीति-शास्त्र का एक अति महत्त्वपूर्ण शब्द है। आँगलभाषी राजनीति-शास्त्रियों ने 'राष्ट्र' शब्द के लिए (Nation) शब्द का प्रयोग किया है। ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में राज्य या राजकीय क्षेत्र को 'राष्ट्र' कहा गया है।[२] ऐ० ब्रा० में प्रजा को राष्ट्र कहा गया है[३] और क्षत्र को भी राष्ट्र कहा गया है।[४] क्षत्र शब्द देवों और मनुष्यों द्वारा प्रयुक्त किये जाने वाले राज्य, शासन या शक्ति के अर्थ में सामान्यतः प्रयुक्त है।[५] 'राष्ट्र' का पर्यायवाची शब्द 'राज्य' अथर्ववेद एवं परवर्ती साहित्य में "सार्वभौम सत्ता" के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[६]

'राष्ट्र'-सम्बन्धी उपर्युक्त सारे अर्थों से यह निष्कर्ष निकलता है कि, जन-समुदाय, सांस्कृतिक, धार्मिक भाषागत जातीय एवं भौगोलिक एकता, राजनैतिक आकांक्षा, आत्मीयता आदि राष्ट्र के मुख्य तत्त्व हैं। इनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि जब किसी जनसमुदाय के सदस्य अपने आचार-विचार, रीति-रिवाज, रहन-सहन, जप-तप, पूजा-पाठ; दान-दक्षिणा, तन्त्र-मन्त्र, जादू-टोना, शगुन-अपशकुन, लोक-परलोक, देवी-देवता आदि के विषय में समान धारणाओं के आधार पर पारस्परिक आत्मीयता तथा ऐक्य का अनुभव करते हैं; विभिन्न उप-धर्मों के होते हुए भी किसी मौलिक धर्म के प्रति समानभाव से आस्थावान् रहते हैं; बोलियों और भाषाओं की विविधता होने पर भी एक-एक भाषा और साहित्य पर निष्ठा रखते हैं; अपनी संस्कृति, भाषा, धर्म तथा आत्मसम्मान की रक्षा के लिए वर्तमान राजनैनिक सम्प्रभुता की रक्षा-सुरक्षा की भावना तथा सर्वजनकल्याणकारी स्वतन्त्र राजनैतिक सत्ता प्राप्त करने की भावना रखते हैं तो वह जनसमुदाय एक 'राष्ट्र' के नाम से अभिहित किया जाता है। अपने राष्ट्र की भूमि, जन समूह, संस्कृति, सभ्यता, इतिहास, धर्म, साहित्य, कला, राजनीति, जीवन-दर्शन आदि के प्रति लोगों के मन में गरिमा एवं महिमा के नैसर्गिक स्वाभिमान की भावना को 'राष्ट्रिय भावना' कहा जाता है।

राष्ट्र की भौगोलिक सीमा की सर्वात्मना सुरक्षा एवं रक्षा करने की भावना, राष्ट्र के प्रति सर्वाधिक प्रेम-भावना, राष्ट्र की भौतिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक सम्पदा के प्रति आत्मीयता एवं स्वाभिमान की दृढ़ भावना, राष्ट्र के विकास की निष्ठा, राष्ट्र के किसी भी क्षेत्र विशेष अथवा जनसमूह की प्राकृतिक विपत्ति को अपनी विपत्ति मानकर उसका यथाशक्ति तन-मन-धन से निराकरण करना, राष्ट्र की गरिमा एवं महिमा को प्रतिष्ठित बनाये रखने की अदम्यभावना, किसी अन्य राष्ट्र के प्रति हीनता एवं घृणा की भावना न रखना तथा अन्तर्राष्ट्रिय भावना के प्रचार-प्रसार में क्रियाशील आस्था रखना आदि राष्ट्रिय भावन के कतिपय मौलिक तत्त्व हैं।[७]

संस्कृत भाषा में वाङ्मय का श्री गणेश वेदों के आविर्भाव से होता है। क्योंकि हमारी अति प्राचीन चिन्तन परम्परा का मूल वेद ही हैं। हमारे ऋषियों ने वेदों में मानव जीवन के विविध आयामों के साथ स्वदेश-भक्ति, स्वदेश प्रेम अथवा राष्ट्र-प्रेम के भावों को भी उजागर किया है। क्योंकि उन्हें यह तथ्य भली-भाँति विदित था कि अपनी सामूहिक सम्मान पूर्ण सत्ता के लिए अपनी धरती और देश की तन-मन-धन से सुरक्षा अनिवार्य है। इसके लिए अपने देश और अपनी राष्ट्रभूमि के प्रति निष्ठावान्, उसकी उन्नति के लिए क्रियाशील एवं अस्तित्व की रक्षा के लिए सदैव संगठित रहना परमावश्यक है। यही सोचकर भारतीय ऋषियों ने यहाँ के जनमानस में देशप्रेम अथवा राष्ट्रप्रेम की अदम्य भावना भरने के लिए वेदों में अनेक स्थलों पर अपनी मातृभूमि की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है।

अपने देश को, अपनी भूमि को माता मानने की भावना सर्वप्रथम वेदों में ही उपलब्ध होती है।[८] इन वेदों में अथर्ववेद का स्थान सर्वोपरि है। क्योंकि इसमें आथर्वण ऋषि ने माता पृथिवी का माहात्म्यगान समस्त पार्थिव पदार्थों की जननी तथा पोषिका के रूप में किया है।[९] अपनी जन्मभूमि के लिए अथर्ववेद में इस ऋषि ने अनेक विशेषताओं का उल्लेख किया है। इन्होंने पृथिवी को सुखदायिनी, अभयप्रदा, निवास प्रदान करने वाली, कल्याणकारिणी तथा आनन्द-स्यन्दिनी और अभीष्ट अन्न, जल, घी, दूध से परिपूर्ण कहकर भूमि के प्रति अपनी रागात्मक आत्मीयता प्रदर्शित की है।[१०] उनका कहना है कि हमारी भूमि सब प्रकार से सम्पन्न है। यहाँ अनेक प्रकार की औषधियाँ पाई जाती हैं।[११] झरने, सरोवर, नद-नदियाँ और सागर जन-जीवन में परमोपयोगी जल की पर्याप्त सम्पूर्ति करते रहते हैं।[१२] उर्वराभूमि पर विविध प्रकार का स्वादिष्ट अन्न उपजता है।[१३] खानें न केवल सोना बल्कि विविध रत्नों से भरी पड़ी हैं।[१४] यहाँ सुन्दर-सुन्दर पंखों वाले हंस, गरुड, मयूर आदि बिहङ्गम भी पाये जाते हैं[१५] तथा ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त, शिशिर और वसन्त—इन छहों ऋतुओं के सुख एवं लाभ प्राप्त होते हैं।[१६] माता भूमि यथोचित निवास में रहने वाले, विविध

भाषा-भाषी एवं अनेक धर्म एवं सम्प्रदायों के पालक जन-समूह को धारण करती है।[१७] यहाँ उत्पन्न औषधियाँ इसी पृथिवी के गन्ध से सुगन्धित होती हैं।[१८] यही नहीं, इस पृथिवी माता को विश्वम्भरा, वसुधानी, सबकी आश्रयदायिनी कहा गया है।[१९] इस प्रकार अथर्ववेद में भूमि की रमणीयता, सम्पन्नता तथा उपयोगिता का वर्णन राष्ट्र के प्रति आत्मगौरव की भावना का परिचायक है।

वैदिकऋषि अपनी मातृभूमि के प्रति बहुत ही भावुक थे। उनके लिए मातृभूमि ही सर्वस्व थी। वे इसे स्वर्ग और अन्तरिक्ष, माता और पिता तथा देवरूप समझते थे। समाज के पाँचों वर्गों में इसी का रूप देखते थे; इसी को अपना अतीत और भविष्य मानते थे। वे कृतज्ञता के लिए इसका गुणगान करते थे। इसे कल्याणकारिणी माता, पवित्र नियम पालयित्री, विपुल शक्तिदायिनी, नित्यनूतना, सुखदा, योगक्षेमकारिणी और भोजनदायिनी मानते थे। उनका अटल विश्वास है कि सुदृढ़ एवं सुरक्षित नौका से दुर्गम नदी को निर्विघ्न पार करने के समान अपनी सर्वसुखसम्पन्न मातृभूमि में रहकर अपनी जीवन-सरिता को सहज ही पार कर लेंगे। वे अपनी मातृभूमि से प्रचुर भोज्य पदार्थ की कामना से यशोगीत गाते हुए उससे त्रिविध कल्याण के लिए निश्चिन्त होकर[२०] प्रार्थना करते थे कि 'हे मातृभूमि ! तेरे ग्रामों, जंगलों, सभाओं, युद्धों और समितियों में हम तेरे लिए चारु (अच्छा) बोलें।[२१]

अथर्ववेद में राष्ट्र की परिकल्पना अनेकत्र उपलब्ध है। यहाँ मानव समाज के लिए एक आदर्श वृहद्राष्ट्र की प्रार्थना की गयी है।[२२] ऋषिगण अपने मनोनीत नायक के मस्तक पर राष्ट्र-तिलक करते हुए अपने सुरक्षित राष्ट्र-लाभ की हार्दिक कामनायें किया करते थे।[२३] राष्ट्र की प्रतिष्ठा के लिए वे यज्ञ द्वारा देवार्चन किया करते थे।[२४] राजाओं को उपदेश देते थे कि अपने उपलब्ध राष्ट्र की सर्वात्मना सुरक्षा करें तथा सभी प्रजाजनों का पालन करते हुए एकछत्र शासक (एकराट) बनकर विशेष रूप से सुशोभित होइए क्योंकि प्रजानुराग पर ही राज्य की स्थिरता निर्भर है।[२५] अथर्ववेद में "त्वाम् विशो वृणताम् राज्याय"[२६] से प्रजातन्त्र प्रणाली का निर्देश किया गया है। ऋषि लोग अपने राष्ट्र को अक्षुण्ण बने रहने के लिए राजाओं को सीमान्त राजाओं के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध बनाकर उनका समर्थन प्राप्त करने के लिये भी उपदेश देते थे।[२७] ऋषि राजाओं को शिक्षा दिया करते थे कि आप लोग सबको समान लाभ प्रदान करें; तेजस्वी बनें; अपराधियों को दण्ड दें; शत्रुओं का दमन करके राष्ट्ररक्षा के कार्य में उग्र रहते हुए प्रजा से संगृहीत धन को उसी के कल्याण-कार्य में विभक्त करें और राजकल्याण के लिए आर्थिक व्यवस्था के प्रति सतर्क रहें।[२८]

राज्य में पुनः प्रतिष्ठित होने वाले राजा के लिए ऋषियों ने आवश्यक तत्त्वों का वर्णन किया है—राजा की प्रेरणा पर अग्नि के समान तेजस्वी दूतों (गुप्तचरों)

का सम्पूर्ण राष्ट्र में अव्याहत गति से भ्रमण; अन्तः प्रकृति अर्थात् रानियों-राजकुमारों आदि को अनुकूल मन वाला (सुमनस) बनाकर अनुशासित करके राष्ट्र-कल्याण के लिए विपुल कर आदि से आर्थिक दशा में सुधार करना;[२९] परिचारकादि को यथोचित पारितोषिक देकर प्रजा के कल्याण के लिए राज-सम्पत्ति का समुचित विभाजन[३०] एवं राष्ट्र-कल्याण के लिए प्रजाओं को अपने-अपने कार्य में नियुक्त करके यज्ञादि धार्मिक कृत्यों का अनुष्ठान आदि।[३१] ऋषियों ने पथ्यभूता, धनवती तथा क्षत्रिय-वैश्यादि भेदों वाली सब प्रजाओं के पारस्परिक सह भाव को प्राप्त करने; आपसी विवाद को स्वयं राष्ट्रपति द्वारा सुलझाने तथा सौमनस्य-पूर्वक राज्य-संचालन करते हुए सौ वर्ष तक राज्य-सुख भोगने की भी शिक्षा राजाओं को दी है।[३२]

अथर्ववेद में राष्ट्र की परिकल्पना मात्र ही नहीं है अपितु उसके आधारभूत तत्त्व, उपयोगिता, महत्ता तथा उसके प्रति लोगों के दायित्वों एवं कर्त्तव्यों का भली-भाँति प्रतिपादन है, जो निश्चय ही उनकी गहन राष्ट्रिय-भावना का द्योतक है। उन्होंने अपनी मातृभूमि को तेज और बल से परिपूर्ण उत्तम राष्ट्र के रूप में प्रतिष्ठित किया[३३] और उसे वे सदैव श्रेष्ठ बनाये रखना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने अपने राष्ट्र का विशेषण 'उत्तम' दिया है। राष्ट्र की उत्तमता की सुरक्षा के लिए हमारे वैदिक ऋषियों ने यह उद्घोष किया था कि सत्य, बृहत् (विकास), ऋत (निश्चित नियम, सत्य), उग्रता, दीक्षा, तप, ब्रह्म (मन्त्र) तथा यज्ञ (पवित्र क्रियाएँ) ही अपनी राष्ट्र-भूमि को सुरक्षित बनाते हैं।[३४] जिस देश के नागरिक सत्य के प्रति निष्ठावान् होंगे; देश के सर्वतोमुखी विकास में लगेंगे; नियमानुकूल आचरण करेंगे; अनुशासन प्रिय होंगे; अपने कर्त्तव्य का पालन करेंगे, वह देश अवश्यमेव समृद्धिशाली होगा। इसीलिए ऋषियों ने रोहित ब्रह्म से प्रार्थना करते हुए राष्ट्र को सत्यवादी एवं प्रिय बनाने; राष्ट्र-रक्षा के लिए भरणकर्त्ता को पुष्ट करने;[३५] राष्ट्र में सुव्यवस्था लाने; उसके निवासी प्रजा को दूध और घी आदि पौष्टिक पदार्थों से सम्पन्न करने; राष्ट्र अर्थात् प्रजा को सत्यवाणी से युक्त करने; राष्ट्र के कोश की वृद्धि करके यशस्वी बनाने और राष्ट्र को समृद्ध बनाने का उपदेश दिया है और स्थिर शासन के लिए समर्थ एवं स्थायी मन्त्रिपरिषद् का निर्माण करने का उल्लेख किया है।[३६]

राष्ट्र की अखण्डता एवं प्रगति के लिए वहाँ के निवासियों में परस्पर प्रगाढ़ एकता आवश्यक होती है। इसीलिए राष्ट्र नायक को पाञ्चजन्य[३७] अर्थात् समाज के पाँचों वर्गों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद अर्थात् सब प्रकार के जनों का हित करने वाला कहा गया है। सर्वजन हिताय, सर्वजनसुखाय, दिव्योपम, विशाल तथा कल्याणकारी 'संवेश्य' राष्ट्र की योजना को सफल बनाने हेतु देव-

ताओं से प्रार्थना करते हुए[३८] नागरिक जनों से अपने मन, विचार और क्रियाकलाप में परस्पर मतभेद रखने का उल्लेख किया गया है।[३९] वैदिक ऋषि संगठन के लिए यज्ञ किया करते थे। उसमें जलों की धाराओं के सम्मिश्रण, हवाओं के पुञ्ज और पक्षियों के समूह की संगठनात्मक शक्ति का आह्वान करते हुए सभी को सम्मिलित और संगठित करते थे और वृद्धि हेतु उन्हें प्रेरित करते थे।

राष्ट्रिय विकास हेतु शिक्षा, सम्पर्क, राजस्व, विचार-विमर्श, अधिकार, उद्देश्य आदि सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक क्षेत्रों में देश के सभी वर्गों को विकसित करने के लिए ऋषि लोग देशवासियों को आपस में मिलकर चलने; मिलकर बोलने; एक साथ ज्ञान प्राप्त करने; परस्पर सम्पर्क करने; सौमनस्य बनाने; यथा योग्य दायित्व भाग लेने; मिलकर मन्त्रणा करने; समितियों में समान अधिकार समझने; एक साथ मिलकर काम करने आदि का उपदेश दिया करते थे।[४०] उन्होंने सुविधानुसार विभिन्न भाषाओं एवं अभीष्ट धर्म (ईश्वर) की उपासना करते हुए भी समग्र राष्ट्र को अपने घर के समान समझकर राष्ट्र के ऐश्वर्य की आशा की थी[४१] और साथ में भाषाभेद, धर्मभेद, जातिभेद, वर्णभेद तथा प्रान्तभेद आदि को बड़े ही सरल शब्दों में राष्ट्रिय धर्म का विरोधी होने से रोका है। उन्होंने राजनैतिक सौहार्द; सहानुभूति, सव्रतता, सम्यक व्यवहार, संज्ञान आदि की महत्ता व्यक्त करते हुए उदारवाद और लोकतन्त्र को सौमनस्य के द्वारा अनुप्राणित कर पारस्परिक द्वेषभाव को हटाने का उपदेश दिया है।[४२] और सभी मनुष्यों में सद्भावना और मैत्रीभाव के साथ अभयदान का भाव उत्पन्न कर मानसिक और नैतिक उत्कर्ष एवं विकास की कामना की है।[४३] भूमि में रहने वाले सभी छोटे-बड़े लोगों के परस्पर सापेक्ष भाव से वैदिक ऋषियों ने आशा व्यक्त की है कि मातृ-भूमि की कीर्ति फैलेगी और सभी देशवासी खुशहाल होंगे।[४४] समाज के पाँचों वर्गों के जनों में सजातीय भाव भरने के उद्देश्य से ही उन्होंने सभी को मातृ-भूमि की सन्तान एवं उसी के अन्न से पोषित होने की घोषणा की और सभी में एक ही धरती के सन्तान होने का भाव उत्पन्न किया[४५] और कहा कि हमें संगठित रहना चाहिए तथा आपस में द्वेषभाव नहीं रखना चाहिए।[४६]

वैदिक ऋषियों ने देश के प्रमुख-प्रमुख नगरों के साथ अपने देवी-देवताओं का सीधा सम्बन्ध स्थापित करते हुए कहा है कि हमारी मातृभूमि के नगरों का निर्माण हमारे देवताओं ने कराया।[४७] ऐसा कहकर उन्होंने नगरों के प्रति दिव्यता, पवित्रता और तीर्थ-भूमि का भाव जगाते हुए राष्ट्रिय अखण्डता का उल्लेख किया है। उन्होंने देश के अतीत के निर्माण का सम्बन्ध, धार्मिक यज्ञानुष्ठानों द्वारा अपनी देशभूमि की अर्चना करने वाले ऋषियों और मुनियों से स्थिर किया है।[४८] अथर्ववेद में पर्वतों पर भी प्रेमभाव प्रदर्शित किया गया है। इन्हें जलवृष्टि का कारण और वनस्पति से

मनुष्यों का कल्याण करने वाला कहा गया है और शत्रुओं से सुरक्षित रखने की भी कामना की गयी है।[४९] राष्ट्र के वनों (जंगलों) की रक्षा करने का उल्लेख भी इस वेद में किया गया है।[५०]

इसके अतिरिक्त अथर्ववेद के अनेक मन्त्रों में राष्ट्र की समृद्धि के लिए प्रार्थनायें की गयीं हैं—राजा वरुण, देवमन्त्री बृहस्पति आदि देवताओं से स्थिर राष्ट्र के लिए प्रार्थना;[५१] वनस्पति 'वरण मणि' से राष्ट्र एवं उसकी संरक्षिका क्षत्रिय जाति, बल, पशुओं और स्वयं राजा को ओज से सम्पन्न करने तथा राष्ट्र को हानि पहुँचाने वाले व्यक्ति को भाग्य और आयु से वंचित करने की अभ्यर्थना;[५२] यक्ष रूप परमात्मा के पास राष्ट्र की रक्षा के लिए राजा द्वारा उपहार के जाना;[५३] अध्यात्मक व्रात्य (ब्रह्म) के गृहागमन पर आदर-सत्कार (अतिथि सेवा) से राष्ट्र-कल्याण का उल्लेख;[५४] रोहित ब्रह्म से राष्ट्र समृद्धि हेतु प्रार्थना;[५५] वस्त्र की भांति समस्त राष्ट्र का आच्छादक होने का शासक राजा को आशिर्वाद;[५६] दर्भमणि से राष्ट्र-रक्षा करने की प्रार्थना;[५७] सौ वर्ष तक राष्ट्र को भरण-पोषण के लिए औषधि धारण;[५८] देवताओं से राष्ट्र-कल्याण की अभ्यार्थना[५९] तथा कुन्ताप सूक्त मे राजा परिक्षित के राज्य की समृद्धि और सौमनस का उल्लेख करते हुए तदनुरूप समृद्ध राष्ट्र की कामना[६०] आदि राष्ट्रीय भावना के द्योतक हैं। यही नहीं प्राकृतिक पदार्थों अथवा जिस किसी से भी अमंगल की संभावना हो सकती है उन सभी से सार्वभौम आनन्द के लिए समष्टि गत मंगल की प्रार्थना की गयी है।[६१] एवं यथर्ववेद के 'भूमिसूक्त' में एक राष्ट्र-भक्त के मुख से अपनी मातृभूमि के प्रति आदर और प्रशंसा से भरे जो उदात्त भाव व्यक्त कराये गये हैं, उसके आधार पर आजकल की प्रचलित भाषा में इस सूक्त को "मातृभूमि का वैदिक राष्ट्रीय गीत" कहा जा सकता है।

इस समस्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि सामान्यतः वैदिक समस्त वाङ्मय, विशेषतः अथर्ववेद राष्ट्रिय भावना के विविध पार्श्वों एवं रूपों के चटकीले चित्रों की अद्भुत-अनुपम चित्र वीथिका है। सचमुच यह बात कितनी विस्मय कारिणी एवं आश्चर्यजनक है कि उस सुदूर अतीत काल में रचित वाङ्मय में भी तत्कालीन ऋषियों-मनीषियों की दृढ़ राष्ट्रिय भावना की ऐसी सुस्पष्ट अभिव्यक्ति हुई थी।

संदर्भ

१. सिद्धा०, उणादि प्रकरण, ४.१५८ : सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्।
२. ऋग्वेद, ४.४२.१; ७.३४.११; ६.८४.२; १०.१०९.३; १०.१२४.४ इत्यादि; एवं अथर्ववेद, १०.३.१२; १२.१.८; १३.१.३५।
३. ऐ० ब्रा०, ८.२६ : राष्ट्राणि वै विशः।

४. वही, ७.२२ : क्षत्रं हि राष्ट्रम् ।

५. वैदिक कोश, पृ० ११६ : द्रष्टव्य 'क्षत्र' शब्द ।

६. अथर्ववेद, ३.४.२; ४.८.१; ११.६.१५; १२.३.३१; १८.४.३१ ।

७. दीक्षित, हरिनारायण, संस्कृत साहित्य में राष्ट्रिय भावना, पृ० ३० ।

८. ऋग्वेद, १.८९.४ : तन्माता पृथिवी तत् पिता द्यौ; वही, १.१६४.३३ : बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्; वही, ५.४२.१६ : मा नो माता पृथिवी दुर्मतो धात् ।

९. अथर्व०, १२.१.१२ : तासु नो धेह्यभि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्या ।

वही, १२.१.६३ : भूमे मातर्निधेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम् ।

वही, १२.१.१० : सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः ।

वही, १२.१ १५ : त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः·············।

१०. वही, १२.१ १६, १७, ५९ ।

११. वही, १२.१.२ : नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति पृथिवी···; वही, १२.१.१७ ।

१२. वही, १२.१.३ यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो············।

१३. वही, १२.१.४;४२ : यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः, यस्यामन्नं व्रीहियवौ यस्या···।

१४. वही, १२.१.६, २६, ४४ ।

१५. वही, १२.१.५१ : यां द्विपादः पक्षिणः संपतन्ति हंसाः सुपर्णाः शकुना वयांसि···।

१६. वही, १२.१.३६ : ग्रीष्मस्ते भूमे वर्षाणि शरद्धेमन्तः शिशिरो वसन्तः ।

१७. अथर्व०, १२. १. ४५ : जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम् ।

१८. वही, १२. १. २३ : यस्ते गन्धः पृथिवि संबभूव यं बिभ्रत्योषधयो यमापः ।

१९. वही, १२. १. ६ : विश्वंभरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी···।

२०. वही, ७. ६. १-४ : अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्र···।

२१. वही, १२. १. ५६ : ये ग्रामा यदरण्यं या सभा अधिभूम्याम् ।
ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु बदेम ते ।।

२२. वही, ३. ८. १ : अथास्मभ्यं वरुणो वायुरग्निर्बृहद् राष्ट्रं संवेश्यं दधातु ।

२३. वही, ६. २९. २ : स नो रास्व राष्ट्रमिन्द्रजूतं तस्य ते रातौ यशसः स्याम ।

२४. वही, ६. ५४. १, २, ३ : इदं तद् युज······मे यजमानाय सुन्वते ।

२५. अथर्ववेद, ३. ४. १ : आ त्व गन्राष्ट्रं सह वर्चसोदिहि प्राङ् विशां पतिरेकराट् त्वं विराज ।

२६. वही, ३. ४. २ ।

२७. वही, ३. ४. २ :……त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः । वर्ष्मन्राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्य ।

२८. वही, ३. ४ २ ।……ततो न उग्रो विभजा वसूनि ।
तुलनीय-भागवद्महापुराण: ८ १६. ३७ : धर्माय यशसेऽर्थाय कामाय स्वजनाय च ।
पञ्चधा विभजन् वित्तमिहामुत्र च मोदते ।।

२९. अथर्व० ३. ४. ३ : ···· अग्निर्दूतो अजिरः सं चरातै ।
जाया पुत्राः सुमनसो भवन्तु बहुं बलिं प्रति पश्यासा उग्रः ।

३०. वही, ३. ४. ४ : अधा मनो वसुदेयाय कृणुष्व ततो न उग्रो विभजा वसूनि ।

३१. वही, ३. ४ ६ :····· स देवान्यक्षत्स उ कल्प याद्विशः ।

३२. वही. ३. ४. ७ : पथ्या रेवतीर्बहुधा विरूपाः सर्वाः सङ्गत्य वरीयस्ते अक्रन् ।
तास्त्वा सर्वाः संविदाना ह्वयन्तु दशमीमुग्रः सुमना वशेह ।

३३. अथर्ववेद, १२.१.८ : सा नो भूमिस्त्विर्षिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे ।

३४. वही, १२.१.१ : सत्यं बृहद ऋतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति ।

३५. वही, १३.१.१ : इदं राष्ट्रं प्रविश सुनृतावत् ।···स त्वा राष्ट्राय सुभृतं बिभर्तु तथा ५, ८, २०, ३४ मन्त्र ।

३६. वही, ६.८८ ३ :···ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह ।

३७. वही, ४.२३.१ :···पाञ्चजन्यस्य बहुधा यमिन्धते ।

३८. अथर्ववेद, ३.८.१ : ···बृहद्राष्ट्रं संवेश्यं दधातु ।

३९. वही, ३.८.५ : सं वो मनांसि सं व्रता समाकूतीर्नभामसि···।

४०. वही, ६.६४. १–३ : सं जानीध्वं सं पृच्यध्वं सं वो मनांसि जानताम्……
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ।

४१. वही, १२.१.४५ : जनं बिभ्रत बहुधा विवाचसं नाना धर्माणां पृथिवी यथौकसम् ।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां···।

४२. वही, ३.३०.२–३ : अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः……
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा……
वाचं वदत भद्रया ।

४३. अथर्व०, १९.१५.५-६ : अभयं न करत्यन्तरिक्षमभय………मम मित्रं भवतु ।

४४. वही, १२.१.२ : असंबाधं मध्यतो मानवानां………नः प्रथतां राध्यतां नः ।

४५. वही, १२.१.१५, १६ : त्वज्जातास्त्वयि……………पृथिवी धेहि मह्यम् ।

४६. वही, १२.१.१८, २३, २५ : 'मा नो द्विक्षत कश्चन' ।

४७. वही, १२.१ ४४ : यस्याः पुरो देवकृतः ।

४८. वही, १२.१.८ : यां मायाभिरन्वचरन्मनीषिण..................। एवं वही, १२.१.३९ : यस्यां पूर्वे भूतकृत ऋषयो गा उदावृचः । सप्त सत्रेण वेधसो यज्ञेन तपसा सह ।

४९. वही, १२.१.११ : गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं.. ....।

५०. वही, ५.१२.१०; ५.२७,११; ८.७.१६ ।

५१. वही, ६.८७.१-२ : मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत ।; इन्द्र इवेह ध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रमुधारय ।

५२. वही, १० ३.१२ : इमं बिभर्मि वरण......स मे राष्ट्रं क्षत्रं च पशूनोजश्च मे दधत् ।

५३. वही, १०.८.१५ :......तस्मै बलि राष्ट्रभृतो भरन्ति ।

५४. अथर्व०, १०.१०.२ : क्षत्राय ना वृश्चते तथा राष्ट्राय ना वृश्चते ।

५५. वही, १३.१.३५ : रोहितः संविदानो राष्ट्रं दधातु सुमनस्यमानः ।

५६. वही, १९.२४.१ : तेनेमं ब्रह्मणस्पते परि राष्ट्राय धत्तन ।

५७. वही, १९.३०.३ : त्वामिन्द्रस्याहुर्वर्मत्वं त्वं राष्ट्राणि रक्षसि ।

५८. वही, १९.३७ ३ : अभिभूयाय त्वा राष्ट्रभृत्याय पर्यूहामि शतशारदाय ।

५९. वही, १९.४१.१ : ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु ।

६०. वही, २०,१२.७ : सूक्त ।... जनः स भद्रमेधाति राष्ट्रे राज्ञः परिक्षितः ।

६१. वही, १.६.१ : शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये । शं योरभि स्रवन्तु नः ।

एवं वही, १.६.४ : शिवाः नः सन्तु वार्षिकी ।

एवं वही, ६.२३.३ : देवस्य सवितुः सवे कर्म कृण्वन्तु मानुषाः ।

शं नो भवन्त्वप, ओषधीः शिवाः ।

□

महाभारत में वर्णित राष्ट्रिय एकता

डॉ० योगेश चन्द्र दुबे

'इदं तु भारतवर्षं यत्र वर्तामहे वयम्'[1]।

महाभारत के इस वाक्य से स्पष्टरूपेण ध्वनित होता है कि हम सभी भारतवासी जिस देश में रहते हैं उसे भारतवर्ष कहा जाता है। यही नहीं, इसके आर्यवर्त आदि नामों के साथ-ही-साथ जम्बूद्वीप का भी संबोधन महाभारत में प्राप्त होता है।[2] इस भारत देश या राष्ट्र के प्रति प्रत्येक देशवासी के मन में अगाध श्रद्धा एव आदर का भाव होना स्वाभाविक है, क्योंकि हमने जिस राष्ट्र या देश में जन्म लिया है, जिस देश की मिट्टी से हमारा शरीर परिपुष्ट हुआ है, जिस देश की जलवायु में हम पनपे हैं, जिसके अन्न, जलवायु तथा अन्याय प्राकृतिक संसाधनों का हम अहर्निश उपभोग कर रहे हैं, उस देश या राष्ट्र के लिए हमारे मनोमस्तिष्क में आदर का भाव, श्रद्धा की भावना और उसकी एकता-अखण्डता, रक्षा-सुरक्षा तथा मानव-मर्यादा की कामना होनी ही चाहिए। इससे प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों ही दशाओं में हमारा ही लाभ है क्योंकि जिस राष्ट्र या देश के निवासियों में अपनी राष्ट्रभूमि, अपनी मातृभूमि के प्रति गौरव की भावना होती है, उसे सदैव सर्वतन्त्रस्वतंत्र एवं सम्प्रभुता सम्पन्न बनाए रखने की अदम्य भावना होती है, उसके शत्रुओं को समाप्त कर देने तथा करते रहने की शक्ति होती है। उसके सर्वतोमुखी विकास की क्रियाशील योजनाएँ रहती हैं। उसकी राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता के लिए सदैव सजग रहना पड़ता है। इसी के फलस्वरूप ही उस राष्ट्र की समस्त संसार में प्रशंसा होती है, प्रतिष्ठा बढ़ती है, कीर्ति का चतुर्दिक विस्तार होता है, उसके नागरिकों को सम्मान मिलता है और विश्व का कोई भी राष्ट्र या देश उसे आक्रान्त करने की कल्पना भी नहीं करता। इसके ठीक विपरीत जिस राष्ट्र के मनुष्यों में राष्ट्रीयता के बीज नहीं होते, राष्ट्रीय भावना तथा राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता के तत्त्व समाहित नहीं होते, उनके मन मे राष्ट्र प्रेम या देशभक्ति नहीं होती वे अपनी मातृभूमि के प्रति आत्मगौरव का अनुभव नहीं करते, ऐसा राष्ट्र कुछ ही दिनों में पराधीनता के पाश में बुरी तरह जकड़ जाता है। फलस्वरूप वहाँ के लोगों का जीवन पशु के जीवन के समान हो जाता है। आक्रान्ता राष्ट्र उस राष्ट्र के नागरिकों का सर्वतोमुखी शोषण करता है। इस दशा में उस राष्ट्र का तथा उस राष्ट्र के व्यक्तियों का संसार में कहीं भी समुचित मान-

सम्मान भी नहीं होता। अतएव प्रत्येक देशवासी को राष्ट्र की सुरक्षा, समृद्धि, उन्नति एवं उसकी एकता तथा अखण्डता के लिए बड़े से वड़ा बलिदान करने के लिए सदैव तत्पर रहना चाहिए, जैसा कि कहा भी गया है कि समूचे कुल की भलाई के लिए एक मनुष्य को त्याग दे गाँव के हित के लिए एक कुल को छोड़ दे तथा देश की भलाई के लिए एक गाँव को त्याग दे।[३]

महाभारत अत्यंत विपुलकाय ग्रंथ है। विषय सामग्री की दृष्टि से तो जो इसमें है वही अन्यत्र है जो इसमें नहीं है वह कहीं नहीं है—**'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत क्वचित्।'** पुनः जहाँ तक इसमें राष्ट्रीय तथा भावना की बात है तो इसके प्रसंग महाभारत में स्थल-स्थल पर दृष्टिगोचर होते हैं। व्यासजी की राष्ट्र-भावना बड़ी ही उदात्त, विशुद्ध तथा ओजस्विनी है। किसी भी राष्ट्र का सर्वाधिक प्रमुख अंग या राष्ट्र का केन्द्र राजा ही होता है। राजा या राष्ट्राध्यक्ष के ऊपर ही सम्पूर्ण राष्ट्र की एकता-अखण्डता, प्रजा या देशवासियों का हित-अहित, सुरक्षा-असुरक्षा, संपदा तथा विपदा आदि आश्रित होता है। अतः जिस देश में हम रहते हैं पहले उसके शासक की योग्यता के विषय में विचार करना अत्यावश्यक होता है। नीति कहती है कि पहले अच्छे राजा को प्राप्त करें, उसके बाद पत्नी और फिर धन की उपलब्धि करें। इन तीनों के संग्रह द्वारा अपने जाति भाइयों तथा पुत्रों को संकट से बचाएँ।[४]

'राजा प्रमाणं भूतानां'[५] राजा ही सम्पूर्ण प्रजा के लिए प्रमाण है क्योंकि जिस देश में शासक या राष्ट्राध्यक्ष नहीं होते वहाँ की प्रजा अनाथ होकर नष्ट हो जाती है—**अराजकेषु राष्ट्रेषु प्रजाऽनाथा विनश्यति।**[६] जहाँ राजा नहीं होता वहाँ इज्जत और दौलत दोनों ही खतरे में होती है—**राजन्यसति लोकस्य कुतो भार्या कुतो धनम्।**[७] पुनः वह राजा कैसा होना चाहिए वह राष्ट्र की प्रजा के द्वारा विधिवत् नियुक्त होना चाहिए क्योंकि विधिवत् नियुक्त राजा के बिना राष्ट्र निर्बल होता है।[८]

राजा के आचार-विचार का भी राष्ट्रीय एकता के सन्दर्भों में महत्त्वपूर्ण योग-दान है। राजा यदि कोमल स्वभाव वाला है तो लोग उसकी परवाह नहीं करते और यदि वह तीक्ष्ण स्वभाव वाला है तो लोग उससे उद्विग्न हो उठते हैं। अतः उसे दोनों ही प्रकार के स्वभाव वाला होना चाहिए।[९] यही नहीं जो राजा सत्पुरुषों के मार्ग का अनुयायी होता है, वही राज्य करने योग्य होता है—**सतां वर्त्मानुगस्त्यागी स राजा राज्यमर्हति।**[१०] राजा को क्रोधी स्वभाव का नहीं होना चाहिए। यदि राजा क्रोधी हो जाय तो सारी प्रजाओं का शीघ्र नाश हो जाएगा। अतः क्रोध प्रजावर्ग के नाश और अवनति का कारण होता है।[११]

कुछ ऐसे दुर्गुण हैं जिनसे युक्त राजा स्वयं, प्रजा एवं राष्ट्र के विनाश का हेतु बन जाता है। जो राजा अत्यंत डरपोक, कायर, आलसी, प्रमादी और दुर्व्यसनवश विषयों में फँसा होता है उसे प्रजा अपना स्वामी स्वीकार नहीं करती।[१२] इसी प्रकार

जो राजा कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के अन्तर को जानते हुए भी स्वेच्छाचारिता आदि के कारण प्रजा के साथ पापाचार करते हैं वे अधोमुख हो नरक में जाते हैं। क्योंकि राजा लोग यज्ञ, दान अथवा गुरुसेवन से भी वैसा धर्म (पुण्य) नहीं पाते जैसा कि कर्त्तव्य का ठीक-ठीक पालन करने से प्राप्त करते हैं। जो प्रियजनों तथा द्वेषपात्रों में समानभाव रखते हैं, प्रजाजनों में विवाद आरम्भ हो जाने पर जो राजधर्मासन पर बैठकर प्रत्येक कार्य पर विचार करते हैं वे दोनों लोकों को जीत लेते हैं।[१३]

राष्ट्र की सुरक्षा, एकता एवं अखण्डता के लिए आवश्यक है कि राष्ट्र के बाह्य एवं आन्तरिक शत्रुओं से राजा सदैव सतर्क रहे। कोई कितना ही बलवान राष्ट्राध्यक्ष क्यों न हो उसे अपने दुर्बल शत्रु की भी अवहेलना नहीं करनी चाहिए—'**न शत्रुरवमन्तव्यो दुर्बलोऽपि बलीयसा**।[१४] कोई शत्रु अपने घर में आसन पर बैठा हो तो भी उसे नष्ट करने में नहीं चूकना चाहिए, फिर जो संग्राम में युद्ध करने के लिए खडा हो उसकी तो बात ही क्या—**योऽपि स्यात पीठगः कश्चित् किं पुनः समरे स्थितिः**।[१५] क्योंकि राष्ट्र की रक्षा करना, दस्युओं का दमन करना और राष्ट्र के हित में युद्ध करना राजा का कर्त्तव्य होता है।[१६]

यदा रक्षति राष्ट्राणि यदा दस्युनपोहति।
यदा जयति संग्रामे स राज्ञो धर्म उच्यते॥

राष्ट्र के रिपु विघटन कराकर तथा प्रलोभन देकर राष्ट्र की इकाइयों को अपने पक्ष में कर लेते हैं—**भेदाच्चैव प्रदानाच्च भिद्यन्ते रिपुभिर्गुणाः**।[१७] अतः राजा को चाहिए कि वह अपने विश्वस्त व्यक्तियों द्वारा शत्रु लोगों में परस्पर भेदभाव और वैर-विरोध उत्पन्न कराता रहे—**आप्तैर्मनुष्यौरुपचारयेत पुरेषु राष्ट्रेषु च संप्रयुक्तान**।[१८] शासक को सदैव अपने राष्ट्र की ओर पराये राष्ट्र की शक्तियों की जानकारी रखनी चाहिए--**स्वराष्ट्रे परराष्ट्रे च ज्ञातव्यं बलमात्मनः**।[१९] राजा को अत्यंत बुद्धिमत्तापूर्वक राष्ट्र की रक्षा करनी चाहिए क्योंकि सब प्रकार से सुरक्षित राष्ट्र को ही शत्रु नष्ट नहीं कर पाते--**राष्ट्रं सुरक्षितं तात शत्रुभिर्न विलुप्यते**।[२०] राष्ट्र की रक्षा के लिए कुछ भी करना श्रेयस्कर है। उसकी रक्षा के लिए किसी का वध करने में भी पाप नहीं है, क्योंकि महाभारत में एक स्थल पर कहा गया है कि एक को मारकर वंश की रक्षा करनी चाहिए और वंश को मारकर राष्ट्र की रक्षा करना भी बुरा काम नहीं है—[२१]

एकं हत्वा यदि कुले शिष्टानाम स्यादनामयम्।
कुलं हत्वा च राष्ट्रं च न तद् वृत्तोपघातकम्॥

शत्रुओं या दूसरे राष्ट्रों का नाश करने के लिए जिस प्रकार प्रयत्न किया जाता है उसी प्रकार की तत्परता अपने राज्य की रक्षा के लिए भी करना चाहिए—[२२]

स एव यत्नः क्रियते परराष्ट्रविमर्दने।
स एव यत्नः कर्तव्य स्वराष्ट्र परिपालने ।।

राजा को चाहिए कि वह धर्माचरण में प्रवृत्त रहे क्योंकि जहाँ राजा धर्म के अनुसार आचरण करते हैं वहाँ वे सब शत्रुओं को नष्ट कर देते हैं और उनका राज्य भी बढ़ता रहता है—[२३]

यत्र धर्मेण वर्तन्ते राजानो राजसत्तम्।
सर्वान् सपत्नान् बाधन्ते राज्यं चैषां किवर्धते ।।

किंवा, राजा को चाहिए कि वह धर्म से ही राज्य प्राप्त करे, और धर्म से ही उसकी रक्षा करे क्योंकि धर्ममूलक राजलक्ष्मी को पाकर न तो राजा उसे छोड़ता है, न वही राजा को छोड़ती है—[२४]

धर्मेण राज्यं विन्देत धर्मेण परिपालयेत्।
धर्ममूलां श्रियं प्राप्य न जहाति न हीयते ।।

किसी भी देश या राष्ट्र की एकता, अखण्डता एवं समृद्धि, के परिचायक तत्त्वों को उस राष्ट्र के सातों अंगों या सातों प्रकृतियों में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। उस राष्ट्र का स्वामी कैसा है, उसके सचिव कैसे हैं, मित्र कैसे हैं, कोष की क्या स्थिति है, दुर्ग एवं सैन्य की व्यवस्था कैसी है आदि महत्त्वपूर्ण अंग हैं जिससे किसी राष्ट्र के विषय में सम्यक्रूपेण जाना जा सकता है। यद्यपि महाभारत के अन्तर्गत स्थल-स्थल पर इनके विषय में स्पष्ट उल्लेख किया गया है किन्तु इनकी समग्र जानकारी के लिए केवल, नारद और युधिष्ठिर के उस प्रसंग को प्रस्तुत किया जा रहा है जिसमें नारद युधिष्ठिर से उनके राष्ट्र के बहुविध उन्नति, विकास एवं सुरक्षा आदि के विषय में पूँछते हैं—[२५] भरत श्रेष्ठ ! क्या तुम राजोचित छः गुणों के द्वारा, सात उपायों की, अपने और शत्रु के बलाबल की तथा देशपाल एवं दुर्गपाल आदि चौदह व्यक्तियों की भलीभाँति परख करते हो। तुम्हारे मन्त्री आदि सात प्रकृतियाँ कहीं शत्रुओं से मिल तो नहीं गयी। मन्त्र को गुप्त रखने वाले उन शास्त्रज्ञ सचिवों द्वारा तुम्हारा राष्ट्र सुरक्षित तो है न। तुम्हारे राज्य के किसान-मजदूर आदि श्रमजीवी मनुष्य तुमसे अज्ञात तो नहीं, उनके कार्य और गतिविधि पर तुम्हारी दृष्टि है न ? तुम्हारे यहाँ जो शिक्षा देते हैं वे धर्म एवं सम्पूर्ण शास्त्रों के मर्मज्ञ विद्वान होकर ही राजकुमारों तथा मुख्य-मुख्य योद्धाओं की सब प्रकार की आवश्यक शिक्षाएँ देते हैं न। कठोर दण्ड के द्वारा तुम प्रजा में उद्वेग तो नहीं डालते। मन्त्री लोग तुम्हारे राज्य का न्यायपूर्वक पालन करते हैं न। अपनी सेना के लिए यथोचित भोजन और वेतन ठीक समय पर दे देते हो न। सेना के मुख्य दलपति सब प्रकार के युद्ध में चतुर, निष्कपट एवं पराक्रमी हैं न। तुम्हारे स्वामीभक्त मनुष्यों द्वारा ही तुम्हारे धन-

भण्डार, अन्न-भण्डार, वाहन, प्रधान द्वार, अस्त्र-शस्त्र तथा आय के साधनों की रक्षा एवं देखभाल की जाती है न। तुम्हारे नगर तथा राष्ट्र के निवासी संगठित होकर तुम्हारे साथ विरोध तो नहीं करते हैं।

इस प्रकार किसी भी राष्ट्र की उन्नति में कौन-कौन से सहायक तत्त्व हैं तथा उसके विनाश में कौन-कौन से कारक हैं आदि बातों का समुचित प्रतिपादन उपयुक्ति अंशों में भली-भाँति किया गया है। इसी सन्दर्भ में पुनः यह कहना न भूलेंगे कि यदि राजा प्रजा का पालन नहीं करे तो प्रजा ही एक दूसरे को न खा डालेगी, प्रत्युत वेदत्रयी का भी अस्तित्व लुप्त हो जाएगा और विश्व को धारण करने वाला धर्म ही रसातल में डूब जाएगा।[२६] राजधर्म के विगड़ने पर समाज तथा राष्ट्र का सर्वनाश हो जाता है। राजनीतिक नेता के लिए महाभारत एक विलक्षण आदर्श प्रस्तुत करता है, जो आज भी उतने ही सुन्दर रूप से अनुकरणीय तथा ग्राह्य है। भारतवर्ष कृषि-प्रधान राष्ट्र है। अतः व्यास जी का आग्रह है कि जो राजनैतिक नेता स्वयं अपने हाथों से कृषि नहीं करता, खेत नहीं जोतता-बोता उसे नेता बनकर राष्ट्र की समिति में जाने का अधिकार नहीं होता—[२७]

'न नः समिति गच्छेद् यश्च नो निर्वपेत् कृषिस्।'

किसी भी राष्ट्र की उन्नति का परिचायक तत्त्व, उस राष्ट्र के लोगों में परस्पर स्नेह-प्रेम, भ्रातृत्व-भावना, आपसी मेलजोल तथा एकता एवं अखण्डता है। ये सारी चीजें तभी संभव हैं जब आपस में कलह, द्वेष, लड़ाई-झगड़े, दंगे, विवाद एवं युद्धादि के प्रसंगों का सम्पूर्ण राष्ट्र में सर्वथा अभाव हो। जैसा कि युद्ध की विभीषिका के विषय में महाभारत में एक स्थल पर कहा गया है कि—जिसमें सबका विनाश दिखाई देता है, जो नरक का हेतु है, जिससे पूर्णतः पाप का उदय होता है, जिसके अन्त में अभाव ही हाथ लगता है और जिसमें जय तथा पराजय दोनों समान हैं, उस युद्ध जैसे कठोर कर्म के लिए कौन समझदार मनुष्य कभी उद्योग करेगा।[२८] जिन्होंने जाति और कुटुम्ब के लिए हितकर कामों का साधन किया है वे धन्य हैं। वे ही पुत्र मित्र तथा बान्धव कहलाने योग्य हैं।

आपसी मेल जोल एवं भाई चारे के लिए आवश्यक है कि शराब पीना, कलह, समूह के साथ वैर, पति-पत्नी में भेद पैदा करना, कुटुम्ब वालों में भेदबुद्धि उत्पन्न करना, राजा के साथ द्वेष, स्त्री और पुरुष के विवाद और बुरे रास्ते—ये सब त्याग दिया जाय।[२९] जिस राष्ट्र के लोगों में उपर्युक्त कलह, भेदभाव एवं विरोध आदि की भावना नहीं रहती वहीं पर एकता एवं अखण्डता का दर्शन होता है। आपस में फूट रखने वाले लोग अच्छे बिछौनों से युक्त पलंग पाकर भी कभी सुख की नींद नहीं सोने पाते, उन्हें स्त्रियों के पास रहकर तथा सूत मागधों द्वारा की हुई

स्तुति सुनकर भी प्रसन्नता नहीं होती ।[१०] जो परस्पर भेदभाव रखते हैं वे कभी धर्म का आचरण नहीं करते । वे सुख भी नहीं पाते । उन्हें गौरव नहीं प्राप्त होता तथा उन्हें शान्ति की वार्ता भी नहीं सुहाती ।[११]

राष्ट्रिय एकता-अखण्डता एवं पारस्परिक सद्भावना के विषय में उद्योग पर्व के ही एक अन्य स्थल पर विदुर और धृतराष्ट्र के संवाद में देखा जा सकता है। विदुर जी धृतराष्ट्र से कहते हैं--भरत श्रेष्ठ ? जलती हुई लकड़ियाँ अलग-अलग होने पर धुआँ फेंकती हैं और एक साथ होने पर प्रज्ज्वलित हो उठती हैं । इसी प्रकार जाति-बन्धु भी आपस में फूट होने पर दुःख उठाते हैं और एकता होने पर सुखी रहते हैं । इसी प्रकार पुनः कहते हैं कि यदि वृक्ष अकेला है तो वह बलवान, दृढ़मूल तथा बहुत बड़ा होने पर भी एक ही क्षण में आँधी के द्वारा बलपूर्वक शाखाओं सहित धराशायी किया जा सकता है, किन्तु जो बहुत से वृक्ष एक साथ रहकर समूह के रूप में खड़े हैं, वे एक दूसरे के सहारे बड़ी से बड़ी आँधी को भी सह सकते है । इसी प्रकार समस्त गुणों से सम्पन्न मनुष्य को भी अकेले होने पर शत्रु अपनी शक्ति के अंदर समझते हैं, जैसे अकेले वृक्ष को वायु । किन्तु परस्पर मेल होने से और एक दूसरे को सहारा मिलने से जाति वाले लोग इस प्रकार वृद्धि को प्राप्त होते हैं, जैसे तालाब में कमल ।[१२] यही नहीं, जो लोग अपने भले की इच्छा करते हैं उन्हें अपने जाति भाइयों को उन्नतिशील बनाना चाहिए । जाति भाइयों के साथ परस्पर बात-चीत, भोजन एवं प्रेम करना ही कर्त्तव्य है, उनके साथ कभी विरोध नहीं करना चाहिए । शुभ चाहने वाले को अपने जाति-भाइयों के साथ झगड़ा नहीं करना चाहिए, बल्कि उनके साथ मिलकर सुख का उपभोग करना चाहिए ।[१३] यही है महाभारत की राष्ट्रिय भावना, यही है राष्ट्र के उन्नायक तत्त्वों का संक्षिप्त परिचय, यही है महाभारत का राष्ट्र संदेश एवं राष्ट्रिय तत्त्व तथा यही है महाभारत में वर्णित राष्ट्रिय एकता एवं अखण्डता का स्वर ।

संदर्भ

१. भीष्मपर्व, अध्याय १२, श्लोक ५२

२. यस्य नाम्ना त्विदं द्वीपं जम्बूद्वीपमिति श्रुतम् । सभापर्व, अध्याय २८, श्लोक ६

३. त्यजेत् कुलार्थे पुरुषं ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ।।–सभा०, अध्याय ६८, श्लोक ११

४ राजानं प्रथमं विन्देत् ततो भार्यां ततो धनम् ।
त्रयस्य संचयेनास्य ज्ञातीन पुत्रांश्च तारयेत् ।।
आदिपर्व, अध्याय १५६, श्लोक ११-१२

५. **आदिपर्व**, अध्याय ८२, श्लोक १८
६. **आदिपर्व**, अध्याय १०४, श्लोक ४४
७. **शान्तिपर्व**, अध्याय ५७, श्लोक ४१
८. **शान्तिपर्व**, अध्याय ६७, श्लोक २
९. **शान्तिपर्व**, अध्याय ५६, श्लोक २१
१०. **शान्तिपर्व** अध्याय ५७- श्लोक ३८
११. **वनपर्व**, अध्याय २९, श्लोक ४,५
१२. **वनपर्व**, अध्याय २५१, श्लोक ५
१३. **विराटपर्व**, अध्याय १६. श्लोक २१
१४. **विराटपर्व**, अध्याय २२, श्लोक २३
१५. **विराटपर्व**, अध्याय २२, श्लोक २४
१६. **शान्तिपर्व**, अध्याय ९१, श्लोक ३४
१७. **शान्तिपर्व**, अध्याय १०७, श्लोक ३१
१८. **शान्तिपर्व**, अध्याय १०३, श्लोक ४१
१९. **विराटपर्व**, अध्याय २९, श्लोक ६
२०. **सभापर्व**, अध्याय ५, श्लोक २८
२१. **शान्तिपर्व**, अध्याय ३३, श्लोक ३१
२२. **उद्योगपर्व**, अध्याय ३४, श्लोक ३०
२३. **वनपर्व**, अध्याय ९४, श्लोक १५, १६
२४. **उद्योगपर्व**, अध्याय ३४, श्लोक ३१
२५. **सभापर्व**, अध्याय ५, श्लोक २०–१२९
२६. **शान्तिपर्व**, अध्याय ६८
२७. **उद्योगपर्व**, अध्याय ३६, श्लोक ३१
२८. **उद्योग पर्व**, अध्याय २५, श्लोक ७
२९. **उद्योग पर्व**, अध्याय ३५, श्लोक ४३
३०. **उद्योग पर्व**, अध्याय ३६, श्लोक ५५
३१. **उद्योग पर्व**, अध्याय ३६, श्लोक ५६
३२. **उद्योग पर्व**, अध्याय ३६, श्लोक ६०-६५
३३. **उद्योग पर्व**, अध्याय ३९, श्लोक १८-२४

□

परिशिष्ट १

।। संस्कृत-राष्ट्रवाणी ।।

संस्कृत-राष्ट्रवाणी

उत्तरेण समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणे ।
वर्षं तद् भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः ।।
नवयोजनसाहस्रो विस्तारश्च द्विजोत्तमाः ।
कर्मभूमिरियं स्वर्गमपवर्गं च गच्छताम् ।।
महेन्द्रो मलयश्चैव सह्यः शुक्तिमानृक्षपर्वतः ।
विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तात्र कुलपर्वताः ।।
इतः स्वर्गश्च मोक्षश्च मध्यं चान्ते च गच्छति ।
न खल्वन्यत्र मर्त्यानां कर्मभूमौ विधीयते ।।

× × ×

इज्यायुद्धवाणिज्यादि वृत्तिमन्तो व्यवस्थिताः ।
शतद्रु चन्द्रभागाद्या हिमवत्पाद-विनिःसृता ।।
तापि-पयोष्णी-निर्विन्ध्या-कावेरी-प्रमुखापगाः ।
ऋक्षपादोद्भवा ह्येताः श्रुताः पापं हरन्ति याः ।।
गोदावरी-भीमरथी-कृष्णवेण्णादिकास्तथा ।
सह्य पादोद्भवा नद्यः स्मृताः पापभयापहाः ।।
कृतमाला ताम्रपर्णीप्रमुखा मलयोद्भवाः ।
त्रिसान्ध्य-ऋषि कुल्याद्या महेन्द्रप्रभवाः स्थिताः ।
ऋषिकुल्या कुमाराद्याः शुक्तिमत्पादसम्भवाः ।।
आसां नद्युपनद्यश्च सन्त्यन्यास्तु सहस्रशः ।।

× × ×

आसां पिबन्ति सलिलं वसन्ति सरितां सदा ।
समोपेता महाभागा हृष्टपुष्टजनाकुलाः ।।
तपस्तप्यन्ति यतयो जुह्वते चात्र यज्विनः ।
दानानि चात्र दीयन्ते परलोकार्थमादरात् ।।
पूरुषैर्यज्ञपुरुषो जम्बूद्वीपे सदेज्यते ।
यज्ञैर्यज्ञमयो विष्णुरन्यद्वीपेषु चान्यथा ।।

अत्रापि भारतं श्रेष्ठं जम्बूद्वीपे महामुने ।
यतो हि कर्म भूरेषा यतोऽन्या भोगभूमयः ॥
अत्र जन्म सहस्राणां सहस्रैरपि सत्तम ।
कदाचिल्लभते जन्तुर्मानुष्यं पुण्य सञ्चयात् ॥

गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे ।
स्वर्गापवर्गास्पदहेतुभूते भवन्ति भूयः पुरुषा मनुष्याः ॥
जानीम नो तत् तु वयं विलीने स्वर्गप्रदे कर्मणि देहबन्धम् ।
प्राप्स्यन्ति धन्याः खलु ते मनुष्या ये भारते नेन्द्रियविप्रहीनाः ॥

—[ब्रह्मपुराणे, १९।१-२७]

एवं तु भारतं वर्षं नवसंस्थान संस्थितम् ।
दक्षिणे परतो यस्य पूर्वे चैव महोदधिः ॥
हिमवानुत्तरेणास्य कार्मुकस्य यथा गुणः ।
तदेतद् भारतं वर्ष सर्वबीजं द्विजोत्तमाः ॥

× × ×

देवानामपि भो विप्राः सदैवैष मनोरथः ।
अपि मानुष्यमाप्स्यामो देवत्वात् प्रच्युताः क्षितौ ॥

× × ×

न भारतसमं वर्षं पृथिव्यामस्ति भो द्विजाः ।
यत्र विप्रादयो वर्णाः प्राप्नुवन्त्यत्रि वाञ्छितम् ।
धन्यास्ते भारते वर्षे जायन्ते ये नरोत्तमाः ।
धर्मार्थकाममोक्षाणां प्राप्नुवन्ति महाफलम् ॥

प्राप्यते यत्र तपसः फलं परमदुर्लभम् ।
सर्वदानफलं चैव सर्व यज्ञफलं तथा ॥
तीर्थयात्राफलं चैव गुरुसेवाफलं तथा ।
देवताराधनफलं स्वाध्यायस्य फलं द्विजाः ॥
यत्र देवाः सदा हृष्टाः जन्म वाञ्छन्ति शोभनम् ।
नानाव्रतफलं नानाशास्त्रफलं तथा ॥

× × ×

प्राप्यते भारते वर्षे न चान्यत्र द्विजोत्तमाः ।
कः शक्नोति गुणान् वक्तुं भारतस्याखिलान् द्विजाः ॥

—[ब्रह्मपुराणे, २७।६५-७८]

उत्तरं यत् समुद्रस्य हिमाद्रे श्चैव दक्षिणम् ।

....

प्राप्स्यामो धन्याः खलुते मनुष्याः ये भारते नेन्द्रियविप्रहीनाः ।।

—[विष्णुपुराणे, २।३।१-२६]

क्षीरोदधेरुत्तरं यद् हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम् ।
ज्ञेयं तद् भारतं वर्षं सर्वकामफलप्रदम् ।।

× × ×

अत्रापि देवा इच्छन्ति जन्म भारतभूतले ।
कदा पुण्येन महता प्राप्स्यामः परमं पदम् ।।

× × ×

सम्प्राप्य भारते जन्म सुकर्मसु पराङ्मुखः ।
पीयूषकलशं व्यक्त्वा विषभाण्डं स मार्गति ।।

× × ×

एवं भारतभूभागं प्रशंसन्ति दिवौकसः ।
सनत्कुमारब्रह्माद्याः स्वभोगक्षयभीरवः ।।
तस्मात् पुण्यतमो ज्ञेयः सर्वकर्मफलप्रदः ।
भारताख्यो महाभाग देवानामपि दुर्लभः ।।

—[बृहन्नारदीयपुराणे, ३।४६।७४]

भारतं नाथ यद् वर्षं दक्षिणेन मयोदितम् ।
तत्कर्मभूमिर्नान्यत्र सम्प्राप्तिः पुण्यपापयोः ।।
एतत् प्रधानं विज्ञेयं यत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् ।।

—[मार्कण्डेय पुराणे, ५५।२१-२२]

एतत तु भारतं वर्षं चतुःसंस्थानसंस्थितम् ।
दक्षिणपरतो ह्यस्य पूर्वेण च महोदधिः ।।
हिमवानुत्तरेणास्य कार्मुकस्य यथा गुणः ।
तदेतद् भारतं वर्षं सर्वबीजं द्विजोत्तम ।।

× × ×

देवानामपि विप्रर्षे सदैवेष मनोरथः ।
अपि मानुष्य माप्स्यामो देवत्वात् प्रच्युताः क्षितौ ।।
मनुष्यः कुरुते तत् तु यन्न शक्यं सुरासुरैः ।।

—[मार्कण्डेय पुराणे, ५७।५८-६३]

मानुष्यं भारते वर्षे त्रयोदशसु जातिषु ।
सम्प्राप्य म्रियते तीर्थे पुनर्जन्म न विद्यते ।।
अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची ह्यवन्तिका ।
पुरी द्वारावती ज्ञेयाः सप्तैताः मोक्षदायिकाः ।।

—[गरुड़पुराणे, उत्तरखण्डे, २८।२-३]

गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे ।
स्वर्गापवर्गस्य फलार्जनाय भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ।।

—[गरुड़पुराणे, उत्तरखण्डे, १।६

हिमाद्रेर्दक्षिणं वर्षं भरताय न्यवेदयत् ।
तस्मात् तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः ।।

—[लिङ्गपुराणे, पूर्वार्धे, ४७।१९]

दुष्यन्तस्य तु दायादो भरतो नाम वीर्यवान् ।
स सर्वदमनो नाम नागायुतवलो महान् ।।
चक्रवर्ती सुतो जज्ञे दुष्यन्तस्य महात्मनः ।
शकुन्तलायां भरतो यस्य नाम्ना तु भारतम् ।।

—[ब्रह्मपुराणे १३।५६, ५७]

पितुस्तुल्यकृतं राज्यं दुष्यन्तस्तनयस्ततः ।
शकुन्तलायां तस्माच्च भरतो नाम भूपतिः ।।
पितुस्तुल्यं कृतं राज्यं दुष्यन्तः स्वर्गतिं गतः ।
भरतो नाम तत्पुत्रो देवपूजन तत्परः ।
महामाया प्रभावेण षट्त्रिंशद्वर्ष जीवनम् ।
षट्त्रिंशाब्दसहस्राणि नृपायुर्वर्धितं तथा ।
तस्य नाम्ना स्मृतः खण्डो भारतो नाम विश्रुतः ।
तेन भूमे विभागश्च कृतं राज्यं पृथक् चिरम् ।।

—[भविष्यपुराणे प्रति सर्ग पर्वणि ३।३०-३६]

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः ।
पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः ।।
यं सर्वशैलाः परिकल्प्य वत्सं मेरौ स्थिते दोग्धरि दोहदक्षे ।
भास्वन्ति रत्नानि महौषधीश्च पृथूपदिष्टां दुदुहुर्धरित्रीम् ।।

—[कुमारसम्भवे १।१, २]

वर्षेषु यद् भारतमार्य धुर्याः स्तुवन्ति गार्हस्थमिवाश्रमेषु ।
तत्रास्मि पत्युर्वरिवस्ययेह शर्मोर्मिकिर्मीरित धर्मलिप्सुः ॥
स्वर्गे सतां शर्म परं न धर्मा भवन्ति भूमाविह तच्च ते च ।
शक्या मखेनापि मुदोऽमराणां कथं विहाय त्रयमेकमीहे ॥
साधोरपि स्वः खलु गामिताधो गमी स तु स्वर्गमितः प्रयाणे ।
इत्यायती चिन्तयतो हृदि द्वे द्वयोरुदर्कः किमु शर्करे न ?

—[नैषधीयचरिते, ६।१७-६६]

भारतगीतिका

अत्रं भारतीया मतानां विभेदैरलं देशभेदेन वैरेण चालम् ।
अयं शाश्वतो धर्म एको, धरायां न सम्भाव्यते धर्मतत्त्वेषु भेदः ।
दया भूतसंघे मतिर्देवदेवे चतुर्वर्ग चिन्ता विरोधाद् विरामः ।
मनःकाय वाक्शोधने चैत्र वुद्धिः परं धर्मतत्त्वं विरोधोऽत्र केषाम् ॥

नराः सर्व एवैकमीशं भजन्ते ईशः परं नाम भेदेन भिन्नः ।
समुद्भासितो धर्म एतेन चैकः विचिन्त्येति को वर्ततां भेदवादे ॥
कलिङ्गाङ्गवङ्गान्ध्रकद्राविडादीनुपाधीन् विहृयैक्यमालम्ब्यभूः ।
अये भारतीयाः पुरेवात्मरूपं लभध्वं यशश्चन्द्रशुभ्रं तनुध्वम् ॥

गिरं संस्कृतां राजकीयां च वाणीं समभ्यस्य लोकद्वयस्यापि सौख्यम् ।
वशे स्थापयध्वं स्वधर्मं स्वदेशं तथा प्रापयध्वं पुनर्गौरवं तत् ॥
चतुर्वर्गमूलं सुर्वाद्येति मत्वा स्वदेशीय विद्यालयानामुदारम् ।
विधायोन्नतिं शिल्पशास्त्रादिशिक्षां प्रचारं भृशं भारते वर्तयध्वम् ॥

अकृत्वा मतिं दोष जाते परेषां विशुद्ध्यै स्वदोषस्य भूयो यतध्वम् ।
स्वदोषे जनैः शोधिते नावकाशः क्वचिद् दोषजातस्यभावीति मत्वा ॥
वचः सर्वतः सत्यमङ्गीकुरुध्वं न चासत्यमुद्घोषितं ब्रह्मणापि ।
चरित्रं भृशं सत्यपूतं तनुध्वं मतिं सर्वभूतावने वर्तयध्वम् ॥

पुरामुष्मिकं चैहिकं भारतीयाः सुखं विद्यया साधितं पूर्वजैर्वः ।
उपेक्ष्याद्य विद्याममुं भोजनार्थं परेषां मुखापेक्षिणो हा भवन्तः ॥
जनैरैहिकामुष्मिकार्थक्षमासु प्रवृत्तिं विहाद्य विद्यासु मोहात् ।
श्रमं शुष्कवादेषु कुर्वद्‌चिरे तैः कथं याप्यते जीवनं दास्यकृत्ये ॥

श्रुतौ दर्शने ज्योतिषे धर्मशास्त्रे पुराणेतिहासेचिकित्साविधौ च ।
तथैवोपयुक्तेषु विद्यान्तरेषु प्रवृत्तिं तनुध्वं विवादान् विहाय ॥

समभ्यस्यदेशान्तरीयाश्च भाषाः समाहृत्य विज्ञान तत्त्वानियुक्त्या ।
गिरा दिव्यया संस्कृतानि प्रकामं स्वदेशीयभाषासु सञ्चारयध्वम् ।।

—म० म० पं० रामावतारशर्मणः

भारतम्

निःस्वं निरात्म विश्वमिदं पाति भारतम् ।
मैत्रीस्पृशा दृशास्ति जितारातिं भारतम् ।।
आधाय धवलधारमुरसि तारहारवत् ।
गङ्गातरङ्गभङ्गशिवं भाति भारतम् ।।

पुष्पं न यद् विकासभितं गन्धवद् भुवि ।
तस्मै स्पृहां प्रदर्श्य न माति भारतम् ।।
दूर्वापि चन्दनायते काशोऽपि कुशसमः ।
उच्चावचं परीक्ष्य पुरो याति भारतम् ।।

विज्ञानमानदृप्तमतृप्तं सृतं जगत् ।
जीवातुमखिल तर्पणं प्रददाति भारतम् ।।
अग्रेसरं मनो निधायन्यस्यते पदं ।
जागर्ति जनः प्रेक्षते, प्रीणाति भारतम् ।।

—जानकीवल्लभशास्त्रिणः

गीति

एहि रणं नो मरणं चिन्तय ।

उच्छृङ्खल-खल-शत्रु-समूहे
खेल तरणिरिव तिमिर व्यूहे
अश्रुकलापकलितदृग्दीनां
जननीं निगडबन्धनान्मोचय ।।

एहि रणं नो मरणं चिन्तय ।

रक्ष पयःपानस्य व्रीडां
स्मर शिशुताया अङ्कक्रीडाम् ।
वसुमोषाणामाशु कृपाणैः
छिन्धि शिरांसि करौ ननु कृन्तय ।।

एहि रणं नो मरणं चिन्तय ।

त्वयि जीवति यदि रोदिति माता
किमिति विनिर्मितवांस्त्वां धाता ?
कथय तवान्तर्द्रवति न सैनिक
सत्त्वरमपि परवशतामन्तय ॥

एहि रणं नो मरणं चिन्तय ।

—रामनाथपाठक–'प्रणयिनः'

[राष्ट्रवाणी (१६५२) इति सङ्कलनात्]

शङ्खनादः

वारणतारकण्टकासक्तास्ते बत मानवदेहाः ?
मानवदेहानध्यासीना हन्त विलुब्धा गृद्धाः ।
व्यग्रं लुठन्ति शिरांसि तानि ते शवाः कृतकरपादाः ।

एकं तन्मृतनग्नाङ्गं निष्प्रच्छदमातपशीर्णम् ।
घोरपगृध्राणामेकं कवलमहहा रक्तच्युतिदिग्धम् ॥

एकं प्रेतवनं तद् यत्र न कश्चिच्छोकालापी ।
एको भ्राम्यन्नात्मा यस्य न गेहः कोऽपि क्वापि ॥

ध्वंसयितव्यो मृत्युः पालयितव्यो चितया प्रसादः ।
स्रष्टव्यो नवसर्गोलोकः कार्यो गतावसादः ॥

अभिशापैर्जीवन्तो यूयं देशप्रेममधून्मत्ताः
शरगृहं रे करे कुरुध्वं वीरा योद्धारो दृप्ताः ।

अटलक्रान्तेर्गायत गीतं प्रलयताण्डवं मण्डयत
शान्तं गगनं विशोभयत द्विषतां हृदयं कम्पयत ॥

स्वतन्त्रतासम्मदमत्ता बलिवेदी वर्त्मध्वन्या रे !
कथं न बिभियाद् वोऽरिजनः शिरसा धृतमतिशीर्षण्यारे ?

अद्य निशायामाशायाः पुनरपि निःसृजत सञ्चारम्
वन्दिनो भङ्क्त कारागारम् ॥

— हरिदत्त पालीवाल–'निर्भयस्य'

[शङ्खनादे, पृ० १८०]

जागर्ति कीर्तिः

वीर, ते जागर्ति कीर्तिर्वीर, ते जागर्ति
धूतसितिमा शोणितश्रियमुल्बणां बरिभर्ति ।।
धूमधारां दुद्विषद्वक्त्रेषु परि सरिसृष्टि
सैव देश-विभावरी-ज्योत्स्नापदं पोपुष्टि ।।

सैव काल-निशावसानायादेयं चरिकर्ति
सैव रिपु हविषे ज्वलन्ती हृत्सु परिचर्चर्ति ।।

दूरपारेऽन्धे , वनेऽन्धीभूय धूकास्तद्भयात् ।
वीर रे, विपलाय्य लीना भारतात् प्रतिभारत त् ।
वीर, ते जागर्ति कीर्तिर्वीर ते जागर्ति ।।
अद्राक्ष्म दु:खितानां वयमापदां पदानां
दृग्भ्योऽश्रुपातलक्ष्यान्यङ्गारवर्षणानि ।

अद्राक्ष्म कामनाभ्य: सुखभोगलालितानां
वयमेभिरेव नेत्रै रसरागवर्षणानि ।

अद्राक्ष्म वैद्युतीं तां दीप्तिं धनेश्वराणां
सद्मानि रोचयन्तीं चापल्य-दोष-हीनाम् ।

अद्राक्ष्म धूमलेखामधरेषु नीरसेषु
दारिद्रय-दारुदग्धानामान्तराग्निमुक्ताम् ।

अद्राक्ष्म नृत्य शालां लक्ष्म्या विलासधन्याम्
अद्राक्ष्म पीडितानां पीडामलक्ष्यसीमाम् ।।

—[देवभाषा]

क्राम्याम देहलीम्

आच्छिद्य जीविकां न:, परकेऽद्य सन्ति पीना:
अवृताम ये वरिष्ठास्ते स्मोऽधुना स्म हीना: ।

ये धर्मकेतवस्ते वयमद्य धूलिभूता:
शीर्षण्यतामुपेता: कौपीनतां गतास्ते ।

किं लभ्यते कदन्नं परकार्पितं पटश्च;
क्राम्यन्तु देहलीं तत् क्राम्यन्तु देहलीं तत् ।

नहि रक्षितुं शिखापि श्मश्रूण्यपि स्म नस्तत्,
क्राम्यन्तु देहलीं तत्, क्राम्यन्तु देहलीं तत् ।

क्षुत्पीडिता म्रियन्ते लक्षाणि तत्कृते नो
कल्पामहेऽन्नदाने मोऽप्यशिक्षितानाम् ।

शिक्षामपि प्रदातुं प्रभवाम आह जीर्यद्-
हृदयेषु धातुमूर्क् च प्रभवाम आ इदानीम् ।

हा सत्त्वरज्जुबद्धा नो चालनेऽपि मूर्ध्नः
कल्पामहेऽवधूय स्वां दासतां प्रसक्ताम् ।

मूर्धानमुच्चमत्याचारस्य कर्तितुं तं
क्राम्याम देहलीं तत्, क्राम्याम देहलीं तत् ।

यद्यस्ति जीवितव्यं क्राम्याम देहलीं तत्
यद्यस्ति वर्तितव्यं क्राम्याम देहलीं तत् ।

यद्यस्ति कर्म कार्यं क्राम्याम देहलीं तत्
यद्यस्ति लभ्यमन्नं क्राम्याम देहलीं तत् ॥

चेन्नस्तृषापनेया क्राम्याम देहलीं तत्
लभ्यं यदस्ति वासः क्राम्याम देहलीं तत्

चेच्छत्रवोऽपनेयाः क्राम्याम देहलीं तत् ।
चेच्छ्रीः समर्थनीया क्राम्याम देहलीं तत् ॥

—(देवभाषा)

स्वराज्य-प्राप्तिः

स्वमातृमूर्धखण्डनं स्वतन्त्रतात्मकः शिशु-
र्विधाय हाऽवतीर्णवान् समुत्सवं वितीर्णवान् ।

अनाप्य हा तटं तरौ तु कर्णधार ईयिवान्
अनेकधा प्रवातवातबाधनं समेयिवान् ।

असंख्य-सून-शातनं फलं शुभं यदाऽऽगतं
तदैव कीटदन्तकोटिघट्टनेन तत् क्षतम् ।

हिमाद्रिवर्त्मरोहणं कुनीतयस्तदापदाः
समापतन्ति यक्षराजसद्म किन्तु सम्पदाः ।

लुण्ठिता सुधा, न तृष्णजो मुखे कणोऽपि हा
पपात पातकायुतैर्युतो ऽमरेन्द्रसद्मनि ।

सुपुण्यवांश्च रौरवे किमेतदस्ति लक्ष्यतां
स्वराज्यमागतं सुराजता परन्तु नागता ।

—(कविः)

त्वं देवभूमिर्भरतावनिर्नस्त्वं वीरभूमिर्भुवि सुप्रसिद्धा ।
विध्वंस्य शत्रून् भव शान्तिदा त्वं चोत्तिष्ठ तज्जागृहि भारताम्ब ।।
त्वं व्यास-गोतम-पतञ्जलि-जन्मदात्री त्वं द्रोण-भीष्म-भरतार्जुन-कर्णधात्री ।
सीता-सती-समसुशीलसुताप्रसूस्त्वं मातः स्तशासनरता जयतात् पुरेव ।।

× × ×

स्वातन्त्र्यशालि गणतन्त्रकृतात्ममूर्तिः स्फारद्युतिः शुभमतिः पारिलब्धकीर्तिः ।
विश्वोन्नतिस्थिरगतिर्भरतावनिस्त्वं साम्बा सदा विजयतां जगतीतलेऽस्मिन् ।।
स्वाधीन शासनमिदं सफलं समेतु दिक्षु प्रसर्पतु च सद्गुण कीर्त्तिवल्ली ।
यायात समुन्नतिपथं भुवि भारतं नः वाञ्छेयमस्ति भगवच्चरणारविन्दे ।।

× × ×

संस्थापयज्जनमनःसु विवेकभावं विद्वेषि-दुर्जनचयान् दलयच्च नित्यम् ।
स्वायत्त शासनमिदं निजभारतस्य सर्वत्रकीर्त्तिमयतां जगतीतलेऽस्मिन् ।।

× × ×

गृहे गृहे भारतवासिनां पुनः स्वातन्त्र्य सौख्यानुभवोऽस्तु शर्मदः ।
भवन्तु सर्वे सुखिनः समन्तात् समुन्नतं स्याच्च सुभारतं नः ।।
इदं भवेद्विश्वजनेन संस्तुतं जगद्गुरुत्वेन पुनश्च कीर्त्तिम् ।
स्वभारतं सर्वजगद्विनायकं पुरेव भूयादधुनापि भारतम् ।।

—[श्री बालकृष्णभट्टस्य स्वतन्त्रभारते,
उत्तरपीठिकायाम्, पृ०, २२१-२३]

विक्रीय शीर्षं स्वकरैः सहर्षमाक्रेतुकामा निजदेशमानम् ।
स्पर्धाद्य पुष्टास्यसिशीर्षमध्ये पश्याद्य कं संवृणुते जयश्रीः ।।

—[स्वयम्प्रकाशशर्मणो भक्तसिंहचरिते, ५।२५]

हुतात्मराज्ञां चितिकासमक्षं प्रत्येकवर्षे भवितोत्सवैकम् ।
इदं हि तेषां स्मृतिचिह्नमेव तथैव ते सर्वजनैः स्मृताः स्युः ।।

—[स्वयम्प्रकाशशर्मणो भक्तसिंहचरिते, ५।२७]

वासन्तरङ्गे मम देहवस्त्रं करैर्निजैः रञ्जय देव सद्यः ।
येनास्मि कुर्यां निजदेशसेवां दत्त्वापि रक्तं निजदेहजन्यम् ॥

शिवोऽपि वीरो निजशत्रुहन्ता गोप्तुं स्वदेशं करवालहस्तः ।
वासन्तमेतत्परिधाय वस्त्रं स्वमातृभूमेर्निचकर्त्त पाशान् ॥

घनं कलङ्कं परदासताख्यं कलङ्कितं येन च वस्त्रमेतत् ।
किं जीवनं तस्य भवेत्प्रशस्यं यस्यास्ति देशः परशासितोऽत्र ॥

विद्रोहदावानलतप्तचित्तं भस्मीचिकीर्षुः खलपादपौधान् ।
इच्छामि देशस्य हिताय मृत्युं योऽसौ वरीयान् शतकोटिजीवात् ॥

वीक्ष्यान्यवीरान् बलिपाशबद्धान् उत्कण्ठितं मानसमस्तिमेऽपि ।
तदेव वासन्तपटं धरिष्ये यद् देशमुक्त्यै विधृतं प्रवीरैः ॥

—[भक्तसिंहचरितम् ५।१२-१६]

देशः सोऽयं विदितमहिमा योनिराश्चर्यभूम्नां
क्षोणी-चूडाऽऽभरण-शिखर-स्फार-हीरायमाणः ।

यस्मिन्नन्धं तम उपचितं छन्नविज्ञानरेखं
छिन्दन् मित्रोऽपर इव परं ज्योतिराविर्बभूव ॥

पश्यँल्लोकान् स्वकृत-कुकृतोद्भूतशोकान् समन्तात्
शक्तेर्दम्भात् सकलभुवनाभोगरोगायमाणान् ।

लूनं लीनं सुकृतमभितं ख्यापयन् भूतिमूर्ति–
र्यस्मिन् भूयोऽधृत नरतनुं पूरुषोऽसौ पुराणः ॥

अस्मिन् देशेऽजनि पृथुयशाः शाक्यवंश प्रदीपो
यन्नामापि स्मृतमसुमतां कल्मषाणि प्रमार्ष्टि ।

यो राजन्यो जगदविजितं दुर्ग्रहं शत्रुसैन्यं
मारादीनां धृतिमतिबलैर्लीलया निर्जिगाय ॥

भोगान् रोगान् भवसितिकरान् बन्धुमित्राण्यमित्रान्
आधिं राज्यक्षुधमगणयद् यो धनानीन्धनानि ।

चक्रे विश्वं गृहमिव दधे प्राणिमात्रे स्वबुद्धिं
सौख्यस्फीतिं परहितरुचौ पथ्यमिच्छापहारे ॥

आदिक्षद् यो मनुजसमतां भूतजातेऽनुकम्पां
दीनोद्धारं पुनरपघृणं वाऽऽतुरार्त्तिप्रणाशम् ।

चातुःसत्यं भुवि परिदिशन् धर्मचक्रप्रवृत्त्या
साधीयांसं जगति विदधल्लोककल्याण मार्गम् ।।

× × ×

स्निह्यन् दीने पतितदलितानातुरांश्चानुगृह्णन्
बन्धुप्रीत्या भुवनमखिलं मानयन्नात्मन्दीनम् ।
कुर्वन् हीनानभिमत पदासीनता सौख्यलीनान्
मुग्धी कृत्यावनिमयमभून्मोहनोऽन्वर्थनामा ।।

—शिवप्रसादभारद्वाजस्य

[भारतसन्देशे, पृ० १-२]

आसीत् पूर्वं धनदविभवा वीरमाता धरायां
तस्याः पुत्रा धरणिशयना विस्मृतक्षीरपानाः ।
सा दुर्दैवाद् विगतसुषमा रत्नगर्भाऽधुना नो
नग्ना स्वास्रं पिबति किमहो छिन्नमस्ता स्वरूपा ।।
कङ्कालस्य प्रतिकृतिमहो चेतसो भीतिहेतुं
मन्येऽहं त्वां स्वरुधिरहुतैर्वीरधात्रीं विदध्याम् ।।
जन्मन्यस्मिन् परमपि मुहुः पुण्यकर्मोच्चयेन
क्षीणक्षीणां श्रियमिह तवोद्धर्तु मीशो भवेयम् ।।
श्यामच्छाया दलित महिषा मुण्डमाला दधाना
मत्स्याजीवैः कथमनुकृतेर्म्लानपुष्पैरिहार्च्या ?
सूत्वा सिंहान् किमिह जननी फेरवाणामसि त्वं ?
धीरः संख्ये स्थिरनिजमहा मङ्क्षु हन्यादरातिम् ।।

—[दत्तदीनेशचन्द्रस्य
भारतगाथायाम्, पृ० १०]

भारतजननी

अनेकभाषाविचारधाराधर्मकथापूजानुरञ्जिता
एकसूत्रतागुणविभूषिता भारतीयसंस्कारसंहिता ।
विश्वशान्तिसन्देशशालिनी भवतु भूतले सदा विजयिनी
अभयदायिनी भारतजननी भवतु भूतले सदा विजयिनी ।।

—श्रीनिवासरथस्य

हिमवत्कलहरसमरीचिसिते यमुना जलनील विभामहिते ।
रविचुम्बितकोकनदारुणिते जय भारत मेदिनि विश्वनुते ॥

नवसर्षपपीतदुकूलयुते बहुशस्यसमूहविभाहरिते !
मलयानिलमोदकलाकलिते जय भारतमेदिनि विश्वनुते ॥

अतिपुण्यपुरातनपद्धतिभिर्नवनूतन योग प्रयोगचयैः ।
समयोचित नीतिवलैः सहिते जय भारतमेदिनि विश्वनुते ! ॥

त्रिविधैः खलु तापचयैर्विकले मनुजे शुभनिर्वृति मादधती ।
नवमङ्गलदानविदग्धकरे जय भारतमेदिनि विश्वनुते ॥

मुनिभिर्मनुजैर्दनुजैर्विवुधैः कविभिर्नवचित्रकलैश्च तथा ।
निजजन्म सुजन्मसु कामयिते (!) जय भारतमेदिनि विश्वनुते ! ॥

अभिमान धनैः रणशौण्डभटैः कृषिकर्मपरैः श्रमिकैर्लसिते ।
शुचिशान्तिसुधाभरिते वरदे जय भारतमेदिनि विश्वनुते ! ॥

जय देश विदेश प्रभालसिते वहुवर्णजनौघप्रभालसिते ।
बहुलोक सुरीतिरसैः सरसे जय भारतमेदिनि विश्वनुते ! ॥

करुणाकलिते मुदिताभरिते मरसे सरले मृदुले ललिते !
सुदृढे दुरितौघ विनाशकरे जय भारतमेदिनि विश्वनुते ? ॥

——रमाकान्तशुक्लस्य ['जय भारतभूमे' (१९८१ ई०) इति सङ्कलनात्]

काञ्चनं बभूव यद्गतं मामकं तदेव भारतम् ।
युज्यते हिमालयो यदीयरक्षणे वृद्धिमाप भूतलं यदीयशिक्षणे ।
वैखरी च यस्य संस्कृतम् ।
अङ्गबङ्गकेरलान्ध्रमध्यभूयुतम् उत्कलासमोत्तरप्रदेशसम्मतम् ।
सिन्धुगुर्जरादिमण्डितम् ।
क्षालयत्यपां निधिः सदा पदाम्बुजं पार्वणेन्दुरश्नुते विशेषकश्रियम् ।
यन्महः प्रभातंनन्दितम् ।
जाति धर्मभारतीपृथक्त्वधर्षितम् एकसूत्रकलिपतं तथापि जीवितम् ।
लोकतन्त्रभावनाभृतम् ।
यस्य धूलिकर्दमे विलुठ्य सन्ततम् ईश्वरोऽपि लीलयाश्चकार सोऽद्भुतम् ।
स्वर्गतोऽपि भूरिसौख्यदम् ।
क्वाभिषेकवैभवं क्व काननोद्यमः राघवस्य नो सुखं न वाऽधिकश्रमः ।
योगभोगसाम्यशंसितम् ।

दृश्यतेऽधुनापि यत्कदम्बकानने नन्दनन्दनच्छविस्तु वेणुवादने ।
भाषते कलिन्दजा श्रुतम् ।
क्रन्दते सुदाम्नि दुर्विपन्नदीनता द्वारकाधिपे च भाति यत्र बन्धुता ।
तण्डुलैरवाप्यतेऽमृतम् ।
मेघमण्डलं विलोक्य जीवितप्रियां वक्ति गुह्यको निजां दुरन्तविक्रियाम् ।
वारिदो वहत्यभीप्सितम् ।
यस्य तीर्थमण्डलं करोति पावनं मोक्षदं च यत्सुरापगावगाहनम् ।
गौरवं हि लोकविश्रुतं
मामकं तदेव भारतम् ॥

—अभिराजराजेन्द्रमिश्रस्य

['मृद्वीका' (१९८५ ई०) इति सङ्कलनात्]

त्रिरंगोध्वजः

आलवारऋषिवृन्दकरम्बितगीतिः काचन वेदयते
राष्ट्रियैकतां कलय सन्ततं दमयन्तीम् ।
भारतीयवसुधापुरातनी
नवनवाङ्कुरा प्रकृतिमोहिनी ।

□

परिशिष्ट २

श्री अरविन्द की

क्रान्तिदर्शिनी संस्कृत-कविता

।। भवानी भारती ।।

तथा

उसका हिन्दी अनुवाद

भवानी भारती

श्री अरविन्दः

सुखे निमग्नः शयने यदासं मधोश्च रथ्यासु मनश्चचार ।
स चिन्तयामास कुलानि काव्यं दारांश्च भोगांश्च सुखं धनानि ॥१॥

कान्तैश्च श्रृङ्गारयुतैश्च हृष्टो गानैः स छन्दो ललितं बबन्ध ।
जगौ च कान्तावदनं सहास्यं पूज्ये च मातुश्चरणे गरिष्ठे ॥२॥

चक्रन्द भूमिः परितो मदीया खलो हि पुत्रानसुरो ममर्द ।
स्वार्थेन नीतोऽहमनर्च[1] पादे दुरात्मनो भ्रातृवधेन लिप्ते ॥३॥

सुखं मृदावास्तरणे शयानं सुखानि भोगान्वसु चिन्तयन्तम् ।
पस्पर्श भीमेन करेण वक्षः प्रत्यक्षमक्ष्णोश्च बभूव काली ॥४॥

नरास्थिमालां नृकपालकाञ्चीं वृकोदराक्षीं क्षुधितां दरिद्राम् ।
पृष्ठे व्रणाङ्कामसुरप्रतोदैः सिंहीं नदन्तीमिव हन्तुकामाम् ॥५॥

क्रूरैः क्षुधार्तैर्नयनैर्ज्वलद्भिर्विद्योतयन्तीं भुवनानि विश्वा ।
हुङ्काररूपेण कटुना स्वरेण विदारयन्तीं हृदयं सुराणाम् ॥६॥

आपूर्य विश्वं पशुवद्विरावैर्लेलिह्यमानाञ्च हनू कराले ।
क्रूराञ्च नग्नां तमसीव चक्षुर्हिंस्रस्य जन्तोर्जननीं ददर्श ॥७॥

आलोलकेशैः शिखरान्निगृह्य करालदंष्ट्रैश्च विसार्य सिन्धून् ।
श्वासेन दुद्राव नभो विदीर्णं न्यासेन पादस्य च भूश्चकम्पे ॥८॥

उत्तिष्ठ देहीति पिपासुरम्बा दध्वान रात्रौ नगरे वितारे ।
सेयं स्तनन्ती रजनीं तमिस्रां बभौ समापूर्य मनांसि चार्या ॥९॥

भीतः समुद्विग्नमनाश्च तल्पादुत्थाय पप्रच्छ तमो नमस्यम् ।
का भासि नक्तं हृदये करालि कुर्वाणि[2] किं ब्रूहि नमोऽस्तु भीमे ॥१०॥

---

१. नियमितरूपम्—आनर्च ।

२. नि० रू०—करवाणि ।

सिंहस्य सारावमुदीरयन्ती क्रूरस्य कुञ्जे भ्रमतो वधार्थम् ।
ससर्ज वाक्यानि करालमूर्तिर्यथा समुद्रस्तनितं शिलायाम् ॥११॥

मातास्मि भोः पुत्रक भारतानां सनातनानां त्रिदशप्रियाणाम् ।
शक्तो न यान्पुत्र विधिर्विपक्षः कालोऽपि नो नाशयितुं यमो वा ॥१२॥

ते ब्रह्मचर्य्येण विशुद्धवीर्या ज्ञानेन ते भीमतपोभिरार्याः ।
सहस्रसूर्या इव भासुरास्ते समृद्धिमत्यां शुशुभुर्धरित्र्याम् ॥१३॥

शूराः प्रगल्भाश्च हि शात्रवाणां स्पर्धालवं सोढुममर्षणास्ते ।
पूजां जनन्या रिपुभिः समाप्य रेजू रणान्ते रुधिराक्तदेहाः ॥१४॥

दीनाः क एते घृणिनो दरिद्राः शान्ति जघन्यां गणिकामिवान्धाः ।
भजन्ति भोः कापुरुषाः कुबुद्धय[1]आलिङ्ग्य[2] ये मोदथ मृत्युमेव ॥१५॥

क्लीवाः कियन्त्येवमसून्दिनानि धरिष्यथार्ताः प्रहृता वृथैव ।
हसन्त्यमित्रा अपमानराशिं क्रीणीथ शान्त्या धनशोषणञ्च ॥१६॥

म्लेच्छस्य पूतश्चरणामृतेन गर्वं द्विजोऽस्मीति करोति कोऽयम् ।
शूद्रादनार्यतरोऽसि शूद्रो व्रतैः किमेतैर्नरकस्य पान्थे ॥१७॥

उत्तिष्ठ भो जागृहि सर्जयाग्नीन् साक्षाद्धि तेजोऽसि परस्य शौरेः ।
वक्षःस्थितेन सनातनेन शत्रून्हुताशेन दहन्नटस्व ॥१८॥

कः क्षत्रबन्धुर्भवनेषु गूढो मद्येन कटाक्षैश्च विलासिनीनाम् ।
धर्मान्यशो दुर्बल विस्मृतोऽसि युध्यस्व भो वञ्चक रक्ष धर्मान् ॥१९॥

अस्त्येव लोहं निशितश्च खड्गः क्रूरा शतघ्नी नदतीह मत्ता ।
कथं निरस्त्रोऽसि मृतोऽसि शेषे रक्ष स्वजातिं परहा भवार्यः ॥२०॥

वैश्योऽसि कश्चेह विशः समृद्ध्यै धनं किमेतद्विपणीषु सज्जम् ।
म्लेच्छर्द्धिरेषा कुरुषे दरिद्रां मामेव कालीं खल मातृद्रोहिन् ॥२१॥

म्लेच्छर्द्धिमेतां ज्वलनाय देहि रोषाग्निना किं न बिभेषि काल्याः ।
देवीं भवानीं हृदि पूजयित्वा यतस्व लक्ष्म्यै भव जन्मभूम्याः ॥२२॥

भो भो अवन्त्यो मगधाश्च वङ्गा अङ्गाः कलिङ्गाः कुरवश्च सिन्धो ।
भो दाक्षिणात्याः शृणुतान्ध्रचोला वसन्ति ये पञ्चनदेषु शूराः ॥२३॥

ये के त्रिमूर्तिं भजथैकमीशं ये चैकमूर्तिं यवना मदीयाः ।
माताह्वये वस्तनयान्हि सर्वान् निद्रां विमुञ्चध्वमये शृणुध्वम् ॥२४॥

---

१. नि० रू०—कुबुद्धय ।
२. विकल्प—न जानथालिङ्ग्य कृतान्तमेव ।

कालस्य भेरीं शृणुताद्रिशृङ्गे रौद्रं कृतान्तं मम दूतरूपम् ।
दुर्भिक्षमेतानथ भूमिकम्पान् निबोधताधीशतमागतास्मि ॥२५॥
देहि क्रतून्देहि पिपासुरस्मि जानीहि दृष्ट्वा भज शक्तिमाद्याम् ।
शिरांसि राज्ञां महतां तनूश्च भोक्तुं नदन्ती चरतीह काली ॥२६॥
रक्तप्रवाहैरपि नास्मि तृप्ता शतैः सहस्रैरयुतैरजानाम् ।
प्रदत्त भित्त्वा हृदयानि रक्तं सम्पूजयन्त्येवमजां करालीम् ॥२७॥
येषां सदैवात्मबलिप्रवृत्ताः शूरा महान्तः प्रमुखाः कुलार्थे ।
सौम्या कराली भवति प्रजानां रक्तेन पुष्टा विनिहन्ति शत्रून् ॥२८॥
कं बिभ्यतार्या[1] रुधिरस्य सिन्धौ निमज्जतास्मिन्भवतार्यसत्त्वाः ।
त्रिशूलि भोः पश्यत तत्र पारे ज्योतिर्ह्युदेतीदमभिन्नतेजः ॥२९॥
कवे विलासिञ्शृणु मातृवाक्यं कालीं करालीं भज पुत्र चण्डीम् ।
द्रष्टासि वै भारतमातरं तां घ्नतीमरातीन्भृशमाजिमध्ये ॥३०॥
सनातनान्याह्वय भारतानां कुलानि युद्धाय जयोऽस्तु मा भैः ।
भो जागृतास्मि क्व धनुः क्व खड्ग उत्तिष्ठतोत्तिष्ठत सुप्तसिंहाः ॥३१॥
इमानि वाक्यानि निशम्य रात्रौ तेजश्च भीमं तिमिरे विलोक्य ।
चित्तं ननर्ताशु विहाय सद्म भोगान्विनिर्धूय च निर्जगाम ॥३२॥
सान्द्रं तमिस्रावृतमार्तमन्धं ददर्श तद्भारतमार्यखण्डम् ।
गूढा रजन्यामरिभिर्विनष्टा माता भृशं क्रन्दति भारतानाम् ॥३३॥
स भ्रामयामास दृशं रजन्यां भ्रातॄन्स तप्तस्तिमिरे विचिन्वन् ।
कङ्कालसाराणि ददर्श तानि शवानि तेषां करुणानि भूमौ ॥३४॥
तदा ददर्शासुरमेकमीशं किरीटिनं वज्रधरं महान्तम् ।
अस्रूणि रक्तौघशतानि मातुः संगृह्य पुष्णन्तमपत्यसंघान् ॥३५॥
पदा तुषाराद्रिमदीनसत्त्वं मृदन्तमन्ध्रानितरेण पौण्ड्रान् ।
प्रसारयन्तं करवालमुग्रं चीनावनौ पह्लवभूमिखण्डे ॥३६॥
खलं विशालं बलगर्वितं तं विकत्थमानं धर्ममधर्मबुद्धिम् ।
दृष्ट्वा त्वभूच्चित्तमिवाग्निकुण्डं क्रोधेन जज्वाल हि शाश्वतेन ॥३७॥
कुलानि सुप्तानि सनातनानि ह्वातुं जगौ जागरणाय भीमा ।
क्रूरं विरावौघमुदीरयन्ती पार्श्वे ममायाद्रजनीव घोरा ॥३८॥
भीमैः करालैर्धरणी वचोभिश्चचाल सिन्धुश्च नभो जगर्ज ।
भीमैः सरोषैश्च विलोकनैस्तैर्ब्रह्माण्डमुत्तप्तमिवाग्निवृष्ट्या ॥३९॥

---

१. नि० रू०—बिभीथ ।

त्रैलोक्यमुन्मादकरैः कराल्या आवाहनैः पूर्णमभूच्च सर्वम् ।
ज्वालामुखी दारुणवह्निगर्भा कण्ठादुदक्रामदजस्रशब्दा ।।४०।।

क्षोभेण तीव्रेण चराचरस्य क्षुब्धान्यपश्यं पृतनानि तत्र ।
स्वप्नोत्थितानीव वचः सुरौद्रं भो हन्यतां दुष्ट इतीरयन्ति ।।४१।।

ज्ञात्वा हि मातू रुदितं क्षतानि विद्युद्धराणीक्षणशतान्यभूवन् ।
क्रोधैः सहस्राणि ततो मुखानि भीमानि भीमं दनुजेशमायन् ।।४२।।

सुप्तेषु पुत्रेषु रणोत्सुकेषु निशाचरः शोणितमार्यमातुः ।
पिबन्विनर्दस्यबलान्वली को विहंसि चाण्डाल कृतान्तभक्ष्य ।।४३।।

इतीरयन्ती वचनानि रुष्टा शस्त्रं गृहीत्वा धनुरग्निगर्भम् ।
अभ्यद्रवद्भीममरातिमुग्रा पश्चात्पुरस्ताच्च जगर्ज काली ।।४४।।

ज्वालाकराला धरणी बभूव क्रोधैर्ज्वलद्भिर्गगनञ्च तूर्णं ।
ह्लेषारवैर्दुन्दुभिनाञ्च[1] नादैर्जगद्वित्रस्तं दनुजस्य युद्धे ।।४५।।

रक्ताक्तमेघा नभसीव तेपुः पपात चोर्व्यां रुधिरोग्रवृष्टिः ।
रक्तोदधौ रेजिर अद्रिसंघा वसुन्धरा रक्तमया बभासे ।।४६।।

भीमो रजन्यामसुरो बलीयान् ममर्द सैन्यानि सुरप्रियाणाम् ।
जगर्ज चोन्मत्तमनाः सुरारिः को मे समः पुंस्विति रूढगर्वः ।।४७।।

तदा तमिस्रामपसारयन्तं रक्तप्रकाशं दिवि बालसूर्यम् ।
शरोपमैर्घ्नन्तमिवांशुभिस्तं प्रीतो ददर्शाहमुदग्ररश्मिम् ।।४८।।

समाकुलं भाविभिरास्यवर्यैर्ब्रह्माणमपश्यमथाभ्ररूपम् ।
सहस्रनेत्राणि ददर्श तस्मिन् प्रतीक्षमाणान्यभयं जनन्याः ।।४९।।

द्विकोटिभास्वद्वरसूर्यभासं ज्योतिस्तदा सौम्यमरातिनाशि ।
नारीशरीरं रमणीयकान्ति दूरादुदीच्यामुदियाय शुभ्रम् ।।५०।।

तां ह्लादिता दीप्तजगत्सु देवास्तामन्तरीक्षे मधुरं वयांसि ।
जगुर्मनुष्याः प्रणिपत्य चोर्व्यां विश्वं विनष्टाधि यदाविवेश ।।५१।।

समाधिधीरा हिमभूतदेहा युगान्यनेकानि हिमाद्रिकूटे ।
ये योगिनो भारतगोप्तृरूपास्ते तुष्टुवुस्तां मुदिता महान्तः ।।५२।।

ज्ञानाकरेभ्यो हि विलोचनेभ्यो हिमानि मन्दं युगसञ्चितानि ।
उत्सार्य देवीमथ भीमकान्ति महाप्रतापा बलिनीमगायन् ।।५३।।

---

१. नि० रू० — दुन्दुभीनाम् ।

तुभ्यं नमो देवि विशालशक्त्यै नमामि भीमां बलिनीं कृपालुम् ।
त्वमेव वै तारयसीह जातीरूर्जस्वलायै नम आदिदेव्यै ॥५४॥

कस्ते बलं वर्णयितुं समर्थो देवि प्रचण्डे करपल्लवेन ।
एकेन हि भ्रामयसे रुणत्सि विश्वं सतारार्कमनन्तवीर्ये ॥५५॥

आजौ यदा नृत्यसि चण्डि घोरे शृगालघुष्टे दधती त्रिशूलम् ।
स्पर्शेन कम्पन्त इवायुधस्य महान्ति तारानियुतानि नाके ॥५६॥

दयार्द्रचित्ता रुदितेन पुंसां हंसि प्रजापीडकमस्तकेषु ।
यो मृत्युरत्ता भुवनस्य रौद्रः स किंकरस्ते वसति त्रिशूले ॥५७॥

शक्तिः परा कोटिषु मानवानां सैमन्युनां[1] त्वं भवसि प्रबुद्धा ।
आर्यान्विपन्नानवतीर्य पासि युगे युगे युध्यस आर्यमातः ॥५८॥

सद्योऽपि पश्यामि गिरावुदीच्यां देदीप्यमानं धवलं वपुस्ते ।
त्वं भ्राजसे ज्योतिरुदेषि सौम्ये प्रकाशयन्ती भुवनानि कान्त्या ॥५९॥

धेनौ समारूढमनोज्ञकान्ती रणोन्मदायां चरसीयमार्या ।
शैला इवोत्तुङ्गशिखाः समूलाः पतन्ति संघाः परितोऽसुराणाम् ॥६०॥

सा शुभ्रवर्णासितवृत्तशृङ्गा हिमस्य राशिश्चलतीव तूर्णम् ।
देवप्रिया भारतभूमिरार्या धेनुस्वरूपेण विहन्ति शत्रून् ॥६१॥

व्यूहास्त्वकस्माज्जितदैवतानां भयेन ते पाण्डुरवक्त्रकान्त्यः[2] ।
वारिप्रपाता इव पर्वतेभ्यो धावन्त्यधो वेगपराः सशब्दाः ॥६२॥

शृणोमि ते पाञ्चनदेषु भीमे स्वरानुदाराञ्जयनादमुग्रम् ।
निहन्यमानस्य रवं बलस्य भयङ्करे तारतरं शृणोमि ॥६३॥

कृष्णस्य सैषा यमुना स्रवन्ती रक्तेन नीलं विससर्ज वर्णम् ।
बङ्गेष्वसृक्कर्दममेव पश्य दिग्दक्षिणा भाति सुलोहितेव ॥६४॥

स्पृष्टास्त्रिशूलेन विहायसीमाः सुलोहिता भान्ति दिशः समन्तात् ।
अभ्राणि ते रक्तमयानि भीमे विभान्ति युद्धेन सुदारुणेन ॥६५॥

सिन्धोस्तटेषूपलकर्कशेषु देवीमपश्यं युधि शेषितारीन् ।
निःशेषयन्तीमदयां सकोपां शिवां त्रिशूलेन शिवस्य शत्रून् ॥६६॥

खुरैः सुनिष्पिष्टमिदं सुरभ्या घोरं किमेवापि सुकृष्णवर्णम् ।
मांसस्य पिण्डं[3] ह्यवनौ निरीक्षे शेषोऽयमस्त्येव तवाहितानाम् ॥६७॥

---

१. नि० रू०—समन्यूनाम् ।
२. नि० रू०—कान्तयः ।
३. विकल्प—पश्याम्यवनौ हि पिण्डम् ।

भग्नानि तस्मिन्निचये विरूपे प्रनिःसरन्तीव शिरांसि कानि ।
पादाः कराश्चापि हि तत्र तत्र क्रूरासि रुद्राणि करालकृत्या ॥६८॥

क्रूरासि रुद्राण्यथवा जघन्ये क्रूरे प्रजापीडनरूढगर्वे ।
दयेव भूतेयमलं यदार्यं स्वर्गप्रदं मृत्युमवाप युद्धे ॥६९॥

एको गतासोरपि रुद्रशत्रोर्धत्ते करः पावकगर्भमस्त्रम् ।
प्लुष्टश्च चीर्णश्च तथापि दग्धानसून्भवान्यां क्षिपतीव दैत्यः ॥७०॥

स्रोतांसि पश्यामि महायुधास्यादुद्गीर्यमाणानि हुताशनस्य ।
धृष्टोऽपि सो[1] नालभते तु चण्डीं तिष्ठन्प्रभामण्डलमूर्तिमग्रे ॥७१॥

खड्गः प्रक्षिप्तस्तु विषाणमध्ये विष्टम्भयत्यन्तिमचेष्टितन्तत् ।
समाप्तमेतत्तव तर्कयामि महाव्रतं देवि विशालवीर्ये ॥७२॥

तुभ्यं नमो देवि विशालशक्त्यै भीमव्रते तारिणि कष्टसाध्ये ।
त्वं भारती राजसि भारतानां त्वमीश्वरी भासि चराचरस्य ॥७३॥

त्वमीश्वरी त्वं जननी प्रजानां कोऽन्यः प्रभुर्दानमिदं तवाढ्ये ।
स्वामित्वमैश्वर्यमनिन्द्यतेजो ददासि या सापि निहंसि रुष्टा ॥७४॥

नमो नमो वाहनमेतदार्ये हिमाभकान्तं मधुरायताक्षि ।
तल्लाङ्गुलाग्रेण सुकृष्णभासा ध्वजं करोतीव तवोच्छ्रितेन ॥७५॥

नमो नमो देवि तवालकाली रणश्रमेण प्रसभं विमुक्ता ।
उड्डीयमाना नभसीव मेघो वेणिच्युता भाति सुदीर्घवक्रा ॥७६॥

श्वेतानने विद्युदिवासि भूमौ रुषा प्रदीप्ते हि विलोचने ते ।
क्रीडन्त्यपाङ्गेषु करालहासाः शतह्रदेव स्तनयित्नुमध्ये ॥७७॥

द्रष्टुं रिपूंस्तान्पतितान्गतासून् ग्रीवेयमीषन्नमिता च शुक्ला ।
सजानुवर्यं चरणं भवान्याः स्तम्भो हिमस्येव विभाति शुभ्रम् ॥७८॥

शुक्लं प्रवातैरनिलोपमं ते संक्षोभितं भासुरतोयदाभम् ।
वातीव वासो रुचिराणि मध्ये भ्राजन्त अङ्गानि शशिप्रभेव ॥७९॥

उदीर्णफेनः पयसस्तरङ्गः क्षीराब्धिमध्ये स्तनमेकमेतत् ।
त्वं दुर्निरीक्ष्यासि यदङ्गकान्तेस्त्विषाक्षिरम्ब[2] प्रतिहन्यते मे ॥८०॥

सनातनी देवि शिवस्य पूर्वं वपुस्त्विदं धारयसे युवत्याः ।
तुभ्यं नमस्तुभ्यमनादिमातः सौम्या भवाम्ब प्रणतेषु भीमे ॥८१॥

---

१. नि० रू०—स ।

२. नि० रू० —अक्षि ।

उद्दिश्य भूमिं द्रुमराजिनीलां शैलान्तरालेषु महत्सु दृश्याम् ।
कारुण्यमय्याः प्रसृतः करस्ते ददासि रुद्राण्यभयं प्रजानाम् ॥८२॥

तत्संज्ञया ते करपल्लवस्य तमो विधूतं भुवि भारतानाम् ।
रक्तस्य मेघा नभसोऽपधूता अचिन्त्यवीर्यासि शुभासि सौम्या ॥८३॥

सौम्यं वपुस्ते हिमवर्णमार्यं सौम्यं भवान्या वदनं ह्युदारम् ।
शुक्लाम्बरां यौवनशुभ्रकान्तिं स्नेहार्द्रनेत्रां बलिनीं नमामि ॥८४॥
नरास्थिमाला नृकपालकाञ्ची क्व सा कराली [ ][1]
नग्ना च घोरा विवृतास्यभीमा यस्या विरावैः सहसोत्थितोऽस्मि ॥८५॥
रक्तस्य योऽयं वहतीह सिन्धुश्छाया शुभाया हसतीव तस्मिन् ।
खड्गं परिभ्रामयति स्तनन्ती नग्ना सुघोरा च नमामि कालीम् ॥८६॥

काली त्वमेवासि सुनिष्ठुरासि त्वमन्नपूर्णा सदया च सौम्या ।
नमामि रौद्रां भुवनान्तकर्त्रीं प्रेमाकुलामेव नमामि राधे ॥८७॥

अनन्तशक्त्यृद्धिमशेषमूर्तिं को वक्ष्यतीमां तव सर्वशक्ते ।
तेजस्त्वमेतद्बलिनां बलञ्च त्वं कोमलानामपि कोमलासि ॥८८॥

सौम्यामहन्त्वां द्विभुजां नमामि त्रिशूलिनीं त्वामभयं वहन्तीम् ।
त्वामम्ब सावित्रि शुभे त्रिनेत्रे शुक्लाङ्गवस्त्रां वृषरूढकान्तिम् ॥८९॥
दशायुधाढ्या दशदिक्ष्वगम्या पातासि मातर्दशबाहुरार्यान् ।
सहस्रहस्तैरुपगुह्य पुत्रानास्से जगद्योनिरचिन्त्यवीर्या ॥९०॥

प्रकाशयन्तीं गहनानि भासैर्भीमां ज्वलत्पर्वतमूर्तिमग्र्याम् ।
पश्यामि देवीं नगरेषु सौम्यां द्वारि स्थितामार्यभुवः सखड्गाम् ॥९१॥

कलिं दमित्वा जननी प्रजानां सत्त्वाधिका [ ][2]
स्वाधीनवृत्तीनि पुनश्चरन्ति पश्यामि तान्यागममार्गगाणि ॥९२॥

पुनः शृणोमीममरण्यभूमौ वेदस्य घोषं हृदयामृतोत्सम् ।
सुज्ञानिनामाश्रमगा मुनीनां कुल्येव पुंसां वहति प्रपूर्णा ॥९३॥

सनातनान् रक्षति धर्ममार्गान् पुनः सहस्रांशुकुलार्यजन्मा ।
लक्ष्मीः पुनः साप्यचला स्मितास्या समुज्ज्वला राजति भारतेषु ॥९४॥

पुरातनीं मातरमागमानामागच्छताञ्च स्तुवताञ्च भूमिम् ।
प्राच्यां प्रतीच्यां जगतोऽखिलस्य कोलाहलं वेगरवाञ्शृणोमि ॥९५॥

---

१. अपूर्णम् ।

२. अपूर्णम् ।

सद्धर्मगर्भेति महाव्रतेति स्तुवन्ति सौम्याश्च भयङ्कराश्च ।
देव्याः प्रियां भूमिमनादिशक्त्यास्तीर्थस्वरूपेण च पूजयन्ति ।।६६।।

शिवस्य काश्यां निवसन्ति ये के मुक्ताः शिवस्पर्शेन भवन्ति देव्याः ।
पादार्पणेनैव तु पावनेन सर्वार्यभूमिर्जगतोऽपि काशी ।।६७।।

प्रीतिर्दया धैर्यमदम्यशौर्यं श्रद्धा तितिक्षा विविधाश्च विद्याः ।
अनन्तरूपे त्वमसि प्रसीद चिरं वसार्ये हृदि भारतानाम् ।।६८।।

सिन्धून्हिमाद्रिंश्च सुसौम्यभासा प्रकाशयन्ती सुदृढप्रतिष्ठा ।
तिष्ठ प्रसन्ना चिरमार्यभूमौ महाप्रतापे जगतो हिताय ।।६९।।

□

भवानी भारती

सुख में डूबा हुआ
सो रहा था अपनी शैय्या पर जब मैं
घूम रहा था मन माधवी निकुंजों में
सोच रहा था कुल, कविता, कामिनी और
सुख भोग-सम्पदा के बारे में ।।१।।

पूजनीय माता के पावन चरणों में
मैं झूम-झूम कर गा-गा कर
बस बना रहा था ललित छंद श्रृङ्गार लिए,
और प्रिया के मंजुल मुख की स्तुति में मैंने गान किए ।।२।।

मेरे चारों ओर रो रही थी धरती
रौंद रहे थे दुष्ट असुर माँ के बेटों को,
मैं डूबा अपनी चिन्ता में
दबा रहा था पाँव दुष्ट के
जो मेरे ही सुहृत्-बान्धवों के लोहू से सने हुए थे ।।३।।

सुख से सोया था मैं कोमल शैय्या पर
सुख-सुविधा, धन के बारे में सोच रहा था,
भीषण हाथ लगा मेरे उर पर जैसे ही
भारत माँ थी प्रकट हुई चण्डी बन कर ।।४।।

अस्थिहार पहने थी वह, नरमुण्डों की मेखला कमर में
आँखें वृकोदरी सी उसकी, भूखी थी वह माँ, दरिद्र थी,
असुरों के आघातों से घावों के चिह्न पीठ पर थे,

श्री अरविन्द की संस्कृत रचना "**भवानी भारती**" का हिन्दी रूपान्तर, रचनाकाल—१९०४ से १९०८ के मध्य, मई १९०८ में इसे कलकत्ता पुलिस ने जब्त कर लिया था । प्रस्तुत रूपान्तर—**डा० मुरली धर कमलाकान्त**

सिंहिनी गरजती हुई
मार कर खा जाने को लगती थी ।।५।।

सकल भुवन को जला रही थी
क्रुद्ध, भूख से व्याकुल, अंगारों सी आँखें,
हुंकार उठी कटु स्वर में वह माँ
चीर रही थी हृदय देवताओं का भी ।।६।।

भर दिया भुवन को घोर पाशविक हुंकारों से,
अपने कराल हनु को वह चाट रही थी,
क्रूर, नग्न दर्शन थे ऐसे माँ के
ज्यों घने अँधेरे में हिंसातुर पशु की आँखें ।।७।।

आलोल केश से पर्वत-शिखरों को लपेट कर
दूर हटा सागर को दन्त प्रहारों से,
एक साँस से छिन्न-भिन्न कर दिया
नभो मण्डल को उसने,
पदन्यास से काँप उठी यह सारी धरती ।।८।।

नक्षत्रहीन थी रात, ज़ोर से चिल्लायी प्यासी माँ
—"उठो, उठो । दे डालो अब अपने को ।"
सुन हहा घोर यह गर्जन
भर गए सभी जन के मन,
यह रात अंधेरी गहरायी ।।९।।

डरा-डरा मैं, विचलित मन था
उठा तल्प से, पूछा तम से—कहो, कराली, कौन ?
रात में प्रगट हुई हो मेरे उर में,
बोलो, क्या मैं करूँ, भयंकरि ! तुम्हें नमन ।।१०।।

वन में घूम रहे हिंसातुर
क्रुद्ध सिंह सी गरज उठी वह,
और उचारे शब्द कराली ने वैसे ही
जैसे सागर जा टकराया किसी शिला से ।।११।।

बेटे ! मैं हूँ माता उस भारत की
जो रहा देवताओं का प्यारा और चिरन्तन

नहीं मिटाया जा सकता, दुर्दैव
काल या यम के हाथों जिसे कभी भी ।।१२।।

ब्रह्मचर्य्य से शुद्धवीर्य है जिनका
जो आर्य हुए हैं ज्ञान और श्रम के बल पर
वे चमक रहे हैं सौ-सौ सूरज जैसे
इस वसुन्धरा को जग मग जग उज्ज्वल कर ।।१३।।

शूरवीर हैं वे, प्रगल्भ हैं
रिपुओं की स्पर्धा को तिल भर नहीं सहेंगे,
शत्रुदमन कर पूजा करते हैं माँ की वे
और समर में जीत
रुधिर से सने हुए शोभा पाते हैं ।।१४।।

दीन, दरिद्र, घृणित ये पापी कौन ?
जो पाप-शान्ति को गले लगाते हैं ऐसे
अंधा गले लगाता है गणिका को जैसे,
रे कापुरुष ! कुबुद्धि !
मुदित तुम हुए मृत्यु को गले लगा कर ।।१५।।

क्लीब ! जियोगे कब तक ऐसे
वृथा प्रहारों को सह-सह कर
हँसते हैं ये शत्रु तुम्हारे
और खरीदे चले जा रहे धन शोषण,
अपमानराशि तुम चुप्प शान्ति से ।।१६।।

म्लेच्छ जनों का चरणामृत पी-पी कर
यह कौन गर्व कर रहा विप्र होने का,
तुम तो हो शूद्रों से आगे के अधम शूद्र
अब नरक मार्ग पर व्रत-उपासना क्या करते हो ? ।।१७।।

उठो-उठो रे जागो जागो,
यज्ञ हवन सब छोड़ो-छोड़ो
तुम तो हो प्रत्यक्ष तेज उस परम पुरुष के
उर में आग ज्वलित है एक चिरन्तन सबके,
आज दहन कर दो बैरी का, फिर निर्द्वन्द्व विहार करो ।।१८।।

महलों के भीतर छुप-छुप
राजन्य कौन यह भ्रू विलास, मदिरा में डूबा,
धर्म और यश भूल गया दुर्बल ! रे वंचक !
उठ, अब कर तू युद्ध
और रक्षा कर अपने धर्मों की ।।१९।।

लौह शिराओं में ही तेरी, प्रखर खड्ग तेरे हाथों
क्रूर शतघ्नी भी प्रमत्त समरांगण में हुंकार रही
तू निरस्त्र है कहाँ ? पड़ा है शव सा क्यों निष्प्राण
जाति बचा अपनी, दुश्मन को मिटा
और बन आर्य महान् ।।२०।।

और कौन तू वैश्य यहाँ पर ?
बाजारों में सजा रखा है यह धन कैसा ?
म्लेच्छ सम्पदा है यह तो, खल ! मातृद्रोही !
क्यों मुझ काली को कंगाल बनाता है ।।२१।।

आग लगा दे म्लेच्छ सम्पदा को तू
भयभीत नहीं क्या तू काली की क्रोध-अग्नि से ?
अन्तर में तू पूज भवानी माँ को
जन्मभूमि की लक्ष्मी के ही लिए यत्न कर ।।२२।।

ओ अवन्तिवासियों ! मगध के रहने वालों !
वंग-अंग में, ओ कलिंग में बसने वालों !
कौरव ! सैन्धव ! दक्षिण प्रदेश के लोगों !
सुन लो सब, ओ आन्ध्र और तंजौरवासियों !
ओ पंजाब देश में रहने वाले वीरों ! ।।२३।।

वे सब सुनें
सुनें वे सब जो पूजा करते हैं त्रिमूर्ति की
और यवन जो पूजा करते एकमूर्ति की
माँ मैं बुला रही, तुम सब मेरे बेटे
निद्रा त्यागो और सुनो जो कहती हूँ मैं ।।२४।।

अद्रिश्रृंग से सुनो काल की भेरी
रौद्र मृत्यु यह दूत बनी है मेरी

दुर्भिक्ष और भूकम्प देखते हो ये
बस, समझो, मैं आ गई काल की देवी ।।२५।।

हो शहीद मुझ पर बलि जाओ
मैं प्यासी हूँ, मुझे रक्त दो
देखो मेरी ओर, मुझे जानो
आदिशक्ति हूँ मैं, तुम मुझको पहचानो
घूम रही यह काली चारों ओर, गरज रही
राजन्यों के तन की भूखी, माँग रही मस्तक ।।२६।।

नहीं तृप्त मैं इन सैकड़ों, हज़ारों, अरबों
पशुबलियों की रक्तधार से,
हृदय भेदकर मुझे रुधिर दो,
पूजा होती है ऐसे ही सनातनी माता काली की ।।२७।।

देश पर कुर्बान होने को
राजन्य जो तैयार रहते हैं हमेशा
यह कराली सौम्य है उनके लिए
शत्रु का संहार करने को खड़ी है रुधिर पीकर ।।२८।।

आर्य ! कहो, डरते हो क्यों ?
इस रक्तसिन्धु में अवगाहन कर
आर्य सत्त्व बन कर दिखलाओ
देखो, देखो उस पार
दुर्धर्ष ज्योति का उदय हो रहा है त्रिशूल सा ।।२९।।

सुन । माँ के ये वचन विलासी कवि !
काली विकराली चण्डी की पूजा कर,
तू देखेगा निश्चय ही भारत माता को
जो घोर समर में ध्वंस कर रही होगी
अरियों के समूह का ।।३०।।

आह्वान कर भारत के उन वंशधरों का
जिनमें आग चिरन्तनता की सदा जल रही
तुम जीतोगे समर, डरो मत, उठो सुप्तसिंहों ! उठो
मैं जाग उठी हूँ, लो, कहाँ तुम्हारा धनुष कहाँ तलवार ।।३१।।

घनी रात में सुन-सुन कर ये बातें
और देख कर अंधेरे में भीषण तेज पुंज फैलता
नाच उठा मेरा मन, और उसी पल
झटक दिए सुख भोग, निकल आया घर से बाहर ।।३२।।

देखा मैंने—
घोर तिमिर में घिरा हुआ था अंधकारमय भारत
आर्य भूमि पर अंधकार की चादर सी फैली थी
रिपुओं के आघातों से क्षत-विक्षत भारत जननी को
घनी रात में फूट-फूट कर रोते देखा ।।३३।।

आँखें दौड़ीं अंधकार में दूर-दूर तक
अपने भाई और बन्धुओं को तलाशतीं
किन्तु मिले कंकाल शेष उनके शव
जो दीन-हीन से पड़े हुए पृथ्वी पर ।।३४।।

तभी दिखाई दिया एक असुराधिप
जिसके माथे पर था किरीट, हाथों में महावज्र
वह पाल रहा था अपने कुल को
माँ के खून चढ़े आँसू की धारा से ।।३५।।

एक चरण से दबा रखा था गत महिमा वाला हिमपर्वत,
आन्ध्र, पौण्ड्र को रौंद रहा था चरण दूसरा,
करवाल प्रखर वह बढ़ा रहा था
चीन और पह्लव देशों की ओर ।।३६।।

खल, विशाल, बलगर्वित उसको देखा
वह अधर्ममति सिखा रहा था पाठ धर्म का,
मेरा मन यह, अग्निकुण्ड सा होकर
जल उठा, सनातन क्रोध-अग्नि उपजा कर ।।३७।।

सोयी हुई सनातन मानवता को
लगी जगाने फिर से महिमा की देवी,
क्रूर गर्जना करती हुई चली आयी वह
मेरे पास गहन रजनी सी ।।३८।।

भीषण, कठोर उसकी आवाजें सुन कर
काँप उठी धरती, हिल गया समन्दर, गरज उठा आकाश
और भयावह क्रोध दृष्टि से उसकी
लगा दहकने यह सारा ब्रह्माण्ड
बरसने लगी आग हो जैसे ।।३९।।

गूँज उठे तीनों लोक
काली के उन्माद भरे आवाहन से,
शब्द अजस्र कण्ठ से उसके फूटे ऐसे
जैसे ज्वालामुखी, गर्भ में जिसके दारुण वह्नि बसी हो ।।४०।।

जड़-चेतन के तीव्र क्षोभ से
क्षुब्ध हुई सेना को मैंने देखा,
जो अभी स्वप्न से उठी हुई लगती थी
और रुद्र-आवेशित होकर चीख उठी—
अरे ! मार डालो इस अत्याचारी को ।।४१।।

माँ को रोता देख, देख उसके घावों को
बिजली-सी शत-शत-शत आँखें चमक उठी,
और सहस्र भयानक मुख वे मुड़े रोष से भर कर
उस भीम महादानव की ओर ।।४२।।

समरोत्सुक पुत्रों के सोते हुए कौन यह
आर्या माँ का रुधिर पी रहा असुर निशाचर ?
तू यम का आहार कौन रे नीच !
जो बलशाली होकर अबला का दमन कर रहा ।।४३।।

इस तरह रोष से ललकारा काली ने
अग्निगर्भ-धनु-शस्त्र उठाकर
झपट पड़ी चिल्लाती हुई उग्र वह
भयकारी रिपु के आगे-पीछे ।।४४।।

तीव्र क्रोध की ज्वालाओं से
धू-धू जलने लगी धरा यह, और गगन
त्राहि-त्राहि कर उठा जगत्

जब युद्धभूमि में गूँज उठी दुन्दुभियाँ
और हिनहिना उठे दानव के घोड़े ॥४५॥

नभ में खौल रहे थे बादल रंगे खून से
यहाँ धरा पर बरस रहा था रुधिर मूसलाधार
अद्रिसंघ उठ रहे रक्तसागर से,
वसुन्धरा यह रक्तमयी लगती थी ॥४६॥

देवानांप्रिय-भारतपुत्रों की सेना को
रौंद रहा था असुर भयंकर बलशाली वह अँधियारे में,
देवों का उन्मत्त शत्रु वह चिल्लाया अत्यंत गर्व से
—"कौन पुरुष मेरे समान विक्रम शाली ?" ॥४७॥

तभी गगन में मैंने देखा नन्हा सूरज
लाल उजाला फूट रहा था उसके तन से
चीर रहा था रश्मिशरों से अन्धकार को,
उस उगते सूरज को मैंने जी भर देखा ॥४८॥

ब्रह्म को देखा तब मैंने मेघरूप में
जो भविष्य के उज्ज्वल मुखमंडल से दमक रहे थे,
थी हज़ार आँखें उनकी
जो आतुर थी पाने को माँ से अभयदान ॥४९॥

तभी दूऽऽर उत्तर दिशि में
वह शुभ्र ज्योति-सी उठी सौम्य तन्वंगी,
अरि-विनाशिनी, रम्य तेज-बल की देवी
जैसे द्विकोटि भास्वर सूरज ही चमक रहे हों ॥५०॥

ज्योतिर्मय लोकों में स्तुति के गीत मुदित देवों ने गाये,
अन्तरिक्ष में पंछी गाने लगे मधुर मधुगान,
धरती पर जन-जन ने गाये नम्र भाव से गीत उसी के,
दिव्य ज्योति जब आई इस जगती का दुःख दूर करने को ॥५१॥

हिमशिखरों पर जो हिम ही हो गए
ध्यान में बैठे हुए अनेकों युग से,
वे भारत के प्रहरी, धीर, महायोगी
मुद्रित हुए, माता का करने लगे स्तवन ॥५२॥

युगों-युगों से संचित हिम को दूर हटाकर ज्ञान चक्षु से
भीमकान्ति-देवी-बलिनी के गाये गीत
महाप्रतापी ध्यानावस्थित उन धीरों ने ।।५३।।

ओ विशालशक्ति ! देवि ! तुम्हें प्रणाम ।
ओ महिमामयी करुणामयी बलशालिनी !
हो तुम ही हे देवि ! सबकी तारिणी
ओ आदिदेवि ! प्रणाम, ओ ऊर्जस्विनी ।।५४।।

कौन समर्थ ? करे जो तेरे बल का वर्णन
ओ प्रचण्डद्युति ! तेरे ही करपल्लव में है
सूर्य और तारों की गति-अपगति,
ओ अनन्तवीर्ये ! तेरे इंगित पर ही है
स्थिति और सर्जना निखिल विश्व की ।।५५।।

चीत्कार उठते शृगाल
जब महासमर में नाच रही होती हो तुम,
हे घोर चण्डि ! त्रिशूलधारिणि !
धूभर लेती हो जब तुम अस्त्रों को
काँप-काँप जाते हैं तारे अनगिन, नभ में ।।५६।।

रोती जनता, और दया से भर आता है चित्त तुम्हारा,
आततायियों के मस्तक तुम कुचल-कुचल देती हो,
रहता है तेरे त्रिशूल में भुवनभक्षी
रौद्ररूप वह मृत्युराज किंकर है तेरा ।।५७।।

क्रुद्ध हुई उस कोटि-कोटि जनता की
तुम प्रबुद्ध-सर्वोच्च शक्ति हो माता
तुम ही एक किनारा विपदाग्रस्त हुए उन आर्य जनों का,
युग-युग की तू समरतारिणी माता ।।५८।।

देख रहा हूँ अभी-अभी मैं उत्तर के पर्वतशिखरों पर
दीप्तिमान-वपु-धवल तुम्हारा,
दमक रही हो, हे ज्योतिर्मयि ! हे सुभगे ! तुम
अपनी द्युति से सकल भुवन को जग-मग-जग कर ।।५९।।

उन्मत्त धेनु पर समारूढ़ तुम देवी
मनमोहक छबि ले विचर रही हो समरांगण में,
असुरों के दल गिर-गिर पड़ते तेरे चारों ओर
ज्यों समूल ही गिरी जा रही शैल शिखाएँ ।।६०।।

उजली-उजली धेनु धवल हिम की ढेरी सी
विचर रही है इधर-उधरी बिजली सी,
वर्तुल-श्यामल-शृंगा, देवों की अति प्यारी
है यह आर्या भारत भुवि जो
धेनुरूप में किए जा रही रिपुसंहार ।।६१।।

हुए अचानक ही विवर्णमुख भय से
दानव दल, जीत चुके थे जो देवों को
निस्तेज भागते चले जा रहे थे वे नीचे
जैसे पर्वत से निर्झर कोलाहल करते हुए वेग से ।।६२।।

सुन रहा पंजाब में तेरे स्वरों को
सुन रहा जयगान जन-जन से, भवानी !
सुन रहा हूँ और भी ऊँचे स्वरों में
ओ भयंकरि ! रिपुहनन की यह कहानी ।।६३।।

श्रीकृष्ण की प्यारी यमुना कल-कल करती
हुई रक्त से लाल, नील छबि को बिसरा कर,
देखो-बंगभूमि में कीचड़ हुआ रक्त का,
दक्षिण की यह दिशा लग रही कैसी
लाल-लाल लोहू से रंगी हुई हो जैसे ।।६४।।

तब त्रिशूल से छूकर नभ में लाल-लाल हो उठी दिशाएँ
और बादलों ने भी पायी लाली
जब किया भवानी ! तूने यह दारुण संग्राम ।।६५।।

पाषाणों के बीच सिन्धु के तट पर
देखा मैंने देवी का संग्राम
और वध होते हुए शेष असुरों का,
क्रोधानल से भरी, दया को छोड़ शिवा वह
मिटा रही थी शिव के रिपुओं को त्रिशूल से ।।६६।।

स्वर्गधेनु के खुरन्यास से
कुचली पड़ी हुई क्या है यह अंधकार सी गहन कालिमा,
देख रहा हूँ—यह तो माँस-पिण्ड धरती पर
अब तेरे पापी रिपुओं का शेष यही है ।।६७।।

किन-किन के नरमुण्ड भग्न ये
झांक रहे हैं इस विरूप वध की लीला में,
इधर पाँव हैं, उधर किसी के हाथ पड़े हैं
इस विभीषिका में तुम कितनी क्रूर हुई हो माँ रुद्राणि ।।६८।।

क्रूर है तू, या दया दिखला रही माँ !
दुष्ट, हत्यारे, प्रजा के त्रासदायक, गर्व से उन्मत्त असुरों पर,
तव दया से समर में वे मृत्यु पावें
क्यों न फिर वे स्वर्गपथ की ओर जावें ।।६९।।

रुद्रशत्रु निष्प्राण हुआ था फिर भी
अपने क्षत-विक्षत जले हुए हाथों में
वह लिए हुए था अस्त्र एक विस्फोटक
फेंक रहा मानो देवी पर, दग्ध प्राण ही जैसे अपने ।।७०।।

देख रहा हूँ —महा अस्त्र के मुख से उठी आग की लपटें,
खड़ा हुआ है धृष्ट असुर चण्डी के आगे,
किन्तु नहीं छू सका दिव्य आभा मण्डल को ।।७१।।

अन्तिम यत्न हुआ अवरुद्ध असुर का
देवी ने जब, शृङ्गों के बीच खड्ग दे मारा,
ओ विशालवीर्ये ! लगता है मुझको
बस, अब हो ही गया महाव्रत पूर्ण तुम्हारा ।।७२।।

ओ विशालशक्ति ! देवि ! तुम्हें प्रणाम ।
ओ कष्ट साध्ये ! घोर व्रतिनी ! तारिणी !
भारती ! भारतजनों की माँ भवानी
शोभिनी, चल-अचल जग की धारिणी ।।७३।।

तू देवी, तू जन-जन की माँ
प्रभुता, शुद्ध तेज, सुख-वरदायिनी माँ,

कौन जग में और ? ऐसा दे हमें वर,
दायिनी तू, क्रुद्धरूप, विनाशिनी माँ ।।७४।।

जय हो माँ ! तेरी जय-जय हो,
मधु-विशाल-लोचने देवि ! तेरी जय हो,
हिम सा शुभ्र, मनोरम तेरा वाहन यह
पूँछ उठा कर, उसके श्यामल अग्रभाग को
फहरा रहा, ध्वजा हो जैसे ।।७५।।

घोर युद्ध में वेणीबन्ध खुला तेरा
बिखरे केश तुम्हारे, इतने बल से
उड़ने लगे व्योम में, लम्बे-घुँघराले
उमड़-घुमड़ छा रहे मेघ हों जैसे ।
ओ माँ ! तेरी जय हो । जय हो ।।७६।।

शुभ्रानने ! भूमि पर तुम विद्युत सी हो,
चमक रही है आँखें तेरी तीव्र रोष से,
खेल रहा तेरी आँखों में अट्टहास
घने बादलों में ज्यों खेल रही हो बिजली ।।७७।।

मरे पड़े रिपुओं पर आँखें टिकी हुई
ग्रीवा शुभ्र तुम्हारी थोड़ी झुकी हुई
और भवानी ! चरण शुभ्र आजानु तुम्हारे
उनमें हिमस्तम्भों की द्युति सी जगी हुई ।।७८।।

ज्योतिर्मय घन और पवन सा, धवल वसन
उन्मुक्त समीरण में लहराया,
और वसन के बीच-बीच में झाँक उठी
चन्द्रप्रभा सी उज्ज्वल मंजुल तेरी काया ।।७९।।

और पयोधर तेरा ऐसा है माँ !
जैसे क्षीर समुद्र
और उसमें उठती फेनिल लहरें हों धवल दुग्ध की,
दर्शन तेरा बड़ा कठिन माँ !
दृष्टि पराजित हुई
तुम्हारे अंग-अंग से फूट रही द्युति के आगे ।।८०।।

देवि ! सनातनि ! तुम्हें नमन ।
तुमने धारण किया यह युवती-वदन ।
जग में शिव से भी पहले तेरा चरण ।
ओ अनादि माँ भीमे ! तुम्हें नमन ।
शरणागत जन के हित कोमल बन ।।८१।।

ओ करुणामयि ! दीख रही तुम
विटप यूथ से श्यामल
गिरि शिखरों के विस्तृत अन्तराल में,
और तुम्हारा हाथ भूमि को लक्षित, फैला हुआ
ओ रुद्राणि ! अभयदान दे रही प्रजा को ।।८२।।

तेरे कर पल्लव के एक इशारे से
भारत की धरती का दूर हुआ अन्धियारा
और लहू के बादल भी छँट गए गगन से
शुभे ! प्रसन्ने ! शक्ति कल्पनातीत तुम्हारी ।।८३।।

सौम्य अंग तेरे, हिमवर्ण सदृश तुम आर्या
उल्लास भरा तेरा मुख मण्डल है उदार
शुक्ल वस्त्र पहने, यौवन की शुभ्रकान्ति से दीपित
स्नेह भरी आँखों वाली बलशालिनी माँ भवानी !
नमामि ।।८४।।

कहाँ ? कहाँ अन्तर्हित ही हो गई कराली
अस्थिहार पहने थी जो, नरमुण्डों की मेखला कमर में,
नग्न, भयंकर थी जो भीमा खुले-खुले मुख वाली,
उठ बैठा हूँ मैं उसके ही मक्षाघोष पर ।।८५।।

यह जो नदी सी बह रही है रक्त की
उसमें बसी हँसती हुई सी एक छाया
असि घुमाती, गरजती चण्डी विवसना
माँ महाकाली ! तुम्हें मेरा नमन ।।८६।।

तुम ही काली, कितनी निष्ठुर हो तुम
तुम्हीं अन्नपूर्णा, सदया सरला हो,
हे भुवनान्तकारिणी ! रुद्रभवानी !
प्रेमविह्वले राधे ! मेरा तुम्हें नमन ।।८७।।

तू ही है यह तेज और तू ही है बलवानों का बल,
तू कोमल से कोमलतर है, सर्वशक्ति तू
कौन करे तेरे अनन्त बल का वर्णन
जो प्रकट हुआ है विपुल, ऋद्धि से आपूरित ।।८८।।

प्रसन्नवदने ! द्विभुजे ! तुम्हें प्रणाम ।
ओ त्रिशूलिनी ! अभयदायिनी ! तुम्हें प्रणाम ।
सावित्री तुम, माँ कल्याणी ! त्रिलोचना !
शुभ्रांगी, शुक्लाम्बरा वृषवाहना ।।८६।।

दस आयुध तू धारण किए हुए माँ !
दुर्लभ है तू दसों दिशाओं में भी,
आर्य जनों की रक्षा में रत दसों भुजाएँ,
हैं पुत्रों पर तेरे अगणित वरद हस्त,
हे अकूत बलशालिनि ! माता जगत्-योनि ।।६०।।

घने अन्धेरे में फैलाती हुई उजाला,
जलते पर्वत सी तेरी भीषण काया
देख रहा हूँ, शस्त्र हाथ में लिए खड़ी है देवी सरला
आर्यभूमि के नगर-नगर, द्वारे-द्वारे ।।६१।।

कलि का हुआ दमन तेरे हाथों जन-जननी !
स्वाधीनवृत्ति से चलने लगे यहाँ के लोग,
वेदमार्ग पर, देख रहा मैं ।।६२।।

वैदिक मंत्रों के स्वर गूँज रहे फिर
वन प्रान्तों में ये दिए सुनाई मुझको
वे ही स्वर हैं हिय का अमृत निर्झर,
यह जनसरिता है वही जा रही, देखो
मुनिजन के गुरुतर ज्ञानपूर्ण श्रमपथ पर ।।६३।।

सूर्यवंश में जन्म लिया है जिन आर्यों ने
वे चल रहे सनातन धर्ममार्ग पर फिर से,
स्मित मुख, उज्ज्वल-उज्ज्वल लक्ष्मी अचला
भारत भूवि पर राज रही है फिर से !।६४।।

इसी पुरातन मातृभूमि के पथ पर चला आ रहा भारत,
मातृवन्दना, स्तवनगीत, यह गाता चला आ रहा भारत,
पूरव-पश्चिम में कोलाहल निखिल विश्व का
सुना—मातृचरणों में चला आ रहा भारत ॥६५॥

सत्यधर्मधारिणी ! महाव्रतचारिणी ! तेरी वन्दना,
सरला, विकराला, अनादि देवीनां प्रिय धरणी ! वन्दना,
शक्तिशालिनी, तीर्थरूपिणी ! तेरी वन्दना ॥६६॥

जो जन रहते हैं शिव की काशी में
हो जाते हैं मुक्त, स्पर्श से जैसे शिव के,
देवी के पावन पादार्पण से ही वैसे
आर्य भूमि यह जग की काशी बन जाएगी ॥६७॥

प्रीति, दया तू, धैर्य, अदम्य शौर्य, श्रद्धा तू
तू ही क्षमा, विविध विद्या तू
ओ अनन्तरूपा ! प्रसन्न हो
भारत के जन मन में तेरा चिर निवास हो ॥६८॥

सिन्धु, हिमालय को अपने
कोमल प्रकाश से जग मग कर दे,
अजर-अमर चिरकीर्त्तिशालिनी !
महिमामयी प्रतापिनी !
जग के हित में आर्य भूमि पर
चिरनिवास कर मंगल वर दे,
जय भारती भवानी ॥६९॥

□